कादम्बरी
का
काव्य-शास्त्रीय
अध्ययन
राजेश्वरी भट्ट

श्रीमद्भ्यो विद्वद्धौरेयेभ्यो
डॉ० सत्यव्रत शास्त्रि महाभागेभ्यः
सादरं सप्रश्रयञ्चोपायनीक्रियते
कृतिरियम्

कादम्बरी का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन

डॉ० (श्री०) राजेश्वरी भट्ट
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
लाल बहादुर शास्त्री महाविद्यालय
जयपुर

पब्लिकेशन स्कीम जयपुर, भारत
प्रकाशक एवं विक्रेता
57, मिश्रराजाजी का रास्ता जयपुर
फोन-44105

प्राक्कथन

प्रस्तुत प्रबन्ध का शीर्षक है–'कादम्बरी का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन'। कादम्बरी में परिनिष्ठित काव्य-शास्त्र के उपकरणों के विस्तृत अध्ययन को प्रकृत-प्रबन्ध की सीमा में आबद्ध किया गया है। यह सत्य है कि कादम्बरी जैसे विशाल एवं प्रौढ़ गद्य-काव्य के अध्ययन-हेतु पूर्ववर्ती गद्य-साहित्य एवं उसके विविध तत्त्वों, स्वरूप-निर्देशों एवं विभिन्न प्रकारों का अध्ययन नितान्त उपेक्षित है। क्योंकि कादम्बरी जैसे उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थ का अध्ययन गद्य-साहित्य की पृष्ठ भूमि के अध्ययन के बिना सर्वथा अपूर्ण रहेगा। यही कारण है कि गद्य-साहित्य एवं काव्य-शास्त्र का विशिष्ट दृष्टियों से अध्ययन मुख्य विषय के साथ समवाय रूप से सम्बन्धित है। काव्य-शास्त्र का स्वरूप, ऐतिहासिक परम्परा, परिभाषा, एवं उसके विभिन्न सम्प्रदायों के अध्ययन के बिना उस पर आधारित यह प्रबन्ध सर्वाङ्गपूर्ण नहीं बन सकेगा। इस दृष्टि से काव्य-शास्त्र के तात्त्विक विवेचनों को भी इस प्रबन्ध का अंङ्ग बनाया गया है।

काव्य-शास्त्रीय अध्ययन से यहां तात्पर्य है उक्त गद्य ग्रन्थ का शास्त्रीय दृष्टि से काव्य-शास्त्र सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत करना।

आमुख में संस्कृत-गद्य-काव्य का स्वरूप-निर्देश, उनकी सैद्धान्तिक परिभाषा उद्भव एवं विकास की गतिविधियों का पृष्ठभूमि के रूप में उल्लेख किया गया है। कादम्बरी गद्य-काव्य का सामान्य परिचय तथा उसकी कथा और कर्तृत्व का विवेचन प्रस्तुत करने के साथ ही कवि और काव्य, काव्य-शास्त्र के स्वरूप एवं उसके रूप-वैविध्य को प्रस्तुत करना भी अपेक्षित रहा है। काव्य शास्त्र के क्रमिक विकास का विवरण प्रस्तुत करने के साथ ही उसका वर्गीकरण करके उसके विभिन्न सम्प्रदायों का यहाँ विवेचन किया गया है।

विवेच्य विषय---

प्रथम परिच्छेद में कादम्बरी के रचयिता के वंश का परिचय देते हुए उसके वंश की पौराणिक उत्पत्ति का वर्णन समीक्षात्मक ढंग से किया गया है। सरस्वती से सारस्वत प्रवाह के समान बाण के वंश में ज्ञान का प्रवाह परम्परा गत उपलब्ध हुआ था। बाण के जन्म-स्थान के विषय में विविध तथ्यों का, यहाँ, अध्ययन कर उसे स्थिर करने का प्रयास किया गया है। बाण के समय और उसके ज्ञान-गौरव के विषय में तथ्य-पूर्ण विवेचन प्रस्तुत कर उसमें उपर्युक्त साक्ष्यों का विवेचन किया गया है।

कथा और आख्यायिका के विषय, स्वरूप एवं शास्त्रीय परिभाषा की समीक्षा करते हुए कादम्बरी के कथा तत्त्व पर समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। विशेषत: कादम्बरी कथा के स्रोत, उसका प्रस्तुत कथा से साम्य एवं वैषम्य प्रदर्शित करते हुए कथा में किये गये परिवर्तनों के औचित्य का समीक्षात्मक विवरण दिया गया है। यह सब कादम्बरी एवं उसके लेखक के सम्बन्ध में विद्वद्वर्ग के समक्ष सर्वाङ्गपूर्ण चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास मात्र है।

द्वितीय परिच्छेद में कादम्बरी की भाषा का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करने की दिशा में एक प्रयत्न किया है। कादम्बरी की भाषा की विविधता, तथा उसमें वर्णनों की विभिन्नता एवं विषयों की बहुलता का सजीव चित्र उपस्थित कर बाण भट्ट की प्रतिभा का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। कवि की प्रौढता, प्रगल्भता तथा उसके वर्णनों में कुतूहलमयता एवं रोचकता के कुछ संकेत उपलब्ध करा कर विद्वानों के समक्ष कादम्बरी का भाषात्मक विवेचन किया गया है। भाषा के अर्थ-बोध के उपकरण के रूप में शब्द शक्तियों का सूक्ष्मपरीक्षण करते हुए अभिधा एवं लक्षणा के स्वरूप, परिभाषा एवं भेदोप-भेदों का निरूपण कर उनका कादम्बरी के साथ सामञ्जस्य प्रस्तुत किया गया है। इन शक्तियों की पृष्ठ भूमि में कादम्बरी की भाषा पर पूर्ण विचार किया गया है। भाषा के ही साथ गद्य-काव्य की शैलियों का अध्ययन करते हुए उनके वर्गीकरण का प्रयास किया गया है। कादम्बरी की शैली का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत करने की दिशा में प्रयत्न किया गया है। कादम्बरी की शैली में प्रौढता, परिपक्वता एवं भावानुकूल भाषा के प्रयोग का भी विवेचन किया गया है। उपमा, श्लेष, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि अलंकारों का प्रयोग शैली की शोभा में चार चाँद लगा रहा है। शैली में शास्त्रीय एवं अनुभवजन्य ज्ञान का उपयोग एवं संक्षिप्त बाक्यावली का प्रयोग करके भावों का द्रुत एवं प्रकृष्ट उन्मेष कराया है। राजवैभव के वर्णन में शैली जटिल है परन्तु उपदेशात्मक शैली का रूप अपेक्षाकृत सरल हुआ है। प्राकृतिक भव्यता के चित्रण में शैली अलंकृत होने के साथ-साथ विपुल एवं दीर्घकाय समासों से ओतप्रोत, प्रगाढ, क्लिष्ट एव विशिष्ट हुई है। बाण की अजस्र शब्द राशि, सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, मौलिक अर्थों की उद्भावना एवं अलंकृत वर्णन प्रणाली का गहन गवेषणा के साथ अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में गद्य काव्य की शैलियों के परिप्रेक्ष्य में कादम्बरी की शैलियों का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है।

तृतीय परिच्छेद कादम्बरी के रस विवेचन पर आधारित है। रस की शास्त्रीय परिभाषा देते हुए काव्य में उसका स्थान स्थिर किया गया है। रस

को काव्य की आत्मा मानने के आधार का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए रस की विविध परिभाषाओं का विवेचनात्मक विवरण प्रस्तुत करके सिद्धान्त मत की स्थापना की गयी है। कादम्बरी के अंङ्गीरस का अध्ययन कर उसके स्वरूप, परिभाषा, तथा उसके उपकरण विभावादि पर विस्तृत विवेचन किया गया है। कादम्बरी और चन्द्रापीड, पुण्डरीक एवं महाश्वेता, महाश्वेता एवं कादम्बरी, पत्रलेखा एवं चन्द्रापीड आदि के प्रेम का परीक्षण किया गया है। विप्रलम्भ-शृङ्गार की चरम परिणति कादम्बरी की अपनी विशेषता है। यथार्थ प्रणय सत्य के समान चिरन्तन तथा काल की परिधि से अस्पृश्य बताया गया है। आलम्बन एवं उद्दीपनों का विवेचन करते हुए कादम्बरी में विप्रलम्भ शृंगार की चरम परिणति का विवरण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही ध्वनि का आलोचनात्मक निरूपण कर उसको कादम्बरी में निरूपित किया गया है। व्यज्जना का स्वरूप, परिभाषा तथा भेदोपभेदों का भी अध्ययन करना यहाँ लक्ष्य रहा हैं।

विप्रलम्भ के पूर्वराग, प्रवास, मान, करुण आदि भेदों का भी कादम्बरी के परिपार्श्व में अध्ययन किया गया है। साथ ही कादम्बरी में यथा स्थान आये हुए अन्य रसों को भी उनके शास्त्रीय विवेचन के साथ प्रबन्ध की सीमा में ग्रहण किया है। परिच्छेद के अन्त में कादम्बरी में परिलक्षित सभी रसों का आलोचनात्मक प्रस्तुतीकरण कर कादम्बरी की रस की दृष्टि से आलोचना प्रस्तुत की गयी है।

चतुर्थ परिच्छेद में रीति की शाब्दिक परिभाषा करते हुए उसके व्यावहारिक पक्ष का भी अध्ययन किया गया है। रीति का स्वरूप, विभिन्न आचार्यों के द्वारा दिये गये लक्षण तथा रीति के आधार आदि का विस्तृत अध्ययन किया गया है। रीति को गुण के आश्रित मानकर रीति और गुण का सम्बन्ध निर्धारण किया गया है। रीति को रसाभिव्यक्ति का साधन मानकर रीति और रस के परस्पर सम्बन्ध का परीक्षण किया गया है। साथ ही कादम्बरी में रीति के उपयोग पर भी युक्ति-युक्त तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। गौडी एवं पांचाली रीतियों का अध्ययन कादम्बरी को आधार मान कर किया गया है।

पंचम परिच्छेद कादम्बरी में उपलब्ध गुणों के विवेचन पर आधारित है। गुण का स्वरूप-विवेचन कर उसकी शास्त्रीय परिभाषा देते हुए गुणों और अलंकारों के साम्य और वैषम्य पर विस्तृत विवेचन यहां प्रस्तुत किया गया है।

गुण और अलंकारों की विभिन्नता पर भेदवादी एवं अभेदवादी आचार्यों के मतों का विवेचन कर गुणों को नित्य एवं अपरिहार्य मानकर उनका रस के

साथ सम्बन्ध स्थिर किया गया है। गुणों के वर्गीकरण तथा भेदों पर विविध मतों की आलोचना करते हुए सिद्धान्त मत की स्थापना की गयी है। कादम्बरी के माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणों का अध्ययन किया जाना प्रमुख लक्ष्य रहा है। ओज गुण ही कादम्बरी का मुख्य आधार रहा है। ओज गुण को गद्य का जीवन माना गया है। अन्त में गुणों के विविध मतों का समीक्षण करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं।

षष्ठ परिच्छेद में दोषों का कादम्बरी के परिपार्श्व में अध्ययन किया गया है। मुख्यार्थ के अपकर्षक दोषों से रहित काव्य की उत्तमता का विवेचन कर विविध आचार्यों के द्वारा दी गयी दोष की परिभाषाओं पर आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। दोषों के भेद तथा उनकी संख्या को अध्ययन की सीमा में आबद्ध कर कादम्बरी में आये हुए दोषों का समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है।

साथ ही पाश्चात्य आलोचकों के विचारों का भी मूल्यांकन किया गया है।

सप्तम परिच्छेद कादम्बरी में उपलब्ध अलंकारों पर आश्रित है। अलंकार के स्वरूप एवं लक्षणों का अध्ययन करते हुए काव्य शास्त्र के अलंकार सम्प्रदाय के इतिहास का काल क्रम से विवरण दिया गया है। यद्यपि क्रम-व्यत्यय को अवसर नहीं दिया गया है तथापि डॉ. पी. वी. काणे जैसे विद्वानों के आचार्य-क्रम को आधार मानकर अलंकार लक्षणों को सर्वथा नवीन दृष्टि से देखा गया है। भरत को सर्व प्रथम रखने का कारण बहुविद्वत्सम्मति है। मूलतः चार अलंकार उपमा, रूपक, दीपक और यमक-किस प्रकार से विकसित होते गये तथा ये शतशः भेदोपभेदो में बढकर संख्यातीत हो गये। कादम्बरी अलंकारों का वृहद्भाण्डागार है, जिसमें प्रायः सभी अलंकारों का प्रयोग अनायास ही हो गया है परिच्छेद के अन्त में कादम्बरी को आधार मानकर उसकी पृष्ठ-भूमि में अलंकारों का विवेचनात्मक अध्ययन करते हुए कादम्बरी के वैशिष्ट्य को यहां प्रस्तुत किया गया है।

अष्टम परिच्छेद कादम्बरी में निरूपित प्रकृति-चित्रण पर आधारित है। कादम्बरी में चित्रित प्रकृति वर्णन अत्यन्त अद्भुत एवं अपूर्व है। काव्य में प्रकृति की सूक्ष्मनिरीक्षण शक्ति की प्रचुरता तथा कल्पना शक्ति की प्रौढता के स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं। सन्ध्या। वर्णन, अच्छोद सरोवर विन्ध्याटवी वर्णन, जाबालि आश्रम के दृश्य एवं हिमगिरि के रम्य वर्णन के आधार पर लेखक की प्रकृति चित्रण चातुरी का समीक्षण एवं मूल्याङ्कन करना यहाँ प्रबन्ध

का विषय है । बाह्य प्रकृति एवं अन्तः प्रकृति के सामञ्जस्य पूर्ण सम्बन्ध का अध्ययन करते हुए मानव मनोभावों के प्रकृति पर आरोप का भी अध्ययन करना प्रबन्ध का विषय है ।

उपसंहार के रूप में संस्कृत साहित्य में कादम्बरी के स्थान को निर्धारित करना यहाँ प्रबन्ध कर्त्री का लक्ष्य रहा है । पूर्व अध्यायों में निर्दिष्ट सामग्री का मूल्याङ्कन भी प्रस्तुत किया गया है । साथ ही कादम्बरी में जीवन दर्शन तथा उसका सन्देश अध्ययन का विषय रहा है । निष्कर्ष के रूप में अपनी मान्यताओं को भी यहां प्रस्तुत किया गया है ।

मैं अपने प्रयास में कहां तक सफल रही हूँ तथा प्रस्तुत ग्रन्थ ज्ञान के क्षेत्र की अभिवृद्धि में कितना योगदान करेगा, इसका निर्णय विज्ञ विद्वज्जन ही करेंगे ।

राजेश्वरी भट्ट

समर्पण

जिनकी सत्प्रेरणा एवं स्नेह सम्वलित आशिष ने
इस ज्ञान यज्ञ की पूर्णता एवं समग्रता में
मेरा मार्ग प्रशस्त किया

उनकोश्रद्धापूर्वक
समर्पित

राजेश्वरी भट्ट

आशंसनम्

एक प्राचीन उक्ति के अनुसार गद्य कवियों की कसौटी है–गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति। जिस प्रकार कसौटी के द्वारा सोने की परीक्षा होती है उसी प्रकार गद्य के द्वारा कवियों के कवित्व की। जो गद्य में काव्यात्मकता ला दे, उसके द्वारा भी रसानुभूति करादे वह कवि वस्तुतः उत्तम कवि है। पद्य में छन्द आदि के कारण स्वयं में लयात्मकता होती है। अक्षरों और मात्राओं के अलग-अलग प्रकार के संयोजन से स्वर लहरियाँ उसमें समाहित रहती है पर गद्य में तो उसके उत्पन्न करने में विशेष प्रयास की आवश्यकता होती है। इसी कारण गद्य को सामान्यतः नीरस माना गया है। अंग्रेजी का 'प्रोजेक' शब्द भी इसी तथ्य को इङ्गित करता है। इसका प्रयोग नीरस, काव्यशोभाहीन, सामान्य इन अर्थों में किया जाता है। उक्त इस शब्द का उद्भव 'प्रोज' शब्द से ही है। अक्षरार्थ इसका है–जो प्रोज काव्य की तरह हो। क्योंकि गद्य नीरस होता ही है और किसी प्रकार की विशिष्टता की उसमें आशा की नहीं जाती इसलिये इसका लाक्षणिक अर्थ हो जाता है नीरस अथवा सामान्य अथवा काव्य सौन्दर्य विहीन। जो इस 'प्रोज' गद्य में रस भरदे, उसे पद्य से भी अधिक आकर्षक बनादे वह निश्चित ही सामान्य कवि नहीं हो सकता।

उन कवियों की भारत में सुदीर्घ परम्परा रही है। उस परम्परा में भी कनिष्ठिकाधिष्ठित बाणभट्ट ही रहे हैं। उन की दो कृतियाँ-हर्षचरित और कादम्बरी में मूर्धन्य स्थान कादम्बरी को ही प्राप्त है। कादम्बरी वह कादम्बरी (= सुरा) है, जिसके सेवन से व्यक्ति अपना होश हवास गँवा बैठता है–कादम्बरी रस भरेण समस्त एव मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्। होश हवास भी इस कदर गँवा बैठता है कि उसे खाने-पीने तक में भी रुचि नहीं रहती "कादम्बरी रसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते"। वह रस में डूबता चला जाता है, आत्म विस्मृत सा, अपने में खोया सा।

क्या विशेषता है उस कादम्बरी की–यह गहन अनुसन्धान का विषय है। बाणभट्ट का कोई समान धर्मा ही यह अनुसन्धान कर सकता था। पर समान धर्मा तो हर समय और हर स्थान पर उपलब्ध नहीं होते। उनकी तो 'कोऽपि' की स्थिति होती है। उन विरलों में है 'कादम्बरी का काव्यशास्त्रीय अध्ययन' शीर्षक प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की यशस्विनी लेखिका डॉ. राजेश्वरी भट्ट, जिन्होंने इदम्प्रथमतया कादम्बरी का सर्वाङ्गीण काव्यशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत

कर विद्वत्समाज का महान् उपकार किया है। पाश्चात्य समीक्षकों के अनुसार कादम्बरी एक जंगल है, जिसमें सुदीर्घ समास और अप्रसिद्ध पदों के रूप में अनेक हिंस्र पशुओं का वास है। डॉ. राजेश्वरी भट्ट का अदम्य साहस है कि वे इस जंगल में निर्भीकता से प्रवेश कर गईं और हिंस्र पशुओं की परवाह न कर उसे पूरी तरह छान डाला। जंगल की कंटीली झाड़ियों के साथ-साथ उन्होंने उनके महकते पुष्पों भी देखा, वन्य पशुओं की भयावह चीत्कार के साथ उन्होंने पक्षियों के मधुर कलरव को भी सुना, नुकीले पत्थरों के साथ-साथ अविरल गति से बहते झरनों को भी साक्षात् किया। उनकी कृति में कादम्बरी प्रतिबिम्बित हो उठी। उसके हर अंश को उन्होंने झाँक कर देख लिया। वृत्तियाँ, रस, अलङ्कार, प्रकृति चित्रण–इन सब की उन्होंने विस्तृत समीक्षा की। कादम्बरी किन-किन तत्त्वों से बनी थी-यह सब इससे स्पष्ट हो गया।

डॉ. राजेश्वरी भट्ट इस अनुपम कृति के लिये साधुवाद की पात्र हैं और हार्दिक अभिनन्दन की। वाण भट्ट के अध्ययन के क्षेत्र में उनका योगदान चिर-स्मरणीय रहेगा।

दिल्ली
17.7.1991

सत्यव्रत शास्त्री
आचार्य संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
पूर्व कुलपति,
श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी (उडीसा)

प्रस्तुति

अपने भावों की अभिव्यक्ति से पूर्व सर्वप्रथम मुझे यह प्रकट करना अभीष्ट है कि "कादम्बरी का काव्य शास्त्रीय अध्ययन" नामक यह ग्रन्थ मेरी किस अन्तः प्रेरणा का परिणाम है ? जब से मैंने अध्ययन प्रारम्भ किया तो संस्कृत की कथाओं में मेरी विशेष रुचि थी। मेरे पूज्य पिता पं. प्यारेलाल जी तिवारी, मुझे प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपनिबद्ध कथाओं को शैशव काल से ही सुनाया करते थे। महाविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करते-करते मुझे संस्कृत के गद्य काव्यों के अध्ययन के प्रति रुचि अद्भुत हुई। कादम्बरी के शुकनासोपदेश ने मुझे सर्वाधिक आकृष्ट किया। एम. ए. उपाधि हेतु मैंने कादम्बरी का सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन भी किया। विवाह के अनन्तर मेरे पति डॉ. गङ्गाधर भट्ट ने मुझे कादम्बरी के विशिष्ट अध्ययन की ओर प्रेरित किया। राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के संस्कृत विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ. पुरुषोत्तम लाल भार्गव का मुझे निर्देशन मिला और मेरी सुप्त चेतना संस्कृत गद्य के अध्ययन के प्रति जाग्रत हुई। संस्कृत काव्य शास्त्र में मेरी सहज अभिरुचि थी परिणामतः कादम्बरी के काव्य शास्त्रीय अध्ययन पर शोध कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

जहां तक कादम्बरी का सम्बन्ध है, अलङ्कारिकों के अनुसार काव्य शास्त्र के समस्त तत्त्व इसमें पूर्ण सहजता से समाहित हुए हैं एवं बाण भट्ट की वागीश्वरी रसों एवं भावों से सर्वथा आप्यायित है, उसमें प्रयुक्त स्वर वर्ण आदि अत्यन्त रुचिर एवं सरस हैं। अलङ्कारों की सरस छटा सहृदय पाठक के मन को सहसा आवर्जित कर लेती है।

इस सन्दर्भ में विदग्ध मुखमण्डन नामक ग्रन्थ में बाण भट्ट की निलिम्प भारती की प्रशस्ति की प्रशंसा करते हुए धर्मदास की यह उक्ति उल्लेख करने योग्य है —

रुचिर स्वर वर्ण पदा रस भाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुर शीलस्य ।।

बाण की सुमधुर रस योजना में काव्य के अन्य उपकरण अलङ्कार आदि सहायक बनकर उसके चमत्कार की अभिवृद्धि करते हैं।

कादम्बरी समस्त संस्कृत गद्य साहित्य का समुज्वल हीरक रत्न है। भाषा और भावों का शब्द और अर्थ का रुचिर सामञ्जस्य किस सहृदय को

आनन्द विभोर नहीं बना देता। वर्णन सौन्दर्य की रम्यता पर दृष्टिपात करना है तो देखिये विन्ध्याचल की विकट अटवी का वर्णन जहां साहस और प्रेम से आप्लावित शबर सैन्य का रोमाञ्चकारी वर्णन चित्तरञ्जक है। तो कहीं धर्म की साक्षात् मूर्ति, सदयता के परमावतार, आध्यात्मिकता के जाज्वल्यमान निदर्शन रूप महर्षि जाबालि का स्वरूप निरूपण, और उनके परम पावन एवं मनोरम आश्रम की सुभग शोभा प्रेक्षकों के चित्त को सहसा आकृष्ट कर लेती है। कहीं बाल्य काल में गन्धर्वों के अङ्क में विचरण करने वाली बीणा के समान मञ्जुवादिनी स्निग्ध हृदया महाश्वेता तो कहीं अलोक सामान्य सुख एव ऐश्वर्य में पली सरस हृदया, कान्त कलेवर की स्वामिनी गन्धर्वराज कन्या कादम्बरी किन सहृदयों के चित्त चञ्चरीक को हठात् अपनी ओर आवर्जित नहीं करती। रागात्मिका वृत्ति की सुरम्य व्यञ्जना सहृदय हृदय को विकसित करती है। वस्तुतः रस और अलङ्कारों का सुमधुर मिलन, भाषा और भाव का सुभग सम्पर्क, कल्पना और वर्णन की अभूतपूर्व संघटना कथावस्तु की दृष्टि से प्राचीनार्वाचीन समस्त कथाओं में सर्वातिशायिनी कादम्बरी कथा अनुपम एवं अद्वितीय है यह निर्विवाद है। बाण भट्ट के तनय पुलिन्द भट्ट ने कादम्बरी की रस रञ्जकता का अत्यन्त सारग्राही वर्णन किया है--

कादम्बरी रसभरेण समस्त एव,
मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम् ।।

इस सरस काव्य बल्लरी में हृदयग्राहिणी उपमाओं के, चमत्कार जनक श्लेषों एवं सुन्दर परिसंख्याओं के विलक्षण समावेश से काव्य के रम्य एवं भव्य अर्थ की कमनीयता सर्वातिशायिनी बन पड़ी है।

कादम्बरी में बाण ने न केवल कल्पना के अतिरञ्जित चित्र प्रस्तुत किये हैं प्रत्युत अपने बहुमुखी जीवन के विविध अनुभवों को रोचकता के साथ उपस्थित किया है। इसमें युग की प्रवृत्तियाँ यत्र-तत्र परिलक्षित होती हैं। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं का, परिस्थितियों का एवं चिन्तनाओं का परिज्ञान हो जाता है।

कादम्बरी की यह विशिष्टता है कि यह काव्य शास्त्र के विविध तत्त्वों से अनुरञ्जित है तथापि काव्य शास्त्रीय पक्ष इसकी कथा की रमणीयता तथा भव्यता को अभिभूत नहीं कर सकता। सभी तत्त्वों का सुरुचिर सामञ्जस्य इसको अत्यन्त लोकप्रियता प्रदान करता है। यही कारण रहा कि मैंने इस ग्रन्थ की प्रत्येक दृष्टि कोण से अध्ययन किया। इसके अध्ययन मै मेरी अभिरुचि उत्तरोत्तर बढ़ती रही। मुझे प्रसन्नता है कि आज मैं इस ग्रन्थ को संस्कृत जगत् के समक्ष प्रस्तुत कर गौरवान्वित अनुभव कर रही हूँ।

इस अध्ययन क्रम में संस्कृत विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ. पुरुषोत्तम लाल भार्गव का स्नेहपूर्ण निर्देशनालोक शोधकार्य की महायात्रा में आरम्भ से अन्तिम चरण तक पथ प्रदर्शक रहा है। उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उनकी अधमर्णता को स्वीकृत करती हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रणयन में विषय चयन से लेकर प्रकाशन के अन्तिम सोपान तक प्रेरणा प्रदान करने वाले मेरे पति डॉ. गङ्गाधर भट्ट को इस शोध प्रबन्ध का सम्पूर्ण श्रेय है। शब्दों में उतना सामर्थ्य कहाँ कि मैं उनका आभार व्यक्त कर सकूं।

मेरे पूज्य जन्म दाता वैदिक वाङ्मय के पारदृश्वा पं. प्यारेलाल जी तिवाडी, पितृव्य राजस्थान लोक सेवा आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष एवं समाज सेवी पं. देवी शङ्कर जी तिवाडी, अध्ययनाध्यापन को अपना जीवन समर्पित करने वाले पितृव्य श्री रमाशङ्कर जी त्रिपाठी एवं श्री कृपाशङ्कर जी तिवाडी, भारतीय प्रशासनिक अधिकारी अग्रज श्री राजेश्वर जी तिवाडी लाल बहादुर शास्त्री महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. ललित शङ्कर तिवाडी एवं परिवार के अन्य सभी सदस्यों एवं हित चिन्तकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने की मुझमें क्षमता नहीं है। कितना स्नेह, दुलार और आशीर्वाद मुझे मिला उन्हें में शब्दों की सीमा में आबद्ध करने में असमर्थ हूँ।

ऋषिकल्प प्राचीन मनीषियों के ग्रन्थ रत्नों को आधार बना कर मैंने अपने शोध कार्य को सम्पन्न किया उनके साथ मैं उन सभी के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिनकी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा एवं सहयोग प्राप्त हुआ।

मैं पब्लिकेशन स्कीम के संचालक गणों की अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत करने का स्तुत्य कार्य किया।

इस महायात्रा में त्रुटियां रही हैं, त्रुटियां करना मानव स्वभाव है। दोष जो रहे हैं उनका दायित्व मुझ पर है और जो रमणीयता, कमनीयता है, वह आप सभी की सद्भावनाओं एवं आशीर्वादों का प्रतिफल है। सुधीजन मेरी अल्पज्ञता एवं भूलों की ओर ध्यान न देकर इस ग्रन्थ को अपनायेंगे। यही मेरे ज्ञान सत्र का सम्बल होगा।

आषाढ कृष्णा (योगिनी)
एकादशी, 2048 विक्रमाब्द
8 जुलाई, सन् 1991

राजेश्वरी भट्ट

विषय-संकेत

भूमिका

संस्कृत-गद्य-काव्य एवं काव्यशास्त्र

गद्य

मानव एक सामाजिक एवं चिन्तनशील प्राणी है। प्रत्येक चेतनाशील प्राणी अपने सजातीय अथवा विजातीय प्राणियों से सम्पर्क स्थापित कर ही रह सकता है। वाणी ही एक ऐसा साधन है, जिससे वह अपने निकटवर्ती समाज से सम्पर्क एवं सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। उसे अपने सामाजिक मेल-जोल विचार-विनिमय और चिन्तन के लिए अपने भावों एवं विचारों को प्रकाशित करने वाली वाणी की आवश्यकता होती है। मानव की यह मूल भूत आवश्यकता ही भाषा की जननी है।

काव्य के लिए जिन अनिवार्य उपकरणों की आवश्यकता होती है, उनमें भाषा का सर्वाधिक महत्त्व निर्विवाद सिद्ध है, भाषा में ही काव्य की साकार प्रतिभा रूप ग्रहण करती है तथा उसके बिना काव्य साहित्य की कोरी कल्पना मात्र ही बन कर रह जाता है। भाषा नादमय चित्र मानी गयी है। वह विश्व की हृत्तन्त्री की झंकार है, जिसके स्वर में मानव अभिव्यक्ति पाता है। ईश्वर प्रदत्त नैसर्गिक शक्ति के द्वारा मानव ने वर्णों एवं अक्षरों का विकास किया होगा तथा उसके सम्मिश्रण से पदों और वाक्यों की योजना ने साकार रूप ग्रहण किया होगा।

गद्य का उदय

भाषा के विकास की इस प्रक्रिया में सम्भवतः गद्य का सर्व प्रथम स्थान रहा होगा। विकास के इस क्रम में स्वभावतः पहले गद्यात्मक वाक्यों का विकास हुआ होगा क्योंकि गद्य में शब्दों का नापतोल अथवा मात्रा परिगणन आवश्यक नहीं होता। तदनन्तर भाषा के समृद्ध होने के पश्चात् साहित्य के निर्माण की प्रारम्भिक स्थिति में पद्यात्मक रचना की सत्ता बनी होगी। अर्थात्

धीरे-धीरे अभ्यास से सगीत से सहचरित छन्दों के क्रमिक विकास से प्रसूत पद्य का उदय मानव के सूक्ष्म चिन्तन की प्रबुद्ध स्थिति में हुआ होगा ।

संस्कृत गद्य । विकास

गद्य के उद्भव के विवेचन के अनन्तर उसके विकास की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है साहित्य की अन्य विधाओं के समान ही गद्य के मूल की खोज के हेतु आर्य जाति के प्राचीनतम वाङ्मय की ही शरण लेनी होगी । वेद ही प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, जिनमें गद्य का सर्वप्रथम दर्शन होता है । वैदिक संहिताओं में आर्यजाति का समस्त ज्ञान निहित है । वे समस्त वाङ्मय के स्रोत माने जाते हैं । संसार के सर्व प्राचीन ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में गद्य के दर्शन नहीं होते परन्तु जर्मन विद्वान् ओल्डेन वर्ग का अनुमान है कि ऋग्वेद के संवादात्मक सूक्तों में, बीच-बीच में, मन्त्रों के साथ गद्यात्मक विवरण भी रहे होंगे, जो समय के प्रवाह में लुप्त हो गये । यह मत चाहे सर्वमान्य न भी हो पर यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि अपनी भाषा मं प्रार्थना करने वाला सामान्य व्यक्ति गद्य के माध्यम से ही प्रार्थना करता होगा और उस गद्य से ही सम्भवतः भावावेश में आकर गानात्मक रीति से वाक्यों के उच्चारण के फलस्वरूप मानव ने पद्य का विकास किया होगा ।

प्रारम्भिक वैदिक साहित्य जहाँ पद्यात्मक है वहाँ परवर्ती वैदिक साहित्य गद्यात्मक अधिक हो गया है । इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य की अधिकांश रचनाएँ पद्यात्मक हैं । यहाँ तक ज्यौतिष, आयुर्वेद, गणित, व्यवहार (विधि) जैसे शास्त्रीय विषयों में भी संस्कृत साहित्यकारों ने पद्य का ही आश्रय लिया है, चाहे इससे कदाचित् स्पष्टता के निर्वाह में बाधा आयी हो । इसका कारण सम्भवतः यह प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में लेखन कला के अभाव में गद्य की अपेक्षा पद्य को कण्ठस्थ करना अपेक्षाकृत सरल होता है । इतना होने पर भी कतिपय श्रेष्ठ कवियों ने अपने मनोभावों की गद्य के माध्यम से अभिव्यक्ति की है । संस्कृत साहित्य के प्रचुर विस्तार के अनुपात में गद्य का भाग अत्यन्त न्यून है । लेखकों और सहृदय पाठकों की पद्य की ओर ही अधिक अभिरुचि रही है । पद्य के प्रति यह पक्षपात वस्तुतः स्वाभाविक था विशेषतः उस युग में जब कि अध्ययन-अध्यापन मुख्यतः मौखिक था । रामायण, महाभारत एवं विशाल पुराण साहित्य प्रायः पूर्ण रूपेण पद्य में ही रचे गये । परन्तु शीघ्र ही अपने व्यावहारिक महत्त्व के कारण गद्य ने साहित्य में अपना प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर लिया और यहाँ तक कि उसे कवियों की सच्ची कसौटी माना जाने लगा ।[1]

यद्यपि गद्य की ऋग्वेद में उपलब्धि नहीं होती तथापि प्राचीनतम गद्य यजुर्वेद में दृष्टिगोचर होता है।

यजुर्वेद के दोनों संस्करणों शुक्ल और कृष्ण में गद्य का प्रयोग दृष्टि-पथ में आता है। परन्तु शुक्ल यजुर्वेद की अपेक्षा कृष्ण यजुर्वेद में गद्य की गरिमा अधिक लक्षित होती है। गद्य से मिश्रित होने के कारण ही कृष्ण यजुर्वेद को कृष्ण कहा जाता है। कृष्ण यजुर्वेद का गद्यांश ब्राह्मण ग्रन्थों की शैली में शुक्ल यजुर्वेद का व्याख्यात्मक रूप है। प्राचीनतम गद्य का उदाहरण कृष्ण यजुर्वेद की तैतिरीय संहिता में उपलब्ध होता है। इस संहिता में पद्य भाग की अपेक्षा गद्य भाग किसी भी प्रकार कम नहीं है। यजुर्वेद की अन्य संहिताओं—जैसे काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता आदि में भी गद्य उसी मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। यजुर्वेद की गद्य स्तुतियों को 'यजूंषि' की संज्ञा दी गयी है। प्रस्तुत स्तुतियों का गद्य कहीं-कहीं अनुप्रासमय तथा कवित्वमय है। यजुर्वेद संहिताओं के इस गद्य से काल क्रम में परवर्ती गद्य अथर्ववेद में उपलब्ध होता है। 'अथर्व' का छठा भाग पूर्णतः गद्यात्मक ही है। वैदिक संहिताओं का यह गद्य मुख्यतः यज्ञसम्बन्धी, आर्ष एवं स्वर युक्त है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में गद्य का प्रयोग

ब्राह्मण ग्रन्थों में विकसित होता हुआ गद्य आर्य जाति के याज्ञिक क्रिया-कलापों का समर्थ माध्यम बन गया। धीरे-धीरे गद्य का प्रयोग एवं प्रभाव बढ़ता गया। वैदिक साहित्य में 'ब्रह्म' शब्द यज्ञ के लिए प्रयुक्त हुआ है अतः यज्ञ-क्रिया से सम्बन्ध रखने के कारण ये ग्रन्थ 'ब्राह्मण' कहे जाते हैं। समस्त ब्राह्मण साहित्य पूर्णतः गद्य शैली में रचित हुआ है। कर्म काण्ड सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत करना ही इनका प्रमुख उद्देश्य है। अनुष्ठान की विधियों के साथ-साथ इनमें वैदिक मन्त्रों की पौराणिक एवं धार्मिक व्याख्याएं भी प्रस्तुत की गयी है। इनमें गद्य का प्रयोग भाषा विषयक ऊहापोह करने तथा परम्परागत आख्यानों का वर्णन करने में किया गया है।[2] स्वभावतः यह गद्य कर्मकाण्ड की छाया से ओत-प्रोत है। इसका वाक्य विन्यास एवं शब्दावली भी बहुत अधिक मात्रा में आर्ष है! ब्राह्मणों के गद्य को भी स्वर सहित पढने का विधान है।

ब्राह्मण[34], ग्रन्थों में प्रयुक्त गद्य की शैली सरल एवं शक्तिशाली है पर साथ ही साथ वह शब्द बहुल और अपरिष्कृत भी है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के पिछले भाग में आरण्यकों का समावेश होता है। इन आरण्यकों में कर्मकाण्ड के स्थान पर ज्ञानकाण्ड को अधिक प्रधानता दी गयी

है तथा उनमें दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इन ग्रन्थों में भी गद्य की ही प्रचुरता है। इनकी भाषा लौकिक संस्कृत के अधिक निकटवर्ती है।

उपनिषदों में गद्य का प्रयोग

उपनिषद् ग्रन्थ भी वेदों के ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। उनमें सबसे प्राचीन बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय एवं कौषीतकी माने जाते हैं। इन्हें बुद्ध पूर्व अर्थात् 600 ई० पू० से पहले का स्वीकृत किया गया है। ये सभी गद्यात्मक शैली में है। इनकी शैली ब्राह्मण ग्रन्थों की तरह अपरिष्कृत है। दूसरे वर्ग में ईश, केन, कठ, श्वेताश्वतर मुण्डक और महानारायण की परिगणना की जाती है ये सभी पद्यमय है। केनोपनिषद् का कुछ भाग पद्यमय तथा कुछ भाग गद्यमय है और इस प्रकार वह दोनों वर्गों के बीच माना जाता है। तीसरे वर्ग के प्रश्न, मैत्रायणीय तथा माण्डूक्य उपनिषदों की भाषा गद्यात्मक है परन्तु पहले वर्ग के उपनिषदों के समान अपरिष्कृत नहीं है एवं प्राचीन लौकिक सस्कृत से अधिक निकटवर्ती है। चौथे वर्ग में परवर्ती अथर्ववेदीय उपनिषद् परिगणित किये जाते हैं, जिनमें कुछ गद्य में रचे गये हैं तथा कुछ पद्य में।

उपनिषदों का गद्य सरल, प्रसाद गुण युक्त, निराडम्बर तथा चमत्कार पूर्ण होने से अत्यन्त आकर्षक है जहां वैदिक गद्य यज्ञ-याग की काष्ठमयी प्रक्रिया के विस्तार के कारण नीरस है वहां औपनिषदिक गद्य स्वच्छन्द और स्वाभाविक है। उसमें आख्यात रूपों (क्रिया पदों) की प्रचुरता है, पदों की सुन्दर पुनरुक्ति दृष्टिगोचर होती है तथा लम्बे-लम्बे दीर्घकाय समासों का प्रायः अभाव दिखाई पड़ता है।

सूत्रग्रन्थों में गद्य का प्रयोग

वैदिक युग में ही गद्यकारों ने एक अद्भुत सूत्र-शैली का आविष्कार किया, जो एक साथ लघुतम संक्षेप एवं विशद विस्तार का आश्चर्यजनक उदाहरण है। श्रौत तथा गृह्य सूत्रों में इस प्रकार की गद्य-शैली का प्रयोग आरम्भ हो गया और शीघ्र ही वह लोक प्रिय बन गया। इस शैली में वेदांगों की रचना की गयी। संक्षेपीकरण के लिए सूत्रों में एक नया आश्रय ढूंढ लिया गया वह था दीर्घकाय समास, जो परवर्ती लौकिक संस्कृत गद्य का एक सामान्य उपकरण बन गया। यास्क (700 ई० पू०) का निरुक्त सूत्र शैली में रचा गया है। पाणिनि (500 ई० पू०) ने भी अपनी अष्टाध्यायी को सूत्रों में गुम्फित किया है। सूत्रों की प्रक्रिया का उत्कृष्ट रूप यहीं माना गया है और इसी को भारतीय दर्शनकारों ने तथा पाणिनि के बहुत परवर्ती वैयाकरणों ने अपनाया है। सूत्रों

की संक्षिप्तता के कारण उन्हें टीका की सहायता के बिना समझना असम्भव ही है। उदाहरण के लिए पाणिनि के निम्न सूत्र का उल्लेख करना यहां असंगत नहीं होगा—"इकोयणचि" इस सूत्र में केवल पांच अक्षर है परन्तु इसके अर्थ में वह विपुल भाव भरा है कि यदि किसी शब्द के अन्त में इक् प्रत्याहार (इ, उ, ऋ, लृ,) हों और उसके बाद में आने वाले शब्द के आरम्भ में कोई भी स्वर हो तो इक् के स्थान में यण् (य, व, र, ल) क्रमशः हो जायेंगे।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल के आरम्भ से लेकर मध्य काल तक गद्य के विकसित होने का बड़ा ही मनोरम इतिहास है। जहां वैदिक गद्य सीधा सादा, व्यवहार के योग्य और सरल है वहां लौकिक साहित्य का गद्य प्रौढ, समास-बहुल और गाढ बन्धवाला है। वैदिक गद्य में सरल एवं छोटे-छोटे शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। 'ह, वै, उ' आदि अव्यय वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त हुए है। इनके प्रयोग से वाक्य में रोचकता तथा सौन्दर्य का समावेश हो जाता है समासों की विशेष कमी है। उदाहरणों का प्रयोग अधिक किया गया है। उपमा तथा रूपक का कमनीय सन्निवेश रसिकों के हृदयों को सहसा आवर्जित करता है।

संस्कृत गद्य

वैदिक गद्य के विकास की रूप रेखा का विवेचन करने के अनन्तर लौकिक गद्य के विकास का अध्ययन अपेक्षित हो जाता है। लौकिक संस्कृत काल में पदार्पण करते-करते गद्य की अनेक धाराएं दृष्टिगोचर होती है। साहित्य की विविध विधाओं में प्रयुक्त होने से गद्य के विभिन्नरूप स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं।

लौकिक संस्कृत में गद्य प्रायः तीन रूपों में प्रयुक्त हुआ है :—

पौराणिक गद्य

शास्त्रीय गद्य

साहित्यिक गद्य

पौराणिक गद्य

वैदिक गद्य एवं लौकिक संस्कृत के गद्य को मिलाने का काम पौराणिक गद्य करता है। यह वह शृंखला है, जो पूर्ववर्ती वैदिक गद्य को परवर्ती लौकिक संस्कृत गद्य से जोड़ती है। इस गद्य में वैदिक काल के कुछ आर्ष प्रयोग यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। यह गद्य नितान्त आलंकारिक तथा प्रसाद गुणयुक्त है। महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा विष्णु पुराण में प्रयुक्त गद्य इसके उदाहरण

हैं। प्रकृत गद्य में साहित्यिक गद्य का समग्र सौन्दर्य विद्यमान है। इस गद्य में विशेष गाढ़ बन्धता की कमी अवश्य है परन्तु भागवत का गद्य अत्यन्त प्रौढ, परिष्कृत, अलंकृत एवं भावों की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति करने वाला है। विष्णु[6] पुराण का गद्य अत्यन्त सरस, सरल एवं आलंकारिक हैं।

गद्य शैली के विकास में राजाओं की प्रशस्तियों ने भी प्रभूत योग दिया है। समास की बहुलता और ओज को गद्य का प्राण माना गया है।[7] गद्य की इस विशिष्टता का आविर्भाव गद्य साहित्य के सुवर्ण युग में हुआ था परन्तु संस्कृत गद्य की यह विशेषता प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इसका अस्तित्व प्रथम तथा द्वितीय शतक के शिलालेखों में उपलब्ध होता है। पश्चिमी भारत के क्षत्रप रुद्रदामन् के शिलालेख के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि हम बाण की शैली से प्रभावित गद्य का अध्ययन कर रहे हैं परन्तु यह गद्य बाण से लगभग पांच सौ वर्ष पहले उट्टंकित किया गया था। इस प्रकार की प्रशस्तियों में हरिषेण की समुद्रगुप्त-प्रशस्ति उल्लेखनीय है। हरिषेण कृत प्रयाग-प्रशस्ति का गद्य भी अत्यन्त प्रौढ, समास-बहुल एवं उदात्त है। यदि समुद्रगुप्त रचित कृष्ण चरित के लेखों की प्रामाणिकता को स्वीकार कर लिया जाये तो काव्य कार कालिदास ही हरिषेण प्रशस्ति के लेखक माने जा सकते हैं। विजय स्तम्भ के वर्णन के कवि की यह उक्ति काव्य मर्मज्ञों को सदा आनन्द विभोर करती रहेगी—

"सर्व पृथिवीविजयजनितोदय व्याप्तनिखिलावनितलां कीर्तिमितस्त्रदशपतिभवनगगनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरय मुच्छ्रितः स्तम्भः।"

गद्य काव्य की रचना में इस प्रकार की शैली का प्रयोग किया जाता था परन्तु कथानकों के वर्णन में सरल भाषा का प्रयोग होता था।

शास्त्रीय गद्य

शास्त्रीय गद्य शैली का प्राचीनतम उदाहरण तीसरी शती ई० पू० रचित पतञ्जलि का महाभाष्य है, जिसमें पाणिनि के सूत्रों पर तथा कात्यायन के वार्तिकों पर विस्तृत व्याख्यात्मक विवेचन किया गया है। पतञ्जलि के अनुसार व्याकरण भाषा का निर्माण नहीं करता प्रत्युत शिष्टों में प्रचलित भाषा का विवेचन करता है। पतञ्जलि का गद्य अत्यन्त प्राञ्जल प्रसर्पी एवं अभिव्यंजनशील सम्पन्न हुआ है। उसके वाक्य छोटे-छोटे विशद एवं सारगभित हैं। उन्होंने अपने गद्य में न तो अवांछनीय संक्षेप का ही आश्रय लिया है और न कर्णकटु समासों

को ही अपनाने का प्रयत्न किया है। इससे व्याकरण जैसा दुरूह शास्त्र भी रोचक एवं हृदयग्राही बन गया है।

शास्त्रीय गद्य दर्शन-गद्य-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। षड् दर्शनों पर रचित भाष्यों में जिस गद्य के दर्शन होते हैं, वह निर्मल एवं गम्भीर है। मीमांसा सूत्रों पर शबर भाष्य, न्याय सूत्रों पर वात्स्यायन भाष्य, तथा वैदान्त सूत्रों पर शांकर भाष्य दार्शनिक गद्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। शंकराचार्य के भाष्यों में प्रयुक्त प्रसन्न गम्भीर गद्य इस दृष्टि से आदर्श है। उनके वाक्य सार-गर्भित, प्रौढ़ एवं प्राञ्जल है तथा शैली विवेचनात्मक एवं तर्क प्रवण है। परवर्ती दर्शन ग्रन्थों में उदाहरण स्वरूप नव्यन्याय की कृतियों में इस तर्क प्रधान शैली की इतनी अति हो गयी है कि लेखक का अभिप्राय ही तर्क वितर्कों के जटिल जाल में उलझ जाता है। किन्हीं शास्त्रीय ग्रन्थों में गद्य-पद्यमयी शैली का भी आश्रय लिया गया है। इनमें मुख्य विषय का विवेचन तो गद्य में किया जाता है पर उदाहरण के रूप में पद्य का प्रयोग किया गया है अथवा सरांश रूप में पद्यों को प्रयुक्त किया गया है। यह शैली चिकित्सा–शास्त्र और अलंकार शास्त्र के कतिपय ग्रन्थों में तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रयुक्त हुई है। इन वैज्ञानिक ग्रन्थों का गद्य सूत्र शैली से प्रभावित है। उसमें परिभाषिक शब्दों की प्रचुरता तथा दीर्घ समासों की बहुलता दृष्टिगोचर होती है।

साहित्यिक गद्य

संस्कृत के साहित्यिक पद्य अथवा गद्य काव्य के प्रारम्भिक रूप आज उपलब्ध नहीं है। इस कोटि के गद्य के सर्व प्रथम दर्शन दण्डी, सुबन्धु एवं बाण की कृतियों में होते हैं जो अपने परिष्कृत एवं परिपक्वावस्था में है। उनके पूर्व गद्यकारों के विषय में आज परिचय उपलब्ध नहीं है तथापि यह निर्विवाद सिद्ध है कि इस प्रकार की काव्य प्रधान गद्य शैली का शताब्दियों तक अभ्यास किया जाता रहा होगा। कात्यायन ने आख्यायिकाओं का बहुवचन में उल्लेख किया है। पतञ्जलि ने आख्यायिकाओं के उदाहरण में वासवदत्ता, सुमनोत्तरा एवं भैमरथी का नाम–निर्देश किया है। भोज ने अपने शृंगार प्रकाश में मनोवती और सातकर्णीहरण नामक रचनाओं की ओर संकेत किया है, जो इस्वी सन् के आरम्भ में लिखी गयी होंगी। हाल के राजकवि श्रीपालित ने तरङ्गवती कथा लिखी।[8] रामिल एवं सौमिल ने शूद्रक कथा की रचना की।[9] हर्ष चरित में बाण ने भट्टार हरिचन्द्र के मनोहारी गद्य की प्रशंसा की है।[10] यद्यपि इन कृतियों एवं लेखकों का विशेष परिचय प्राप्त नहीं तथापि इन नामोल्लेखों से इतना तो प्रमाणित हो जाता है कि दण्डी, सुबन्धु और बाण से लगभग एक

सहस्त्र वर्ष पहले से गद्य-काव्यों की रचना आरम्भ हो गयी होगी सम्भवतः ये गद्य ग्रन्थ अन्य उत्कृष्ट तर गद्य काव्यों की रचना हो जाने के अनन्तर जन-समाज द्वारा भुला दिये गये हों।

प्रस्तुत अध्ययन काव्य शास्त्रीय दृष्टि से अपेक्षित है अतः काव्य, कवि, काव्य शास्त्र आदि पर भी विशद विवेचन करना अनुपयुक्त नहीं। अतएव काव्य शास्त्र का विवेचन किया गया है।

काव्य शब्द की व्युत्पत्ति

कवि के द्वारा की हुई रचना को काव्य की अभिधा दी जाती है। कवि जिस कार्य को करता है उसे काव्य कहा गया है। कवेरिदंकार्यम् भावो वा[11] इस अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय करके 'काव्य' शब्द की निष्पत्ति होती है। ध्वन्यालोक की टीका ध्वन्यालोक लोचन में अभिनवगुप्त पादाचार्य ने 'कवनीयंकाव्यम्' कह-कर काव्य शब्द को सिद्ध किया है।

कवि और काव्य

'कवयतीति कविः तस्य कर्म काव्यम्' कहकर विद्याधर[12] ने रचना करने वाले को कवि तथा उसके कर्म को काव्य की संज्ञा दी है। सर्वज्ञ और सब विषयों के वर्णन करने वाले को कवि कहा गया है—

कवते सर्वं वर्णयति इति कविः। यहाँ कु = शब्दे अव = इः।[13]

इसी प्रकार अमर सिंह[14] ने भी श्लोकों का ग्रथन करने वाले को कवि माना है : —

"कवते श्लोकान् ग्रथते वर्णयति वा इति कविः"—

अतएव इसी व्यापक अर्थ को लेकर सर्व प्रथम वेदों में परमेश्वर के लिए कवि शब्द प्रयुक्त हुआ है—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः"[15]

इससे यह स्पष्ट होता है कि वेदों में कवि का यही व्यापक अर्थ लिया गया है।

वेदों के पश्चात् श्रीमद्भागवत में वेदों के प्रकाशक ब्रह्मा जी के लिए आदि कवि शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

"तेन ब्रह्महृदाय आदि कवये"[16]

इसके अनन्तर महर्षियों एवं शास्त्र प्रणेताओं के लिए इस शब्द का प्रयोग दृष्टिपथ में आया है। उपर्युक्त, आधार पर यह स्पष्ट होता है कि

आरम्भ में कवि शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया गया है तदनन्तर धीरे-धीरे यह शब्द काव्य प्रणेताओं के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा होगा। सम्भवतः सर्व प्रथम महर्षि वाल्मीकि के लिए आदिकवि तथा महर्षि वेद व्यास के लिए कवि शब्द का प्रयोग किया गया है तथा इन्हीं शब्दों के आधार पर रामायण के लिए आदि काव्य का प्रयोग तथा महाभारत के लिए काव्य शब्द का प्रयोग हुआ है। वाल्मीकि रामायण के प्रत्येक सर्ग के अन्त में "इत्यार्षे आदि काव्ये" का उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत के विषय में स्वयं महर्षि वेदव्यास ने एक परम पूजित काव्य का रचनाकार स्वयं को प्रतिपादित किया है--

"कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्"[17]

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महर्षि वाल्मीकि के समय मे ही एक विशिष्ट प्रकार की चित्ताकर्षक रमणीय शैली के रचयिता के लिए कवि शब्द का तथा विशिष्ट शैली के रमणीय रचनात्मक प्रबन्ध के लिए काव्य शब्द का प्रयोग होता रहा है। महर्षि व्यास ने कवि को प्रजापति के समान महत्त्व दिया है—

"अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते"[18].

इससे यह स्पष्ट होता है कि विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न एवं मनोहारिणी तथा आनन्ददायिनी शैली में रचना करने वाले विद्वान् के अर्थ में कवि शब्द योग रूढ हो गया था, तदनन्तर परवर्ती सुप्रसिद्ध काव्य शास्त्रियों ने काव्य शब्द का इसी विशेष अर्थ में प्रयोग किया है।

वामन के अलंकारसूत्र (1/1/1) की कामधेनु टीका में गोपेन्द्र त्रिपुरहर द्वारा भामह के नाम से उद्धृत इस श्लोक में 'नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा से अनुप्राणित निपुण कवि के कर्म को काव्य की संज्ञा दी गई है—

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता तदनुप्राणनात् वर्णनानिपुणः कविः तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्।

इसी प्रकार मम्मट ने भी लोकोत्तर रचना करने में निपुण विद्वान् को कवि के नाम से बोधित किया है और उसके द्वारा रची गई विगलित वेद्यान्तर आनन्द से ओत-प्रोत सृष्टि को काव्य की आख्या से उद्बोधित किया है— काव्यं लोकेत्तर वर्णना निपुणं कवि कर्म।[19]

काव्य शास्त्र

काव्य-सौन्दर्य के गुण दोषों का विवेचन कर उसकी सम्यक् परीक्षा

करने वाले शास्त्र को काव्य शास्त्र कहा गया है। काव्य शास्त्र के उषः काल में इस प्रकार के ग्रन्थ के लिए मुख्य रूप से 'काव्यालंकार' शब्द का प्रयोग किया जाता था। अतएव काव्य शास्त्र के प्रारम्भिक युग के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों का नाम 'काव्यालंकार' रखा है। कारिका रूप में लिखा हुआ भामह का काव्य शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ "काव्यालंकार" के नाम से ही प्रख्यात है। उद्भट के काव्य शास्त्र विषयक ग्रन्थ का नाम भी काव्यालंकारसारसंग्रह ही रखा गया है।

रुद्रट का काव्यशास्त्र परक ग्रन्थ भी 'काव्यालंकार' नाम से प्रसिद्ध है। सूत्र रूप में रचित काव्य-शास्त्र पर आधारित अपने ग्रन्थ का नाम वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' रखा। अतएव यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में काव्य शास्त्र के लिए काव्यालंकार शब्द ही अधिक प्रचलित और उन आचार्यों के अन्तर्निहित भाव को स्पष्ट करने वाला रहा है।

काव्यलंकार में परिगृहित अलंकार शब्द सौन्दर्य अर्थ का बोधक माना गया है।

वामनाचार्य ने अलंकार शब्द की व्याख्या करते हुए उन्हें सौन्दर्यपरक तथा सौन्दर्याधायक प्रतिपादित किया है। अन्य प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य के सौन्दर्यत्व को ही प्रमुख मानकर उसे अलंकार शब्द से व्यवहृत किया है।

'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते' आदि वाक्यों में इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

इस प्रकार काव्यालंकार शब्द का अर्थ काव्य-सौन्दर्य माना जाता है और उससे लक्षणावृत्ति के द्वारा सौन्दर्य परक शास्त्र का बोध होता है। अतएव काव्य सौन्दर्य की सम्यक् परीक्षा पर आधारित आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले वे समस्त ग्रन्थ काव्यालंकार नाम से उद्बोधित किये जाते रहे हैं। इन ग्रन्थों में केवल अलंकारों का ही ग्रहण या परीक्षण नहीं है प्रत्युत काव्य सौन्दर्य की परीक्षा के लिए जिन-जिन तत्त्वों गुण, दोष, रीति, अलंकार आदि के ज्ञान की आवश्यकता होती है उन सभी का प्रतिपादन किया गया है।

इसलिए इन ग्रन्थों में आये हुए अलंकार शब्द को सौन्दर्यपरक मानकर काव्य सौन्दर्य की परीक्षा के लिए मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों के लिए किया गया 'काव्यालंकार' शब्द का प्रयोग समीचीन प्रतीत होता है।

इसके अनन्तर धीरे-धीरे परवर्ती काव्यों में अनेक स्थानों पर इस शास्त्र के लिए काव्यालंकार के स्थान पर अलंकार शास्त्र का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

''प्रतापरुद्रीयम्'' की टीका में 'अलंकार शास्त्र' शब्द के प्रतिपादन के लिए छत्रिन्याय का आश्रय लिया गया है। 'यद्यपि रसालंकाराद्यनेक विषयमिदं तथापि छत्रिन्यायेन अलंकार-शास्त्रमुच्यते' के द्वारा छत्रिन्याय से उसे केवल अलंकार शास्त्र कहा गया है। कहीं अनेक व्यक्तियों में दो चार छत्रधारियों को देख कर तथा उनमें छत्रधारियों की प्रधानता को मानकर उसके साथ चलने वाले छत्ररहित अनेक व्यक्तियों के लिए 'छत्रिणो यान्ति का प्रयोग देखा जाता है। उसी प्रकार यद्यपि इस शास्त्र में अलंकार के अतिरिक्त गुण, रस, दोष, रीति आदि का विवेचन किया गया है, तथापि इस न्याय से अलंकार को प्रधान मानकर 'अलकार शास्त्र' नाम से उसका ग्रहण हो जाता है। 'अलंकार-शास्त्र' नाम की व्याख्या के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों का भी प्रायः यही मत है।

वस्तुतः 'प्रतापरुद्रीयम्' टीका में निर्दिष्ट इस व्याख्या को सहज स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

काव्य में अलंकार की प्रधानता नहीं होती। अलंकार काव्य की आत्मा नहीं है। काव्य में अलंकारों की स्थिति तो केवल कटक कुण्डल आदि के समान गौण मात्र है। काव्य की आत्मा तो रस को कहा गया है। कटक कुण्डल आदि काव्य सौन्दर्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व तो हो सकते हैं पर जीवनाधायक तत्त्व नहीं। कटक कुण्डल आदि अलंकारों को धारण करने वाला व्यक्ति सम्मान में श्रेष्ठ तो माना जा सकता है पर अलंकारों से रहित मनुष्य मनुष्य संज्ञा से वंचित हो जाय ऐसा नहीं हो सकता। जिस प्रकार शरीर का जीवनाधायक तत्त्व आत्मा है उसी प्रकार काव्य का जीवनाधायक तत्त्व रस को माना गया है। अतः रस आदि के काव्य में रहते हुए काव्य की आत्मा स्वरूप रस को गौणता प्रदान कर गौण अलंकारों को प्रधानता देना और उनके आधार पर 'काव्य शास्त्र' का 'अलंकार शास्त्र' नामकरण उचित प्रतीत नहीं होता। वामनाचार्य के मत के अनुसार अलंकार शब्द को सौन्दर्यपरक मानकर अलंकार शास्त्र को सौन्दर्य शास्त्र मानना अधिक उपयुक्त एवं समीचीन प्रतीत होता है।

काव्य शास्त्र में शास्त्र शब्द

काव्य रचना के आरम्भिक युग में काव्य शब्द के साथ शास्त्र का प्रयोग नहीं होता था। इस शास्त्र को केवल काव्यालकार शब्द से बोधित किया जाता था।

क्रमशः इस शास्त्र के विकास के साथ इसका महत्त्व बढ़ाने के लिए काव्य शब्द के साथ अलंकार के स्थान पर शास्त्र का प्रयोग होने लगा। काव्य शास्त्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ शासनात् शास्त्रम् के द्वारा सामान्य रूप से शासन करने वाला होता है। तथा शासन का अर्थ मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त करना अथवा उसे किसी कार्य से निवृत्त करना समझा जाता है। वेद, स्मृति, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थ मानव मात्र को सत्कर्म में प्रवृत्त होने तथा दुराचरण से निवृत्त होने का आदेश देते हैं। अतः उन्हें शास्त्र की संज्ञा दी जाती है।

काव्य का मुख्य प्रयोजन शासन कदापि नहीं हो सकता। काव्य का क्षेत्र प्रवृत्ति और निवृत्ति की परिधि से बाहर रहता है। उसका तो मुख्य प्रयोजन रसास्वादन है। सद्यः पर निर्वृति ही काव्य का लक्ष्य होता है तथा कर्तव्याकर्तव्य में प्रवृत्ति निवृत्ति का कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे के रूप में गौण प्रयोजन है अतः इस रूप में काव्य प्रभुसम्मित वेद आदि से भिन्न होने से 'शासनात् शास्त्रम्' वाली व्युत्पत्ति को लेकर प्रयुक्त किया गया शास्त्र शब्द काव्य के लिये समीचीन प्रतीत नहीं होता। शासनात् शास्त्रम् के द्वारा व्युत्पत्तिलभ्य विधि प्रतिषेध परक अर्थ के अतिरिक्त एक और व्युत्पत्ति वेदान्त दर्शन में उपलब्ध होती है।

शंसनात् शास्त्रम्—'अर्थात् किसी गूढ तत्त्व का शंसन' प्रतिपादन करने वाले काव्य को भी शास्त्र की संज्ञा दी जा सकती है।

काव्य के इस व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ को प्राप्त करने में स्पष्टतः यही हेतु प्रतीत होता है कि वेदान्त का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म प्रवृत्ति निवृत्ति अथवा विधि निषेध का विषय नहीं माना जा सकता। तथा जब वह विधि निषेध की परिधि के अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया जाता तो शास्त्र से उसका प्रतिपादन सम्भव कैसे है? 'शंसनात् शास्त्रम्' वाली व्युत्पत्ति प्रस्तुत शंका का समाधान कर देती है। इसके आधार पर 'ब्रह्म' जैसे गूढ एवं रहस्यमय तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त के लिए शास्त्र शब्द के प्रयोग तथा विधि निषेध से रहित ब्रह्म के शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित होने का समर्थन प्राप्त होता है।

इस व्युत्पत्ति को लेकर काव्य शास्त्र, अलंकार शास्त्र आदि नामों से प्रयुक्त शास्त्र शब्द समीचीन एवं उपयुक्त प्रतीत होता है। साथ ही काव्य के साथ शास्त्र शब्द के प्रयुक्त होने से उसके महत्त्व में और भी अभिवृद्धि हुई।

अतः इस विवेचन के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि शंसनात् शास्त्रं वाली व्युत्पत्ति से गूढ तत्त्व के प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ को शास्त्र कहा जा सकता है और काव्य के साथ अलंकार के स्थान पर प्रयुक्त किये गये शास्त्र से काव्य का महत्त्व बढा है।

काव्य शास्त्र शब्द के प्रयोग का आधार

सर्व प्रथम काव्य के साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से ग्यारहवीं शताब्दी में रचित भोज देव के सरस्वती कण्ठाभरण में उपलब्ध होता है परन्तु उन्होंने 'शासनात् शास्त्रम्' वाली पहली व्युत्पत्ति के आधार पर काव्य को विधि निषेध परक मानकर उसके साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग किया है उनके मतानुसार शासन् करने वाला अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य में प्रवृत्ति निवृत्ति परक विधि निषेध का ज्ञान कराने वाले शास्त्र का अध्ययन लोक व्यवहार के सम्यक् परिज्ञान और संचालन के लिए करना चाहिये—

यद्विधौच निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम् ।[20]
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्त्तते ।

इस प्रकार भोज देव ने काव्य के प्रयोजनों में से 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' को प्रमुख प्रयोजन के रूप में स्वीकार कर विधि निषेध को ही काव्य का मुख्य अंग माना है । इसके अतिरिक्त उन्होंने विधि निषेध का ज्ञान कराने के लिए तीन साधनों को स्वीकार किया है ।

1. काव्य
2. शास्त्र
3. इतिहास

इन तीनों के सम्मिश्रण से विधि और निषेध का ज्ञान कराने वाले छः कारण माने गये है ।

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्र तथैव च ।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ।[21]

संस्कृत काव्य शास्त्र के प्रायः सभी परवर्ती आलोचनाकारों ने आचार्य भोजदेव के द्वारा सरस्वती कण्ठाभरण में प्रतिपादित इस मत का अनुमोदन नहीं किया । उनकी दृष्टि में प्रवृत्ति निवृत्ति परक उपदेश काव्य का प्रमुख प्रयोजन न होकर केवल गौण प्रयोजन ही माना जा सकता है । उपदेश की अपेक्षा सद्यः पर निर्वृति–रसास्वादन या अलौकिकानन्दानुभूति ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना जाना अधिक संगत प्रतीत होता है । काव्य का मुख्य उद्देश्य शासन नहीं है अन्यथा काव्य वेद, धर्म शास्त्र आदि में विभेदक तत्त्व कौनसा रह जाता ? उन्होंने काव्य के साथ शास्त्र शब्द जोड़कर उसकी श्री वृद्धि तथा महत्त्व को बढ़ाने का प्रयास तो किया पर उस प्रयास में वे काव्य की आत्मा

''रस'' को भूल गये । यदि वे 'शासनात् शास्त्रम्' वाली व्युत्पत्ति से लभ्य अर्थ के स्थान पर 'शंसनात् शास्त्रम्' व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग करते तो उससे काव्य की आत्मा की भी श्री सुरक्षित रहती और काव्य के गौरव की भी अभिवृद्धि होती ।

साहित्य और काव्य शास्त्र

जैसा कि ऊपर प्रस्तुत किये गये विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में आचार्यों ने काव्य-शास्त्र के लिए काव्यालंकार शब्द का प्रयोग किया है । काव्य सौन्दर्य की विवेचना करने वाले शास्त्र के लिए काव्यालंकार शब्द को उपयुक्त मानकर उन्होंने अपने ग्रन्थों का नाम काव्यालंकार रखा । प्रारम्भ में काव्य जगत् में यही शब्द अधिक प्रचलित रहा । परन्तु काव्यालंकार शब्द के अतिरिक्त एक और शब्द साहित्य भी शास्त्र के लिए प्रयुक्त किया गया दृष्टि-गोचर होता है, जो वर्तमान युग में काव्य शास्त्र के अन्य बोधक शब्दों की अपेक्षा अधिक प्रचलित दिखाई देता है । इस शब्द के प्रचलन का श्रेय सम्भवतः चौद-हवीं शती के आचार्य विश्वनाथ को है जिन्होंने काव्य सौन्दर्य की विवेचना करने वाले अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्य दर्पण' रखा है । विश्वनाथ से पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी में अलंकार सर्वस्व के रचयिता रुय्यक ने 'साहित्य मीमांसा' नामक अपने अन्य ग्रन्थ में इसका प्रयोग किया था परन्तु उनके इस ग्रन्थ के पठन पाठन में अधिक प्रचलित न होने से साहित्य शब्द के प्रसार एवं प्रचार का श्रेय विश्व-नाथ को ही दिया जाना अधिक संगत प्रतीत होता है । साथ ही यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है कि विश्वनाथ इस शब्द के प्रयोग के प्रवर्तक नहीं है । इसका प्रथम प्रयोग काव्य शास्त्र के आदि आचार्य भामह के काव्यालंकार में दृष्टिगोचर होता है । काव्य की परिभाषा देते हुए भामह ने अपने प्रारम्भ में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कह कर शब्द और अर्थ के साहित्य को ही काव्य की अभिधा प्रदान की है । शब्दार्थ के साहित्य का अभिप्रायः स्पष्ट करते हुए वक्रोक्तिकार कुन्तक ने काव्यों में सौन्दर्याधान के लिए शब्द और अर्थ दोनों की एक सी मनोहारिणी स्थिति को ही काव्य कहा है ।

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ
अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्य वस्थितिः ।[22]

आचार्य कुन्तक के अनुसार काव्य में जितने सुन्दर अर्थ का वर्णन किया जा रहा हो उतने ही सुन्दर शब्दों का समावेश होना चाहिये । अथवा जितने सुन्दर शब्दों का गुम्फन किया जा रहा हो उसी के अनुरूप सुन्दर अर्थ

का सन्निवेश होना चाहिए। शब्द अर्थ के गौरव के अनुरूप हो–न न्यून, न अधिक और इसी प्रकार अर्थ शब्द के सौन्दर्य के अनुरूप हो न कम और न अधिक। शब्द की यही अन्यूनातिरिक्तत्व मनोहारिणी अवस्थिति हुई और इसकी संज्ञा शब्द और अर्थ का साहित्य है।

इस प्रकार मनोहारिणी स्थिति वाले साहित्य से युक्त शब्द और अर्थ का नाम ही काव्य है यह भामह द्वारा प्रस्तुत किये गये 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस काव्य लक्षण का अभिप्राय है।

आचार्य कुन्तक ने काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए शब्द और अर्थ के इस साहित्य को प्रमुख स्थान दिया है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापारशालिनि–
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।[23]

उनके अनुसार सहृदयों के मन को आकर्षित कर उसे आह्लादित करने वाले सुन्दर कवि व्यापार से युक्त रचना में सम्यक् प्रकार से स्थित साहित्य युक्त शब्द और अर्थ का नाम ही काव्य है। उपरि निर्दिष्ट विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भामह एवं कुन्तक दोनों ने शब्द और अर्थ के साहित्य के आधार पर अपने काव्य लक्षण प्रस्तुत किये हैं और इस आधार पर ही काव्य शास्त्र के लिए साहित्य शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रयोग के आधार पर ही शास्त्र के लिए साहित्य विद्या अथवा साहित्य शास्त्र का नाम निर्देश किया है और इसी को आधार मानकर ग्यारहवीं शताब्दी में रुय्यक ने अपने ग्रन्थ का नाम साहित्य मीमांसा एवं चौदहवीं शताब्दी में विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ का नाम साहित्य दर्पण रखा।

क्रिया-कल्प

जैसा कि पहले देखा जा चुका है कि काव्य सौन्दर्य की परीक्षा एवं समीक्षा करने वाले इस शास्त्र के लिए (1) काव्यालंकार (2) काव्य शास्त्र (3) अलंकार शास्त्र (4) साहित्य विद्या (5) साहित्य शास्त्र आदि अनेक नामों का प्रयोग होता रहा है परन्तु इनके अतिरिक्त एक और नाम भी इस शास्त्र के लिए प्रयुक्त होता दृष्टिगोचर होता है, और वह नाम है क्रिया कल्प'। वात्स्यायन ने अपने काम शास्त्र में परिगणित चतुःषष्टि कलाओं में इसका निर्देश किया है। इस प्रकार यह नाम सम्भवतः इन सभी नामों से प्राचीन प्रतीत होता

है। इसका पूरा नाम काव्य क्रिया-कल्प अर्थात् काव्य शास्त्र है जिसका संक्षिप्त रूप क्रिया कल्प जान पड़ता है।

काम शास्त्र के अतिरिक्त ललित विस्तर नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी क्रिया कल्प शब्द का प्रयोग दृष्टिपथ में आता है। इसके टीकाकार जयमंगलार्क ने इसका अर्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया है 'क्रिया-कल्प इति काव्य करण विधिः काव्यालंकार इत्यर्थः' इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कलाओं के अन्तर्गत प्रयुक्त हुआ क्रिया-कल्प शब्द काव्यालंकार अथवा अलंकार शास्त्र के अर्थ का बोधक हुआ है। वाल्मीकि रामायण में लवकुश के गान को सुनने के लिए राम की सभा में वैयाकरण, नैगम, स्वरज्ञ, गान्धर्व आदि विविध विद्याओं के विशारदों की उपस्थिति के साथ-साथ क्रिया कल्प तथा काव्य विद् की उपस्थिति का भी वर्णन प्राप्त होता है जिसमें केवल काव्य रस को ग्रहण करने में समर्थ व्यक्ति के लिए काव्य विद् तथा काव्य सौन्दर्य की परीक्षा में समर्थ व्यक्ति के लिए क्रिया कल्प विद् का प्रयोग प्रतीत होता है।

क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्[24]

इस प्रकार काव्य शास्त्र के लिए—

1. काव्यालंकार
2. काव्य शास्त्र
3. अलंकार शास्त्र
4. शाहित्य शास्त्र
5. क्रिया कल्प

इन पाँच नामों का प्रयोग प्रायः होता रहा है।

भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन और कुन्तक ने इन प्रचलित शब्दों में से काव्यालंकार शब्द को अधिक रुचिकर माना और इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थों के नाम काव्यालंकार रखे।

कुन्तक का ग्रन्थ यद्यपि "वक्रोक्ति जीवितम्" नाम से प्रसिद्ध है परन्तु यह दो भागों में विभक्त है—

1. कारिका भाग
2. वृत्ति भाग

दोनों भाग कुन्तक रचित ही माने गये हैं आचार्य कुन्तक ने अपने वृत्ति भाग का नाम वक्रोक्ति जीवित रखा, परन्तु उसके मूल कारिका भाग का नाम काव्यालंकार ही है।

लौकोत्तर चमत्कारि वैचित्र्य सिद्धये

काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वोविधीयते ।[25]

ग्रन्थ के आरम्भ में दिये गये इस श्लोक से यह प्रतीत होता है कि वक्रोक्तिकार ने अपने मूल ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार ही रखा।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पहले बहुत समय तक इस शास्त्र के लिए काव्यालंकार का प्रयोग होता रहा। तदनन्तर परवर्ती आचार्यों ने इसे उपयुक्त न मानकर सातवीं शताब्दी में दण्डी ने अपने ग्रन्थ का नाम काव्यादर्श रखा। नवम शताब्दी में राजशेखर ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्य मीमांसा' तथा ग्याहरवीं शताब्दी में मम्मट ने अपने ग्रन्थ का नाम काव्य प्रकाश रखा और तेरहवीं शताब्दी में विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ को साहित्य दर्पण की संज्ञा दी।

काव्य शास्त्र का उद्गम

राजशेखर द्वारा काव्य मीमांसा के प्रारम्भ में दी गयी एक आख्यायिका काव्य शास्त्र के उद्गम के विषय में एक दिशा प्रस्तुत कर सकती है। देखने से यह आख्यायिका पौराणिक रीति पर आधारित सी प्रतीत होती है। उसमें प्रामाणिक तथ्यों की न्यूनता का अनुभव होता है तथापि उसमें काव्य शास्त्र या साहित्य शास्त्र के उद्गम के विषय में एक विचार सरणि उपलब्ध होती है अतएव इस संदर्भ में उसका उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है।

अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठी वैकुण्ठादिभ्यः चतुः षष्टि शिष्येभ्यः। सोऽपि स्वयंभूरिच्छ जन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत् तं च सर्वसमयमिदं दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूर्भुवः स्वस्त्रितय वर्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्या प्रवर्तनायै प्रायुंक्त । सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्या स्नातकेभ्यः सप्तपञ्च प्रोवाच। तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीति निर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमो यमकानि, चित्रं चित्रांगदः, शब्द श्लेष शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः औपम्यमौपकायनः, अतिशय पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः

रूपक निरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः इति । ततस्ते पृथक्-पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयांचक्रुः । इत्थंकारञ्च प्रकीर्णत्वात् सा किंचित् उच्चिच्छिरे । इतीयं प्रयोजकाङ्क्षवती । संक्षिप्य सर्वमर्थमल्प ग्रन्थेन अष्टादशाधिकरणी प्रणीता ।[26]

राजशेखर ने लिखा है—अब काव्य की विवेचना आरम्भ है । भगवान् श्री कण्ठ शिव ने इस काव्यशास्त्र का उपदेश परमेष्ठी वैकुण्ठ आदि चौसठ शिष्यों को दिया था उसमें से प्रथम शिष्य स्वयम्भू-ब्रह्मदेव ने अपनी इच्छा से उत्पन्न (अयोनिज) शिष्यों, ऋषि महर्षियों को इस काव्यविद्या का उपदेश दिया । इन शिष्यों में सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष भी एक था । विश्ववन्द्य देवता भी जिसका वन्दन करते थे । ब्रह्मा जी ने त्रिकालदर्शी एवं अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा भविष्य के इतिवृत्तों का ज्ञान रखने वाले उस काव्यपुरुष को भू-भुवः एवं स्वः (स्वर्ग) इन तीनों लोकों में निवास करने वाली प्रजा में काव्य विद्या का प्रचार करने की आज्ञा प्रदान की । काव्यपुरुष ने अठारह भागों में विभक्त काव्य शास्त्र का उपदेश सर्व प्रथम सहस्राक्ष आदि दिव्य काव्य विद्या के स्नातकों को दिया । उनमें से एक एक शिष्य ने अठारह भागों में विभक्त उस काव्यविद्या के एक एक भाग में विशेषता प्राप्त करके अपने अपने विषय पर पृथक् पृथक् ग्रन्थों की रचना की । सहस्राक्ष इन्द्र ने 'कविरहस्य' नामक प्रथम अधिकरण का निर्माण किया । इसी प्रकार उक्तिगर्भ ने उक्ति विषयक ग्रन्थ की रचना की । सुवर्णनाभ ने रीति विषयक, प्रचेता ने अनुप्रास विषयक, यम ने यमक सम्बन्धी, चित्रांगद ने चित्र काव्य विषयक, शेष ने श्लेष पर, पुलस्त्य ने वास्तव अर्थात् स्वभावोक्ति पर, औपकायन ने उपमा अलंकार सम्बन्धी, पाराशर ने अतिशयोक्ति के सम्बन्ध में, उतथ्य ने अर्थ श्लेष पर, कुबेर ने शब्द और अर्थ आदि उपमालंकारों के विषय में, कामदेव ने विनोद परक, भरत ने नाट्य विषय पर, नन्दिकेश्वर ने रस विषय से सम्बन्धित, धिषण (वृहस्पति) ने दोष पर, उपमन्यु ने गुणों के सम्बन्ध में और कुचमार ने औपनिषदिक विषयों पर स्वतन्त्र रूप से अपने ग्रन्थों का निर्माण किया । इस प्रकार भिन्न भिन्न विषयों की ग्रन्थ रचनाओं से काव्य विद्या अनेक भागों में विभक्त होकर छिन्न भिन्न सी हो गई । अतएव अत्यावश्यक काव्य विद्या के सभी विषयों को संक्षिप्त करके हमने (राजशेखर) अठारह अधिकरणों में काव्य मीमांसा नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की है । इस प्रकार राजशेखर ने इस आख्यायिका में काव्य शास्त्र के उद्गम पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है परन्तु इस आख्यायिका की पुष्टि के हेतु कोई अन्य उल्लेख किसी अन्य ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता ।

वेद और काव्य शास्त्र

प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार वेद सभी सत्य विद्याओं के प्रवर्त्तक एवं प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ हैं। सभी सत्यविद्याएं बीज रूप में वेदों में उपलब्ध हो सकती हैं तथा उनका उद्गम और विकास वेदों में दृष्टिगोचर होता है। अतएव समस्त विद्याओं के मूल रूप का अन्वेषण और अनुसंधान वेदों में किया जा सकता है।

न केवल भारतीय विद्वान् ही प्रत्युत आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी ऋग्वेद को विश्व साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। अतः वे भी अपनी अनुसंधान प्रक्रिया में प्रत्येक विषय का मूल ऋग्वेद में ढूँढने का प्रयास करते हैं। इसीलिए काव्य शास्त्र के मूल सिद्धान्तों का वेदों में अन्वेषण करने का प्रयत्न किया गया है। वेदों में साहित्य शास्त्र का कहीं भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। वेदाङ्गों में भी शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्यौतिष इन छः विद्याओं का परिगणन करते हुए कहीं साहित्य के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों से साहित्य शास्त्र का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

तथापि 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'—वैदिक वचन में वेदों का देव के काव्य के रूप में स्पष्ट निर्देश किया गया है तथा वेदों के निर्माता परमात्मा के लिए अनेक स्थानों पर कवि शब्द का उल्लेख किया गया है। अतः समस्त काव्य सौन्दर्यों से ओत प्रोत वेद स्वयं काव्यमय है। अतः काव्य सौन्दर्य के परीक्षण एव समीक्षण करने वाले साहित्यशास्त्र में काव्य सौन्दर्य के आधायक जिन जिन गुण, रीति अलंकार, ध्वनि, रस आदि तत्त्वों का निरूपण किया गया है, उन सभी तत्त्वों की उपलब्धि मूल रूप में वेदों में हो जाती है। वेदों की रचना में माधुर्य, ओज और प्रसाद आदि विविध गुणों के उदाहरण यथा स्थान प्राप्त हो जाते हैं। गुणों के आधार पर ही रीतियों के उदाहरण भी वेद में खोजे जा सकते हैं। उपमा और रूपक आदि अर्थालंकारों का तो वेद में बाहुल्य है। एक एक मंत्र में उपमा और रूपक आदि अलंकारों का समुचित एवं सुन्दर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

उतत्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्, उतत्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे, जायेव पत्ये उषती सुवासा[27]

प्रस्तुत मन्त्र में उपमा अलंकार का सुन्दर निर्देश हुआ है। अनेक लोग विद्या का अध्ययन करते हैं, परन्तु उनके समक्ष उन विद्याओं का रहस्य

प्रकाशित नहीं होता। अनेक लोग महत्त्व की बाते सुनते हैं पर उनका अभिप्राय उनके बोधगम्य नहीं होता। ऐसे ही लोगों को दृष्टि में रख कर इस वेद मन्त्र में निर्देश किया गया है 'उतत्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्'। अर्थात् कुछ लोग ऐसे हैं जो देखते हुए भी वाणी के स्वरूप को नहीं देख पाते और शृण्वन्नपि न शृणोत्येनाम्। अर्थात् सुनकर भी उसको सुन नहीं पाते हैं। ये दोनों ही विरोधाभास के सुन्दर और प्रसाद युक्त उदाहरण हैं इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे लोग हैं जिनके समक्ष सरस्वती अपना समस्त सौन्दर्य इस प्रकार प्रकाशित कर देती है जैसे सुन्दरतम वेषभूषा में अलंकृत पत्नी अपने पति के समक्ष अपना सौन्दर्य पूर्ण रूप से अनावृत कर देती है। प्रस्तुत मन्त्र की अन्तिम दो पंक्तियों में उपमा का यह सुन्दरतम रूप अत्यन्त मनोहारी एवं सहृदय के हृदय को आनन्द विभोर कर देने वाला है। उपमा अलंकार के सर्वश्रेष्ठ उदाहरणों में इसका परिगणन किया जा सकता है।

भरतीय काव्य शास्त्र के अनुसार अलंकार तीन प्रकार के माने जाते हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार। आचार्य भरतमुनि ने चार अलंकार स्वीकार किये हैं—उपमा, रूपक, यमक, और दीपक। वस्तुत उपमा आलंकारिक शैली का प्राण हैं और रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार इसी से प्रसूत हुए है।

वेदों में उपमा के उदाहरण यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

पराहि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये।

वयो न वसती उप।[28]

अर्थात् जिस प्रकार पक्षिगण अपने घोंसलों की ओर दौड़ते हैं उसी प्रकार हमारी क्रोधरहित बुद्धियां धन के लिए उस वरुण की ओर दौड़ पडती हैं। इस सूक्त के प्रथम एवं तृतीय मन्त्रों में भी उपमा अलंकार है। उपमा अलंकार की इयत्ता या सीमा नहीं है। इसके वेदों में स्थान-स्थान पर दर्शन हो जाते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद के समान ही सामवेद[29] यजुर्वेद[30] और अथर्ववेद[31] में भी उपमा अलंकार के दर्शन होते हैं। शुक्ल यजुर्वेद के इस मन्त्र में बाणों की बालकों के शिखाहीन बालों से उपमा दी है। 'यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखाइव'[32] यहाँ उपमा के अतिरिक्त बाणाः और विशिखाः में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

अथर्ववेद को पैप्पलाद संहिता के इस मन्त्र में अनेक अलंकारों की छटा दर्शनीय है—

शन्नोदेवी रभिष्टयऽग्रापो भवन्तु पीतये शंय्योरभिस्रवन्तु नः ।[33]

अर्थात् परमात्मा की शक्तियाँ हमारे अभीष्ट आनन्द और हमारी तृप्ति के लिए सुखदायी हों।

प्रस्तुत मन्त्र में शन्नो में लाटानुप्रास है तथा प्रथम शन्नो के साथ भवन्तु रहने से इसमें दीपक अलंकार भी है। यजुर्वेद के इस मन्त्र में बिम्ब प्रतिबिम्बी भाव का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

"अहरहप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै रायस्पोषण समिधा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम"[34]

अर्थात् जिस प्रकार घर के अश्व को प्रतिदिन घास दी जाती है उसी प्रकार खाद्य और भोजन सामग्री प्राप्त करते और तुझे प्रदान करते तथा अन्न धन की समृद्धि से सन्तुष्ट आनन्दित होते हुए हम तेरे पड़ौसी की तरह तुझमें प्रविष्ट होकर कभी पतित न हो। यह दृष्टान्त का सुन्दर उदाहरण बिम्ब प्रतिबिम्बी भाव की रस धारा को सतत प्रवाहशील करता है।
वेदों में अलंकारों का स्वाभाविक प्रवाह है। उनमें परोक्षवाद के भी अलंकार हैं, जो वस्तु व्यंग्य की शैली के हैं। ये स्वाभाविक अलंकारों के ही विकसित रूप हैं तथा वर्ण्य विषय को ध्वनित करने वाले और लाक्षणिक अधिक हैं। एक स्थान पर उषा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उत्प्रेक्षा अलंकार के मनोहर रूप में दर्शन हो जाते हैं—

उषा हस्र`व निरिणीते अप्सः ।[35]

अर्थात् उषा देवी हँसती हुई सी अपने अप्सः रूपाणि अर्थात् सौन्दर्य को प्रकाशित करती है इस मन्त्र में हँसती हुई सी हस्र`व में उत्प्रेक्षा अलंकार की मनोरम छटा दर्शनीय है। ऋग्वेद के अस्य वामीय सूत्र में अनेक उच्चकोटि के विषयों का वर्णन हुआ है।

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्य : पिप्पलं स्वाद्वत्ति अश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।[36]

अर्थात् दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा मित्रता के साथ एक ही वृक्ष -शरीर पर निवास करते हैं। इनमें से एक जीवात्मा स्वादु पिप्पल अर्थात् कर्मफल का भोग करता है तथा दूसरा परमात्मा कुछ भी भोग नहीं करता केवल दृष्टा मात्र है। यद्यपि प्रस्तुत मन्त्र में दर्शन शास्त्र के मौलिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है तथापि काव्य शास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र की दृष्टि

से भी इसका कम महत्त्व नहीं हैं। वेदों में प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार सृष्टि में ईश्वर, जीव और प्रकृति में तीन अनादि और अनन्त मौलिक तत्त्व हैं। ईश्वर प्रकृति के द्वारा सृष्टि की रचना करता है और जीव उस सृष्टि में अपने कर्मों के अनुसार सुख दुःख मय फलों का भोग करता है। इस मन्त्र में समस्त दर्शनों का रहस्य समाविष्ट कर दिया गया है। परन्तु इस जटिल दार्शनिक तत्त्व का निरूपण आलंकारिक शैली में होने से काव्य के समान सुन्दर एवं मनोरम प्रतीत होता है।

मन्त्र में इन दोनों मौलिक तत्त्वों, ईश्वर, जीव और प्रकृति का अपने नामों से उल्लेख न कर रूपकालंकार द्वारा दो पक्षियों और एक वृक्ष के रूप में रूपक बाँध कर प्रदर्शन किया है। प्रकृति एक विशाल वृक्ष के समान है ईश्वर और जीव द्वासुपर्णा सयुजा सखाया अर्थात् दो सुन्दर पंखों वाले साथ रहने वाले और मित्र रूपी पक्षी हैं, वे दोनों पक्षी समानं वृक्षं परिषस्वजाते अर्थात् समान वृक्ष प्रकृति पर अवस्थित है। तयोरन्यः पिप्पलंस्वाद्वत्ति— इन दोनों में से एक जीव उस वृक्ष के फल को खाता है अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार सृष्टि में सुख दुःख मय फलों का भोग करता है और अनश्नन्नन्यः अभिचाकषीति अर्थात् दूसरा पक्षी परमात्मा–फलों का भोग न करता हुआ संसार में चारों ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। काव्य की मनोरम भाषा में जटिल दार्शनिक तत्त्व का इतना सुन्दर चित्रण समस्त वाङ्मय में कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। रूपक की कल्पना अद्वितीय होने के साथ-साथ वह हृदय को आवर्जित करने वाली है उसके साथ सुपर्णा सयुजा, सखायाः समानं परिषस्व जाते में स्वतः अनुस्यूत अनुप्रास में मणिकाञ्चन संयोग को प्रस्तुत कर दिया गया है।

प्रस्तुत मन्त्र विभावना का भी सुन्दर उदाहरण है। कारण के बिना जहां कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो वहां विभावना अलंकार माना जाता है। फलों का भोग या भक्षण ही दैहिक सौन्दर्य का उत्कर्षाधायक है पर यहां अनश्नन् अर्थात् न खाने पर भी अभिचाकषीति में सौन्दर्य के प्रकाश का उल्लेख प्राप्त होता है। साहित्य दर्पण में विश्वनाथ द्वारा निरूपित प्रक्रिया के अनुसार यदि उसे उलट दिया जाय तो यह विशेषोक्ति का भी मनोहर उदाहरण बन सकता है। यहां अनश्नन् रूप सौन्दर्याभाव कारण के विद्यमान होते हुए भी सौन्दर्याभाव रूप कार्य की उत्पत्ति का उल्लेख नहीं है। न खाते हुए भी जो सौन्दय को प्रकाशित कर रहा है। इस प्रकार यहां कारण के होने पर भी कार्य के न होने से विशेषोक्ति अलंकार बन जाता है।

इस मन्त्र में न केवल रूपक, अनुप्रास, विभावना और विशेषोक्ति अलंकारों का ही निरूपण हुआ है अपितु सयुजा और सखाया विशेषणों से जीवात्मा और परमात्मा की नित्यता एवं सत चित् रूपता की अभिव्यक्ति भी होती है। अतः वे पदद्योत्य ध्वनि के उदाहरण है।

इस प्रकार यह स्पष्टतया प्रतिपादित किया जा सकता है कि वेदों में एक ही मन्त्र में अनेक अलंकारों, विविध गुणों एवं ध्वनि आदि काव्य के महत्त्वपूर्ण अंगों का सुन्दर समावेश प्राप्त होता है। और इस प्रकार वेदों में अनेक मन्त्रों में साहित्य शास्त्र के मौलिक तत्त्वों का दिग्दर्शन उपलब्ध होता है।

निरुक्त में काव्य शास्त्र

जैसा कि पूर्ववर्ती विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि वेदों में साहित्य शास्त्र के मूलभूत तत्त्वों का समावेश हुआ है। वेदों में उपलब्ध साहित्य शास्त्र के तत्त्व केवल व्यावहारिक प्रयोग मात्र हैं उनका शास्त्रीय विवेचन वहां दृष्टिगोचर नहीं होता। निरुक्तकार ने अलंकारों का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

उपमा अलंकार सभी अलंकारों का आदि स्रोत है। बीज रूप में यह अलंकार सभी अलंकारों का पोषक है। निरुक्तकार ने उपमा अलंकार का शास्त्रीय विवेचन करने की दिशा में प्रयास किया। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य के मत का उल्लेख करते हुए उपमा के लक्षण का इस प्रकार निर्देश किया है—

"यत् अतत् तत्सदृशं तदासां कर्म इति गार्ग्यः।"

अर्थात् जो स्पष्टतः भिन्न होने पर भी उसके सदृश हो वह इनका अर्थात् उपमा का कर्म अर्थात् विषय बन जाता है।

ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा
कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते।[37]

अर्थात् अधिक गुण वाले अत्यन्त प्रसिद्ध उपमान के साथ कम गुण वाले अथवा कम प्रसिद्धि वाले उपमेय का सादृश्य उपमा का विषय है। उपमान और उपमेय में ऊपर से भेद प्रतीत होने पर भी दोनों में सादृश्य दिखलाया जाता है। उपमा का यह सामान्य लक्षण परवर्ती साहित्याचार्यों ने स्वीकृत किया हैं। उपमा के इस रूप के अतिरिक्त निरुक्तकार ने 'अथापि कनीयसा ज्यायांसं' छोटे से बड़े की उपमा अर्थात् कम गुण वाले उपमान के साथ अधिक गुण वाले उपमेय के सादृश्य को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस प्रकार के सादृश्य के अनेक उदाहरण भी निरुक्तकार ने प्रस्तुत किये हैं। नवीन साहित्य में इस

प्रकार की उपमा को हीनोपमा की संज्ञा दी गई है तथा उसे दोष की कोटि में स्थान दिया है। परन्तु निरुक्तकार ने इस प्रकार के सादृश्य को दोषाधायक नहीं माना अपितु सुन्दर उपमा का ही ऋण स्वीकार कर ऋग्वेद से इस का उदाहरण प्रस्तुत किया है—

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीतां
इयन्ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयदभिरङ्गैः।

प्रस्तुत मन्त्र में आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक दोनों प्रकार के उत्कृष्ट तत्त्वों का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से इसमें मानव मात्र के लिए आत्मसंयम अथवा इन्द्रिय संयम का उपदेश दिया गया है। "रशनाभिर्दशभिरभ्यधि तां" अर्थात् दस रसनाओं (इन्द्रियों) से अपना संयम करना चाहिए इसके लिए तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू (वनगामिनी) वन में रहने वाले तस्करों को उपमान के रूप में में प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार वन में रहने वाले तस्कर 'तनूत्यजेव' अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी पर द्रव्यापहरण रूप कार्य को अत्यन्त निष्ठुरता से सम्पन्न करते हैं। इसी प्रकार मानव को भी निष्ठुरता एवं दृढता के साथ अपनी दसों इन्द्रियों का संयमन करना चाहिए। इस नियन्त्रण के द्वारा शुचयदभिरंगैः -पवित्र अंगों से रथम् युक्ष्वा–अपने जीवन–रथ का संचालन करना चाहिए। इस प्रकार संयत जीवन व्यतीत करने से 'यन्ते अग्ने नव्यसी मनीषा' प्रतिदिन जीवन के प्रशस्त पथ पर अग्रसर होने वाले तुमको प्रतिदिन आत्म साक्षात्कार के मार्ग से नूतन ज्ञान और नूतन स्फूर्ति प्राप्त होगी।

प्रकृत मन्त्र में अपनी इन्द्रियों के संयम के लिए तस्करों की निष्ठुरता को उपमान बनाया गया है। वैसे तो तस्करों को उपमान मानने के कारण यह हीनोपमा मानी जाती है परन्तु इन्द्रिय दमन के लिए अपेक्षित दृढता और निष्ठुरता को प्रदर्शित करने वाला यह मनोहर उपमा का उदाहरण है। इसीलिए निरुक्तकार ने इसे हीनोपमा रूप दोष न मानकर अलंकृत करने वाला ही स्वीकार किया है।

वेद में इस के अतिरिक्त अनेक उपमा बोधक शब्द उपलब्ध होते हैं। आ और चिद् भी इन उपमा वाचक शब्दों में परिगणित किये जाते हैं, उनके आधार पर निरुक्तकार ने अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं सूर्य के द्वारा रात्रि के अन्धकार को नष्ट करने का वर्णन करते हुए 'जार आ मजम्' में आ शब्द उपमा कर वाचक द्योतित हुआ।

वेद में था को भी उपमा वाचक शब्द के रूप में प्रयुक्त किया गया है। 'तप्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा' में था शब्द इव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ प्रत्नथा अर्थात् प्रत्न इव पूर्वथा अर्थात् पूर्व इव और विश्वथा–विश्व–इव आदि अर्थ किये जाते हैं।

लौकिक साहित्य के समान ही यथा और वत् का प्रयोग वेद में उपमा वाचक शब्द के रूप में देखा गया है।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति[38] में यथा शब्द उपमा बोधक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार प्रियमेधवत्, आत्रिवत् जातवेदो विरूपवत्[39] में वत् शब्द भी उपमा बोधक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। निरुक्त-कार ने उपमा के कर्मोपमा, भूतोपमा रूपोपमा, सिद्धोपमा और लुप्तोपमा आदि अनेक भेद किये हैं। लुप्तोपमा को ही अर्थोपमा के नाम से बोधित किया गया है, सिंहः, पुरुषः, काकः, परुषः आदि इस उपमा के उदाहरण दिये गये हैं। इसमें सिंह आदि शब्द प्रशस्तिपरक एवं काक आदि शब्द निन्दा बोधक है। उपमा का यह भेद परवर्ती साहित्य में रूपक अलंकार के रूप में व्यवहृत हुआ है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अलंकारों के बीज रूप उपमा का विशद विवेचन निरुक्तकार ने प्रस्तुत किया है। यही काव्य शास्त्र का सर्व प्रथम शास्त्रीय विवेचन है और इस प्रकार काव्य शास्त्र के मौलिक तत्त्वों के साथ-साथ शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से इसका अपूर्व महत्त्व है।

व्याकरण शास्त्र में काव्य शास्त्र

निरुक्त के समान ही व्याकरण का भी परिगणन वेदागों में किया गया है। वर्तमान व्याकरण शास्त्रों के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि व्याकरण शास्त्र पर अनेक वैयाकरणों ने ग्रन्थों की रचना की। परन्तु उन आचार्यों के ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं होते हैं। व्याकरण शास्त्रों में केवल पाणिनी व्याकरण ही उपलब्ध होता है। जिनमें भी निरुक्त के समान ही और उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से उपमा अलंकार का निरूपण किया गया है। सायान्यत; उपमा अलंकार के निम्न चार मुख्य भाग माने गये हैं।

1. उपमेय 2. उपमान

3. साधारण धर्म 4. वाचक शब्द।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के निम्नलिखित सूत्रों में इन सभी चारों भागों का स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त होता है :—

(1) **तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् ।**[40]

(2) **उपमानानि सामान्यवचनैः ।**[41]

(3) **उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे ।**[42]

इसके अतिरिक्त परवर्ती आलङ्कारिकों के द्वारा दिये गये श्रौती और आर्थी-भेदों का भी विशद विवेचन व्याकरण शास्त्र में उपलब्ध होता है ।

इस सन्दर्भ में यदि यह भी कहा जाय कि अलंकार शास्त्र का विवेचन व्याकरण शास्त्र के आधार पर ही हुआ है तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी । कविराज विश्वनाथ ने श्रौती और आर्थी उपमाओं का लक्षण प्रस्तुत करते हुए इन दोनों के भेदों की विवेचना की है ।

श्रौती यथेववा शब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि
आर्थी तुल्यसमानाद्या तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ।[43]

अर्थात् जहां उपमान के साथ 'यथा' 'इव' 'वा' आदि का प्रयोग किया जाय अथवा तत्र तस्यैव[44] इस सूत्र से इव अर्थ में वति प्रत्यय किया जाय अथवा तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः[45] के द्वारा वति प्रत्यय किया जावे वहां आर्थी उपमा होता है ।

साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ के इस लक्षण का आधार वस्तुतः व्याकरण शास्त्र ही है ।

काव्य प्रकाशकार मम्मट ने भी पूर्णोपमा के ही भेदोपभेद प्रस्तुत करते हुए उसके 6 भेद प्रतिपादित किये है—

साग्रिमा

श्रौत्यार्थी च भवेद् वाक्ये समासे तद्धिते तथा[46]

अर्थात् साग्रिमा पूर्णोपमा - श्रौती और आर्थी भेद से दो प्रकार की मानी गई है । तथा उनमें से प्रत्येक वाक्यगत, समासगत, तद्धितगत तीन प्रकार की—इस प्रकार पूर्णोपमा के 6 भेद हो जाते हैं । यथा, इव, वा आदि शब्दों के योग में आर्थी उपमा मानी जाती है । इसके कारण का विवेचन करते हुए काव्य प्रकाशकार ने लिखा है—

यथेववादिशब्दाः यत्परास्तस्यैवोपमानता प्रतीतिरिति यद्यप्युपमान विशेषणानि एते तथापि शब्दशक्ति महिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत् सद्भावे श्रौती उपमा तथैव तत्र तस्यैव इत्यनेव इवार्थे विहितस्य वतेरुपादानेऽपि । तेन तुल्यं मुखं इत्यादावुमेये एव 'तत्तुल्यमस्य' इत्या-

दौ उपमाने एव, इदंच तच्च तुल्यं इत्युभयत्रापि तुल्यादि शब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यता प्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वाद् तुल्यादि शब्दोपादाने आर्थी तद्वत् तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति रित्यनेन विहितस्यवतेः स्थितौ ।[47]

प्रस्तुत विवेचन का अभिप्राय है कि यथा इव आदि शब्द जिसके साथ प्रयुक्त होते हैं वहां उपमान होता है और षष्ठो विभक्ति के समान श्रवण मात्र से ही यहाँ इस सम्बन्ध की प्रतीति हो जाती है। अतः उनके होने पर वही श्रौती उपमा मानी जाती है। इसी प्रकार तत्र तस्यैव सूत्र के द्वारा वति प्रत्यय होने पर भी श्रवण मात्र से ही उपमान सम्बन्ध की प्रतीति होती है अतः इसके योग में भी श्रौती उपमा होती है यथा इव आदि शब्द सदा उपमान के साथ प्रयुक्त होते हैं, परन्तु तुल्य समान आदि उपमा वाचक शब्दों के साथ स्थिति भिन्न होती है। वे शब्द कभी उपमान के साथ प्रयुक्त होते हैं। कभी उपमेय के साथ कभी कभी दोनों के साथ भी प्रयुक्त होते हैं।

उदाहरणार्थ 'तेन तुल्यं मुखम्' में तुल्य शब्द का सम्बन्ध 'तेन'-इस उपमेय के साथ है, उपमान के साथ नहीं। 'तत्तुल्यमस्य' इस उदाहरण के तुल्य शब्द का प्रयोग उपमान के साथ है उपमेय के साथ नहीं। तथा 'इदञ्च तच्च तुल्यम्' उदाहरण में तुल्य शब्द का प्रयोग इदं और तत् अर्थात् उपमान और उपमेय दोनों के साथ हुआ है। अतएव इन शब्दों के प्रयोग में उपमान और उपमेय की प्रतीति तत्क्षण ही नहीं होती। विचार करने के अनन्तर यह निश्चय होता है कि प्रस्तुत वाक्य में तुल्य शब्द का प्रयोग किसके साथ हुआ है? अतः इस प्रकार के स्थलों में आर्थी उपमा मानी जाती है।

प्रकृत दोनों भेदों में 'तत्र तस्यैव' तथा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति':-इन दोनों सूत्रों का उपयोग किया गया है- अतः इन उपमा के भेदों पर व्याकरण शास्त्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों-आर्थी और शाब्दी-भेदों के वाक्यगत, समासगत एवं तद्धितगत जो तीन भेद दिखाये गये है वे पूर्णतः व्याकरण शास्त्र पर ही आधारित प्रतीत होते हैं।

इसके अतिरिक्त तद्धितगत श्रौती उपमा के उदाहरण से यह और भी स्पष्ट हो जायेगा।

सौरभमम्भोरुह वन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले।

प्रकृत उदाहरण में अम्भोरुहवत् में 'तत्र तस्यैव' सूत्र से वति

प्रत्यय होने से तद्धितगत श्रौती उपमा मानी जाती है। कुम्भाविव में 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिक के अनुसार कुम्भ शब्द के साथ इव शब्द का नित्य समास होने से समास गत श्रौती उपमा है। तथा शरदिन्दु र्यथा' में वाक्यगत श्रौती उपमा मानी जाती है। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में श्रौती उपमा के वाक्यगत, समासगत एवं तद्धितगत इन तीनों भेदों के उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं।

उसी प्रकार—

मधुरः सुधावदधरः पल्लव तुल्योऽतिपेलवः पाणिः।
चकित मृग लोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः॥

प्रस्तुत उदाहरण के सुधावत् पद में सुधया तुल्यं सुधावत्-इस विग्रह में 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्र से वति प्रत्यय होने से तद्धितगत आर्थी उपमा है। पल्लव तुल्य में समास गत आर्थी उपमा और मृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले में वाक्यगत आर्थी उपमा है।

पूर्णापमा के ये श्रौती और आर्थी भेद कुछ अंशों में व्याकरण के सूत्रों से नियमित हुए प्रतीत होते है, परन्तु लुप्तोपमा के पांच भेद तो पूर्ण रूप से व्याकरण के सूत्रों से ही नियमित होते हैं।

आधार कर्म विहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः।[48]
वादेर्लोपे समासे सा कर्माधार क्यचि क्यङि कर्मकर्त्रोर्णमुलि।[49]

प्रस्तुत विवेचन के आधार पर आधार और कर्म अर्थो में क्रमशः अधिकरणाच्च इस वार्तिक तथा उसके मूलभूत उपमानादाचारे[50] सूत्र से क्वच् प्रत्यय होने पर दो प्रकार की तथा कर्तुःक्यङ् सलोपश्च[51] सूत्र से क्यङ् प्रत्यय होने पर तीसरी प्रकार की तथा उपमाने कर्मणि च[52] सूत्र से उपमान भूत कर्म तथा कर्त्ता उपपद रहते किसी धातु से ण्वुल् प्रत्यय करने पर चौथी और पांचवीं धर्म लुप्ता उपमा होती है। इस प्रकार धर्म लुप्ता उपमा के पांचों भेद पूर्णतः व्याकरण शास्त्र के सूत्रों के आधार पर ही नियमित होते हैं। इन पाँचों भेदों के उदाहरण एक ही श्लोक में सम्मिलित रूप से निम्न निर्दिष्ट प्रकार से आ जाते हैं :-

अन्तः पुरीयसि रणेषु सुतीयसि त्वम्।
पौरं जनं तव सदा रमणीयते श्रीः।

दृष्टः प्रियाभिरमृत द्यु ति दर्शमिन्द्र-
संचारमत्र भुवि संचरसि क्षितीश ।

प्रकृत उदाहरण में से 'रणेपु अन्तः पुरीयसि' पद में आधार अर्थ में अधिकरणाच्च' वार्त्तिक से क्यच् प्रत्यय होकर अन्तः पुरमिव आचरसि अन्तपुरीयसि' रूप सिद्ध हुआ है ।

'पौरजन सुतीयसि' इस पद से सुतमिव आचरसि इस विग्रह से उप-मानादाचारे[53] सूत्रसे क्यच् प्रत्यय करने पर सुतीयसि निष्पन्न होता है ।

रमणीयते श्रीः में रमणी इव आचरति इस अर्थ में 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च[54] सूत्र से क्यङ् प्रत्यय होकर रमणीयते रूप बनता है। अमृत द्य तिदर्श 'दृष्ट': इस पद में और 'इन्द्र संचारम् संचरसि' इन दोनों उदाहरणों में उपमाने कर्मणि च[55] सूत्र से क्रमशः कर्त्ता और कर्म उपपद रहने पर ण्वुल् प्रत्यय लगा कर ये रूप सिद्ध हुए हैं । इस विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपमा के भेदोपभेदों पर व्याकरण - शास्त्र का पर्याप्त नियंत्रण रहा है । इसके अतिरिक्त यह भी तथ्य युक्तियुक्त और समीचीन प्रतीत होता है कि वेद तथा वेदांगों में काव्य शास्त्र के मौलिक तत्त्व बीज रूप में पर्याप्त मात्रा में होते हैं । काव्य शास्त्र के इन तत्त्वों के आधार पर भारतीय काव्य शास्त्र का भव्य प्रासाद विकसित हुआ तथा समय पाकर अलंकृत एवं सौन्दर्यातिशय से ओतप्रोत हुआ ।

काव्य का स्वरूप

उपर्युक्त विवेचन से कवि और काव्य शब्द का अर्थ स्पष्ट हो गया । अब यहाँ काव्य के स्वरूप का विवेचन असंगत नहीं होगा । प्रायः सभी सुप्रसिद्ध काव्य मनीषियों ने अपने अपने मतानुसार काव्य के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना गया है। अर्थ के बिना शब्द का कुछ मूल्य नहीं - वह डमरू के डिमडिम से भी कम मूल्यवान है। इसलिए शब्द और अर्थ की एकता को पार्वती-परमेश्वर की एकता का उपमान मानकर कवि कुल गुरु कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य के प्रथम श्लोक द्वारा इस अटूट सम्बद्ध को महत्ता प्रदान की । शब्द के साथ अर्थ और अर्थ से सहचरित शब्द - एक के बिना दूसरे की पूर्णता नहीं होती । अतएव दोनों मिलकर काव्य का शरीरत्व सम्पादित करते हैं ।

जिस प्रकार बिना शरीर के आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित किया जाना सम्भव नहीं उसी प्रकार आत्मा के बिना शृंगार की आलम्बन स्वरूपा ललित लावण्यमयी अंगनाओं के कोमल-कान्त-कमनीय कलेवर भी हेय, त्याज्य

और जुगुप्सा के विषय बन जाते हैं। अतः भारतीय काव्य शास्त्रियों ने काव्य की आत्मा को विशेष रूप से अपनी मनीषा और समीक्षा का विषय बनाया है।

इस काव्य के शरीर और आत्मा सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर पर काव्य का स्वरूप और उसकी परिभाषा निर्भर है। काव्य की समीक्षा इससे बहुत अंशों तक प्रभावित होती है।

काव्य के विविध लक्षणकारों में सर्वप्रथम काव्य की परिभाषा देते हुए नाट्य शास्त्र में उल्लिखित आचार्य भरत मुनि का यह श्लोक उपलब्ध होता है—

मृदुललित पदाढ्यं गूढ़ शब्दार्थ हीनं,
जन पद सुख बोध्यं युक्तिमन्नृत्य योज्यम्।
बहुकृत रस मार्गं सन्धिसन्धान युक्तं
स भवति शुभकाव्यं नाटक प्रेक्षकाणाम्।[57]

अर्थात् वह काव्य उत्तम माना जाता है, जो कोमल और सुन्दर पदों से युक्त हो, गूढ शब्द और अर्थ से रहित हो, जन साधारण के लिए सरलता से बोध गम्य हो, युक्ति संगत हो, नृत्य में उपयोग करने योग्य हो, रस के अनेक स्रोत बहाने वाला हो तथा सन्धियों के सन्धान से युक्त हो।

प्रस्तुत पद में भरतमुनि ने काव्य के लिए सात आवश्यक तत्त्व स्वीकार किये हैं। पहले और दूसरे विशेषणों से काव्य के उपयोगी शब्द और अर्थ लिये जाते हैं। पहले, दूसरे और तीसरे विशेषणों में माधुर्य, प्रसाद आदि गुणों का ग्रहण किया जाता है। द्वितीय विशेषण काव्य में दोष राहित्य को प्रतिपादित करता है। चतुर्थ विशेषण सम्भवतः अलंकारों की ओर संकेत करता है। छठा विशेषण काव्य की रसवत्ता को परिलक्षित करता है। पंचम एवं सप्तम विशेषणों में दृश्य काव्य के उपयोगी विषयों से यहां लेखक का तात्पर्य है।

नाट्य शास्त्र के अनन्तर महर्षि वेद व्यास ने अग्निपुराण में शास्त्र और इतिहास[58] से काव्य की पृथक्ता प्रतिपादित कर काव्य का यह लक्षण प्रस्तुत किया है :—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुटवदलंकारं गुणवद्दोष वर्जितम्।[59]

अग्निपुराण के अनुसार स्पष्ट अलंकारों से युक्त गुणों से उपेत तथा

दोषों से रहित संक्षेप में अभीष्ट अर्थ को भली भांति प्रतिपादित करने वाले वाक्य को काव्य की आख्या दी गयी है ।

अग्निपुराण के अनन्तर भामह ने शब्द और अर्थ से युक्त वाक्य समूह को काव्य माना है ।[60]

भामह के बाद दण्डी ने अपने काव्य लक्षण में अग्नि पुराण में निर्दिष्ट 'वाक्यं' के स्थान पर 'शरीरम्' का प्रयोग किया है ।[61] महाकवि दण्डी ने इष्ट अर्थ का विवेचन करने वाली पदावली को काव्य का शरीर स्वीकार किया है । परन्तु काव्य की आत्मा के विषय में वे मौन रहे । इसके अतिरिक्त यद्यपि भामह एवं दण्डी द्वारा उल्लिखित काव्य लक्षणों में अलंकारों के अस्तित्व तथा दोषाभाव का समावेश नहीं किया है तथापि उनके अन्यत्र निर्दिष्ट वाक्यों द्वारा[62] दोनों ही महाकवियों ने सालंकार और दोष रहित शब्दार्थ को ही काव्य माना है । इस प्रकार भामह एवं दण्डी स्थूल रूप से अग्निपुराण की विचार सरणि के पोषक है । पर रस को लेकर इनका मत अग्निपुराण से पूर्णतः मेल नहीं खाता । महर्षि वेद व्यास ने रस को ही काव्य का प्राण रूप स्वीकार किया है :—

वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रसएवात्र जीवितम् ।[63]

यद्यपि भामह ने काव्य में रस की स्थिति का होना आवश्यक बताया है[64] तथा इसी प्रकार दण्डी ने भी काव्य में अलंकारों को रस का उत्कर्षाधायक बताकर रस की ही मुख्यता को स्वीकार किया है ।[64] तथापि भामह और दण्डी दोनों ने ही काव्य में अलंकारों को ही प्रधान माना है ।
भामह और दण्डी के अनन्तर आचार्य वामन ने काव्य शब्द को इन सूत्रों से स्पष्ट किया है :—

"काव्यं ग्राह्य मलंकारात् ।' सौन्दर्यमलंकारः ।
"स दोष गुणालंकार हानादानाभ्याम् ।"[66]

वामन के अनुसार अलंकार सहित होने से काव्य ग्रहण करने योग्य है । सौन्दर्य ही अलंकार है । काव्य का दोष रहित, गुण एवं अलंकार सहित होना ही सौन्दर्य है । इस प्रकार काव्य शब्द को स्पष्ट करते हुए प्रथम सूत्र की वृत्ति[67] में वामन ने प्रतिपादित किया है कि काव्य शब्द ऐसे शब्दार्थ का वाचक है, जो गुण और अलंकारों से समाविष्ट हो । केवल शब्दार्थ मात्र का निर्देश एक लाक्षणिक प्रयोग है । अर्थात् 'काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्' इस वाक्य में

जिस प्रकार उपादान लक्षणा द्वारा दधिभक्षक' मात्र अर्थ का ग्रहण होता है उसी प्रकार काव्य शब्द से शब्दार्थ से सहचरित गुण और अलंकार दोनों ही लिये जाते हैं।

वामनाचार्य का उसके पूर्ववर्ती आचार्यों से इतना तो मतैक्य प्रतीत होता है परन्तु रीति को काव्य की आत्मा मानकर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों से नवीन तथ्य का प्रतिपादन किया है। "रीतिरात्मा काव्यस्य"– सूत्र पर रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य। शरीरस्येवेति वाक्य शेषः–वृत्ति लिखकर रीति को काव्य की आत्मा तथा शब्दार्थ को काव्य का शरीर स्वीकार किया गया है।

वामन के परवर्ती रुद्रट ने आचार्य भामह के काव्य लक्षण का अनुसरण करते हुए 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्[69] कह कर काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। परन्तु साथ ही उनके विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भी अलंकार सहित एवं दोष रहित शब्दार्थ को ही काव्य मानते हैं। साथ ही वे काव्य में रस की स्थिति को भी आवश्यक मानते हैं।[70]

रुद्रट के अनन्तर ध्वन्यालोक के रचयिता ध्वनिकार एवं आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा लिखे हुए सभी काव्य–लक्षणों को अनुपयुक्त मानकर अपने नवीन किन्तु दृढ़मूल ध्वनि - सिद्धान्त द्वारा ध्वन्यर्थ को ही काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया है।

ध्वन्यालोक के अनन्तर वक्रोक्ति जीवित के प्रणेता राजानक ने वक्रोक्ति–गर्भित शब्द और अर्थ को ही काव्य माना है :—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।[71]

आचार्य कुन्तक के अनन्तर महाराज भोज ने यद्यपि स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण नहीं लिखा है पर उनके द्वारा प्रतिपादित काव्य के उत्कृष्ट गुण ही उनके मत की पुष्टि करते हैं—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विन्दति।[72]

प्रस्तुत लक्षण में महाराज भोज ने अलंकार, गुण और दोषाभाव के साथ ही रस का भी समावेश किया है।

भोजराज के अनन्तर काव्य शास्त्र के उद्भट विद्वान् आचार्य मम्मट ने दोष रहित, गुण एवं अलंकार युक्त तथा कहीं स्फुट अलंकार रहित शब्द और अर्थ को काव्य माना है :—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।[73]

मम्मट का यह काव्य लक्षण अन्य लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित प्रतीत होता है । राजानक कुन्तक ने जिस तथ्य को अनेक कारिकाओं में प्रतिपादित किया है उसको मम्मट ने आधी कारिका में समाविष्ट कर दिया है । इसके अतिरिक्त काव्य लक्षण में अदोषौ और सगुणौ पदों को समाविष्ट कर उन्होंने एक नवीन दृष्टिकोण भी प्रतिष्ठित किया है । पूर्ववर्ती आचार्यों ने अपने लक्षणों में काव्य के शरीर-शब्द एवं अर्थ, उसकी आत्मा, रीति, रस या ध्वनि और उसके अलंकरणों की चर्चा तो की परन्तु उनमें गुण एवं दोषों की चर्चा का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता । मम्मट ने दोष एवं गुण के आवश्यक प्रश्न को प्रस्तुत किया है । सौन्दर्यातिशय से ओतप्रोत काव्य भी दोष के कारण अनुत्कृष्ट और गौरवहीन हो जाता है । सर्वप्रथम दोषापनयन के अनन्तर ही गुणाधान रूप संस्कार किया जाता है तदनन्तर अलंकार का स्थान माना जाता है । शरीर के संस्कार में दोषापनयन एवं गुणाधान रूप संस्कार तो अपरिहार्य हैं । अतएव मम्मट ने काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ के अदोषौ अगुणौ विशेषण के द्वारा इस अपरिहार्यता का प्रतिपादन किया है । अनलंकृती पुनः क्वापि के द्वारा उन्होंने काव्य मे अलंकारों की गौणता का निर्देश किया है । इस प्रकार संक्षेप में भावगाम्भीर्य के द्वारा आचार्य मम्मट ने अपने काव्य लक्षण को अत्यन्त सुन्दर एवं उपादेय बना दिया है ।

आचार्य मम्मट के अनन्तर हेम चन्द्राचार्य[74] एवं प्रताप रुद्र यशोभूषण के रचयिता विद्यानाथ[75] ने मम्मट के काव्य लक्षण का ही अनुसरण किया है साथ ही दोनों ने काव्य प्रकाश में उल्लिखित अनलंकृती के स्थान पर सालकारौ का प्रयोग किया है ।

काव्य शास्त्र के काल विभाग

इस प्रकार वैदिक साहित्य से आरम्भ कर व्याकरण शास्त्र के काल तक अर्थात् पाणिनि के समय तक की अलंकार शास्त्र की अवस्थिति पर इसके पहले विचार किया जा चुका है । यद्यपि अलंकार शास्त्र के इस विवेच्य काल में अलंकार शास्त्र के मौलिक तत्त्वों की पर्याप्त मात्रा में अवस्थिति उपलब्ध होती है तथापि उनका सुव्यवस्थित एवं सुनिश्चित शास्त्रीय विवेचन प्राप्त नहीं होता । काव्य शास्त्र का शास्त्रीय विवेचन मुख्यतः भरत मुनि से प्राप्त होता है । भरत मुनि के स्थिति काल के विषय में

विद्वान् एकमत नहीं हैं। भारतीय काव्य शास्त्र के विद्वान् उन्हें ईसापूर्व 2 शताब्दी से लेकर ईसा की द्वितीय शताब्दी के बीच स्वीकार करते हैं। अतः भरत मुनि से आरम्भ होकर आचार्य विश्वेश्वर तक फैले हुए काव्य शास्त्र के लगभग 2000 वर्ष के इतिहास को विद्वानों ने कई भागों में विभक्त किया है। भरत मुनि पहले आचार्य है, जिनके नाट्य शास्त्र में सर्व प्रथम काव्य शास्त्र का सुनियन्त्रित एवं सुनियोजित अध्ययन एवं विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् काव्य शास्त्र के आचार्यो ने विस्तृत एवं क्रमबद्ध विवेचन किया। अतः 18 वीं शताब्दी तक के लम्बे इतिहास का वर्गीकरण अपेक्षित है। अधिकांश विद्वानों ने इस लम्बे 2000 वर्ष के काव्य शास्त्र के इतिहास के काल को चार भागों विभक्त किया है :—

1. प्रारम्भिक काल (भामह तक)
2. रचनात्मक काल (भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक)
   (अर्थात् विक्रम सं० 600 से विक्रम सं० 800 तक)
3. निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन स लेकर मम्मट तक)
   (अर्थात् वि० सं० 800 से लेकर वि० सं० 1000 तक)
4. व्याख्यात्मक काल (मम्मट से लेकर विश्वेश्वर तक)

प्रारम्भिक काल में अज्ञात काल से आरम्भ होकर सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में होने वाले भामह तक के काल को परिगणित किया जाता है। इस काल में मुख्यतः भरत और भामह-ये दो ही आचार्य दृष्टि गोचर होते हैं। महर्षि भरत द्वारा प्रणीत नाट्य शास्त्र ही संस्कृत काव्य शास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ हं। इसमें रस और नाट्य के सूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन वहुत सुन्दर प्रकार से किया गया है। यह ग्रन्थ भारतीय ललित कलाओं का विश्वकोश कहा जा सकता है। इसमें नाट्य की प्रधानता होने पर भी तदुपकारक अलंकार—शास्त्र, संगीत शास्त्र, छन्दः शास्त्र आदि शास्त्रों के मूल सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है। यह शास्त्र एक ही काल की रचना प्रतीत नहीं होता प्रत्युत यह अनेक शताब्दियों के विस्तृत साहित्यक चिन्तन की परिणति है। नाट्य शास्त्र के तीन अंश विद्यमान हैं :—

1. सूत्र भाष्य—यह गद्यात्मक अंश, नाट्य शास्त्र का प्राचीनतम रूप है। यह माना जाता है कि मूल ग्रन्थ में सूत्र एवं भाष्य ही थे, विकास के साथ साथ जिसमें अन्य अंश भी सम्मिलित कर दिये गये।

2. कारिका—मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को सम्यक्तया समझाने के लिए इन कारिकाओं की रचना की गयी।

3. ग्रानुवंश्य श्लोक—गुरु शिष्य परम्परा से प्राप्त ये प्राचीन पद्य ग्रार्या ग्रथवा ग्रनुष्टुप् छन्द में निबद्ध किये गये हैं। ग्रभिनव गुप्त द्वारा रचित टीका ग्रभिनव भारती के ग्राधार पर ये पद्य भरत मुनि से पूर्ववर्ती एवं प्राचीनतर ग्राचार्यो के द्वारा रचे गये हैं। भरत मुनि ने ग्रपने सूत्रों की पुष्टि के लिए इन्हें इस ग्रन्थ में संगृहीत किया है।[76]

ग्राचार्य भरत रस सम्प्रदाय के ग्राचार्य हैं। इनके मत से नाटक में रस की ही प्रधानता रहती है। ग्रलंकार शास्त्र का विवेचन ग्रानुषङ्गिक रूप से 6,7 एवं 16 ग्रध्यायों में किया गया है। यह समस्त विवेचन मूलभूत है, बीज भूत है। परवर्ती ग्राचार्यों ने उसे ग्राधार मानकर ग्रपने ग्रन्थों का विस्तार किया है। नाट्य शास्त्र के 16 वें ग्रध्याय में केवल 4 ग्रलंकार, 10 गुण ग्रौर 10 दोषों का विवेचन किया गया है। ग्रलंकार शास्त्र की दृष्टि से यह एक रूप रेखा मात्र ही कहा जा सकता है

ग्राचार्य भामह ने मेधावी नामक ग्रालंकारिक का दो बार उल्लेख किया है।[77] उन्होंने कहा है कि मेधावी ने उपमा के सात दोष बताये हैं।

नमि साधु ने रुद्रट के काव्यालंकार (1, 2) पर व्याख्या करते हुए लिखा है–"ननु दण्डि मेधाविरुद्र भामहादिकृतानि सन्त्येवालंकार शास्त्राणि।" प्रस्तुत पंक्ति में मेधाविरुद्र शब्द का प्रयोग हुग्रा है। ग्रब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यहां मेधाविरुद्र एक ही नाम है ग्रथवा मेधावी ग्रौर रुद्र ग्रलंकार शास्त्र के दो भिन्न लेखक हैं। यहां यह विचारणीय विषय है कि रुद्र द्वारा रचित किसी ग्रलंकार ग्रन्थ का उल्लेख किसी ग्रन्य ग्रलंकार ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। रुद्रभट्ट रचित शृंगार तिलक, जैसा कि उनकी विषय सूची से प्रतीत होता है, ग्रलंकार ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। ग्रतः सम्भव है कि इनका पूरा नाम मेधाविरुद्र हो। जिस प्रकार धर्मकीर्ति ग्रौर भर्तृहरि को प्रायः कीर्ति ग्रौर हरि शब्द से उद्धृत किया जाता है उसी प्रकार मेधाविरुद्र भी मेधावी-नाम से निर्दिष्ट किये गये हों यह भी युक्ति संगत प्रतीत होता है। मेधावी की कोई रचना ग्राज तक उपलब्ध नहीं हुई।

मेधावी के बाद धर्म कीर्ति का नाम लिया जाता है पर इनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है। केवल सुबन्धु प्रणीत वासवदत्ता में यह पंक्ति उल्लिखित है–'बौद्ध संगीतमिवालंकार भूषिताम्"। इसके ग्राधार पर कुछ विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि धर्म कीर्ति एक प्राचीन ग्रलंकार शास्त्र के ग्राचार्य एवं लेखक थे।

इस परम्परा में विष्णुधर्मोत्तर पुराण की भी चर्चा किया जाना ग्रसंगत नहीं। यह ग्राश्चर्यजनक सत्य है कि ग्रलंकार शास्त्र की चर्चा करते

हुए प्रायः सभी आचार्यों ने अग्निपुराण का उल्लेख किया है पर विष्णुधर्मोत्तर पुराण को सभी ने विस्मृत कर दिया। प्रस्तुत पुराण में प्रायः नाट्य शास्त्र का ही अनुसरण किया गया है। अन्तर केवल कुछ बातों में है, जैसे कि रूपक एवं रसों की संख्या। अतः नाट्य शास्त्र की तुलना में यह बहुत परवर्ती है।

विष्णुधर्मोत्तर को भट्टि से पूर्वकालीन माना गया है। भट्टि काव्य की रचना मुख्यतया व्याकरण के उदाहरण देने के लिए की गयी थी। इसमें चार खण्ड है—

1. प्रकीर्ण काण्ड (1-5 सर्ग)
2. अधिकार काण्ड (6-9 सर्ग)
3. प्रसन्न काण्ड (10-13 सर्ग)
4. तिङन्त काण्ड (14-22 सर्ग)

प्रसन्न काण्ड में काव्य शास्त्र सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया है। दशम सर्ग में 38 अलंकारों के उदाहरण हैं, जिनमें अनुप्रास और यमक नामक दो शब्दालंकार भी सम्मिलित हैं। एकादश सर्ग में 47 श्लोक हैं और माधुर्य गुण के उदाहरण दिये गये हैं। द्वादश सर्ग में 87 श्लोकों में भाविक अलंकार के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। त्रयोदश सर्ग में 50 श्लोकों में भाषा सम के उदाहरण दिये गये हैं इन सर्गों के कारण भट्टि का नाम भी काव्य शास्त्र के इतिहास में सम्मिलित हो गया है।

भरत के अनन्तर अनेक शताब्दियों तक काव्यशास्त्र के किसी ग्रन्थ के उपलब्ध न होने से काव्यशास्त्र के इतिहास में अन्धकार का साम्राज्य दृष्टि-गोचर होता है। इस काल के आलकारिकों के नाम एवं कृतियों से काव्यशास्त्र के छात्र को अपरिचित रहना पडता है। वास्तव में भरत पश्चात् युग का सर्व प्रथम मान्य ग्रन्थ भामह द्वारा रचित काव्यालंकार ही माना जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में नाट्य शास्त्र की परतन्त्रता से उन्मुक्त होकर अलंकार शास्त्र एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में उपस्थित होता है। भामह का ग्रन्थ भी कुछ समय पूर्व ही प्राप्त हुआ है। काव्यालंकार में 6 परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेद में काव्य के साधन, लक्षण तथा भेदों का वर्णन किया गया है। दूसरे तथा तीसरे में अलंकारों का विस्तृत विवेचन है। चतुर्थ परिच्छेद में भरत प्रदर्शित दस दोषों का सांगोपांग वर्णन किया गया है। पञ्चम परिच्छेद में न्याय विरोधी दोष की मीमांसा की गयी है। षष्ठ परिच्छेद में कतिपय विवादास्पद पदों के शुद्ध रूप का विवेचन किया गया है। इस प्रकार 6 परिच्छेदों एवं चार सौ श्लोकों में अलंकार शास्त्र के समस्त प्रमुख तथ्यों का समावेश किया गया है।

भामह के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त समस्त आलंकारिकों को मान्य है। उनके विशिष्ट कतिपय सिद्धान्तों का उल्लेख करना यहां असमीचीन नहीं होगा। वे सिद्धान्त हैं—

(1) भामह ने शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् के द्वारा शब्द-अर्थ के युगल को काव्य की संज्ञा दी है।

(2) उन्होंने भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित दस गुणों का ओज, माधुर्य और प्रसाद–इन तीन गुणों में ही समावेश कर दिया है।

(3) वक्रोक्ति को उन्होंने समस्त अलंकारों के मूल रूप में माना है, जिसका विकास कुन्तक के वक्रोक्ति जीवित में स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

(4) भामह ने दस प्रकार के दोषों का सुन्दर विवेचन किया है।

आचार्य भामह ने हेतु, सूक्ष्म और लेख को अलंकार कोटि में नहीं परिगणित किया क्योंकि उनमें वक्रोक्ति नहीं है। उनका कथन है कि वक्रोक्ति के बिना किसी की अलंकारों में गणना नहीं की जा सकती।

रचनात्मक काल

भरत के नाट्य शास्त्र के अनन्तर काव्य शास्त्र का इतिहास अन्धकार पूर्ण वातावरण से निकल कर भामह के साथ ही उदयकालीन रश्मियों का साक्षात्कार करता है। कांव्य शास्त्र के उपलब्ध आचार्यो में भामह को अलंकार सम्प्रदाय का प्राचीन तम आचार्य माना जा सकता है। साहित्य शास्त्र का दूसरा महत्त्वपूर्ण काल रचनात्मक काल है, जो भामह से लेकर आनन्द वर्धन तक दो सौ वर्षो मे फैला हुआ है। प्रस्तुत काल में साहित्य शास्त्र के चारों मुख्य सम्प्रदायों-अलंकार-सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय तथा ध्वनि सम्प्रदाय - के मौलिक ग्रन्थों की रचना हुई। साहित्य ास्त्रियों की दृष्टि से इस काल का अत्यधिक महत्त्व है।

अलंकार सम्प्रदाय

काव्य शास्त्र के आचार्यो में भामह का प्रमुख स्थान है। ये अलंकार सम्प्रदाय के प्राचीनतम आचार्य माने जाते हैं। काव्यालंकार 6 परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में काव्य के प्रयोजन, कवि की योग्यता, काव्य का लक्षण एवं भेदों का परिगणन किया गया है। भेदों का निरूपण कई दृष्टियों से किया गया है–गद्य और पद्य, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश। इसके अनन्तर काव्य का विभाजन किया गया है।

तदनन्तर कथा और आख्यायिका के पारस्परिक भेद का प्रतिपादन किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तिम परिच्छेद में सौशब्द्य अर्थात् व्याकरण शुद्धि के लिए कवियों को निर्देश दिये गये हैं।

अलंकार सम्प्रदाय में भामह के अनन्तर उद्भट का नाम लिया जाता है। ये वामन के समकालीन थे तथा राजा जयापीड की सभा के सभाध्यक्ष थे। एक ही राजा के आश्रय में रहने पर भी उद्भट और वामन साहित्य के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धी प्रतीत होते हैं। एक ओर उद्भट जहां अलंकार सम्प्रदाय के उन्नायक थे तो दूसरी ओर वामन रीति सम्प्रदाय के पोषक थे। दोनों ही अपने-अपने विषय से सम्बद्ध मौलिक सिद्धान्तों के प्रवर्तक एवं आविष्कारक थे। कल्हण[78] के अनुसार इनका प्रतिदिन का वेतन एक करोड़ दीनार था। यदि यह बात सत्य हो तो उद्भट वस्तुतः धनाढ्य एवं भाग्यशाली व्यक्ति रहे होंगे।

उद्भट की कीर्ति पताका 'काव्यालंकार सार संग्रह' नामक ग्रन्थ पर ही अवलम्बित है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 6 वर्ग है, जिनमें 79 कारिकाओं में 41 अलंकारों का विशद विवेचन है। ग्रन्थ का वर्ण्य विषय अलंकार ही है। भामह के समान अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी होने पर भी और भामह के टीकाकार होते हुए भी उद्भट का अनेक सिद्धान्तों में भामह से भेद दृष्टिगोचर होता है। उद्भट के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—

(1) ये अर्थ - भेद से शब्द - भेद को स्वीकार करते हैं।
(अर्थ भेदेन तावत् शब्दा भिद्यन्ते)

(2) इन्होंने शब्द श्लेष एवं अर्थश्लेष - ये श्लेष के दो भेद माने हैं तथा इनको अर्थालंकार में परिगणित किया है।

(3) ये अन्य अलंकारों के योग में श्लेष अलंकार की प्रवलता को मानते हैं।

(4) इनके मत में वाक्य का अभिधा व्यापार तीन प्रकार से होता है।

(5) अर्थ की द्विविध कल्पना – सुविचारित सुस्थ कल्पना एवं अविचारित रमणीय – भेद रूप कल्पना इनकी मान्यता है।

(6) गुणों को इन्होंने संघटना का धर्म स्वीकृत किया है।

अलंकार सम्प्रदाय की परम्परा में उद्भट के अनन्तर भामह के दूसरे टीकाकार रुद्रट का स्थान है। काव्यालंकार नामक ग्रन्थ इनकी ख्याति को संस्कृत साहित्य जगत् में अमर बनाये हुए है। प्रस्तुत ग्रन्थ विषय की दृष्टि से अत्यन्त व्यापक है और इसमें अलंकार शास्त्र के समस्त सिद्धान्तों की विस्तृत समीक्षा की गयी है।

काव्य के प्रयोजन, उद्देश्य तथा कवि सामग्री के अनन्तर अलंकार का विस्तृत एवं सुव्यवस्थित विवेचन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। भाषा. रीति, रस तथा वृत्ति की मीमांसा होने पर भी अलंकारों की समीक्षा ही प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य है।

रुद्रट ने सर्वप्रथम अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। उन्होंने अलंकारों के लिए चार मूल तत्त्वों का अन्वेषण किया है- वास्तव, औपम्य, अतिशय एवं श्लेष। रसों का भी इन्होंने सविस्तर वर्णन किया है, परन्तु इनका अलंकार के विवेचन पर ही आग्रह रहा है।

रीति सम्प्रसाय

जहां एक और भामह आदि आलंकारिकों ने काव्य के बाह्य उपकरण अलंकारों का निरूपण किया वहां दूसरी ओर दण्डी और वामन ने काव्य की रीति एवं उसके गुणों की विवेचना की।

वामनाचार्य के ग्रन्थ काव्यालंकार सूत्र में रीति सम्प्रदाय का चरमोत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। ये 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कह कर रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले महान् आलंकारिक हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में सूत्र पद्धति के द्वारा अलंकार शास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का विवेचन किया है, और इसके अतिरिक्त इन सूत्रों पर स्वयं ने वृत्ति भी लिखी है। प्रथम (शरीर) अधिकरण में काव्य के प्रयोजन, लक्षण तथा वैदर्भी, गौडी एवं पाञ्चाली इन रीतियों का वर्णन किया गया है। द्वितीय अधिकरण में पद, वाक्य एवं वाक्यार्थ के दोषों का प्रतिपादन किया गया है। तृतीय अधिकरण शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ एवं उभयनिष्ठ होने से गुणों के विविध भेदों का बर्णन प्रस्तुत करता है। चतुर्थ अधिकरण में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। अंतिम अधिकरण में कतिपय शब्दों की शुद्धि तथा उनके प्रयोग की चर्चा की गयी है। वामन रीति - सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं। रीतिरात्मा काव्यस्य' इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। वामन के विशिष्ट सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(1) ये गुण और अलंकारों का प्रभेद मानते हैं।
(2) ये तीन प्रकार की - वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली रीतियों को स्वीकार करते हैं।
(3) वक्रोक्ति का 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' यह लक्षण इन्होंने प्रस्तुत किया है।
(4) विशेषोक्ति का विचित्र लक्षण।

(5) आक्षेप की द्विविध कल्पना इनकी विशेषता है ।

(6) समग्र अलंकारों को उपमा - प्रपंच मानना ।

दण्डी का काव्यादर्श अंशतः रीति सम्प्रदाय का समर्थक है और अंशतः अलंकार सम्प्रदाय का । उसमें गुण और अलंकार दोनों का ही विस्तृत वर्णन किया गया है । अतः उसे किसी भी एक सम्प्रदाय में सम्मिलित नहीं किया जा सकता ।

महाकवि दण्डी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण कर उसे गद्य, पद्य एवं मिश्र - इन तीन रूपों में विभाजित किया है । साथ ही सर्गबन्ध के लक्षण भी प्रस्तुत किये है। दण्डी ने कथा और आख्यायिका भेद से गद्य के दो रूपों का निरूपण किया हैं । उनकी मान्यता है कि कथा और आख्यायिका के इन दोनों रूपों में वस्तुतः कोई भेद नहीं है । दण्डी ने साहित्य को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं मिश्र-इन चार भागों में विभक्त किया है । महाकवि दण्डी ने कवि के तीन आवश्यक गुण - प्रतिभा, श्रुति एवं अभियोग की भी चर्चा की है । उन्होंने उपमा अलंकार के अनेक प्रकार प्रदर्शित किये हैं ।

दण्डी ने भामह के सिद्धान्त का खण्डन स्थान-स्थान पर किया है । ये अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी थे । पर वैदर्भी एवं गौडी रीतियों के पारस्परिक भेद को प्रथम बार प्रदर्शित करने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है । इस कारण ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्ग - दर्शक माने जाते हैं ।

राजशेखर के कथन के आधार पर नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा के उपदेश से सर्व प्रथम रस निरूपण किया । परन्तु नन्दिकेश्वर का रस विषयक ग्रन्थ कहीं उपलब्ध नहीं होता । उपलब्ध रस सिद्धान्त का सम्बन्ध भरत मुनि से है । भरत रस सम्प्रदाय के प्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं । नाट्य शास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में रस और भाव का जो निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह साहित्य जगत् में एक अपूर्व वस्तु है ।

भरत ने रस सम्प्रदाय के मूल तत्त्व को 'विभावानुभाव सञ्चारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः– इस सूत्र में निहित कर दिया है । देखने में यह सूत्र जितना छोटा है, विचार करने में यह उतना ही सारगर्भित है । भरत के इस सूत्र की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गयी है । इन टीकाकारों में भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनव गुप्त माने जाते हैं ।

भरत सूत्र के प्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट माने जाते हैं । इनका स्वरचित ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है । किन्तु इनका रस सम्बन्धी मत

अभिनव भारती, ध्वन्यालोक लोचन एवं मम्मट कृत काव्य प्रकाश में उपलब्ध होता है। भरत के प्रथम व्याख्याकार होने के कारण इनके विचार का भरत के मतों से अधिक साम्य है। साथ ही इन्होंने रस सूत्र के विवेचनों में कतिपय नवीन संकेत भी प्रस्तुत किये हैं। भरत के रस सूत्र को स्वीकार करते हुए भी इन्होंने उसका स्पष्टीकरण अपने ढंग से किया है।

भट्ट लोल्लट मीमांसा सिद्धान्त के अनुयायी हैं। इनके अनुसार विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से अनुकार्य रामादि में रस की उत्पत्ति होती है। विभाव रस के उत्पादक, अनुभाव उत्पन्न हुए रस के बोधक, तथा व्यभिचारी भाव उसके पोषक हैं। इसलिये स्थायी भाव के साथ विभावों का उत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बन्ध, अनुभावों का गम्य गमक भाव सम्बन्ध एवं व्यभिचारि भावों के साथ पोष्य पोषक भाव सम्बन्ध होता है।

शंकुक रस सूत्र के दूसरे व्याख्याकार हैं। उन्होंने रस-सिद्धान्त को अनुमितिवाद कहा है। लोल्लट की तरह उनके मत का उल्लेख अभिनव भारती, ध्वन्यालोकलोचन एवं काव्य प्रकाश में उपलब्ध होता है। इस सिद्धान्त में निष्पत्ति शब्द का अर्थ है– अनुमिति एवं संयोग का अर्थ है अनुमाप्य अनुमापक भाव सम्बन्ध। शंकुक के मतानुसार रस की उत्पत्ति नहीं होती प्रस्तुत रस का अनुमान किया जाता है। उन्होंने सहृदय सामाजिक के साथ रस के सम्बन्ध को प्रदर्शित कर उसी में रस की स्थिति को स्वीकार किया है। सामाजिक अभिनेताओं को ही दुष्यन्त आदि मानकर नाटक के पात्रों के साथ उनकी अभिन्नता का अनुभव करता है। सामाजिकों का यही अनुमान जन्य ज्ञान रसानुभूति का हेतु बनता है।

नाट्य शास्त्र या भरत सूत्र के तीसरे व्याख्याकार है भट्टनायक, जिन्होंने भुक्तिवाद नामक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनका मत भी पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति अभिनव भारती, ध्वन्यालोक लोचन एवं काव्य प्रकाश में उपलब्ध होता है। इनके रस-विवेचन का आधार है सांख्य-दर्शन। इन्होंने उत्पति वाद, अनुमितिवाद एवं अभिव्यक्तिवाद का खण्डन कर अपने मत- भुक्तिवाद की स्थापना की है। इनके मतानुसार विभावादिकों के द्वारा भोज्य-भोजक रूप सम्बन्ध से सामाजिक को रस का भोग या आस्वादन होता है। अतः यह मत भुक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

उनका यह मन्तव्य है कि रस की निष्पति अनुकार्यगत अर्थात् रामादिनिष्ठ अथवा अनुकर्तृगत अर्थात् नटनिष्ठ नहीं हो सकती क्योंकि सामाजिक से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता अतः सामाजिक के लिए वह निष्प्रयोजन

है। इसके अतिरिक्त यह भी यथार्थ है कि रस की अभिव्यक्ति होती है। चूंकि रस अनुभूति है अतः अनुभव से पूर्व या पश्चात् उसकी सत्ता नहीं रह सकती। अनुकार्य या नायक एवं अनुकर्त्ता या नट-दोनों ही तटस्थ या उदासीन रहते हैं अतः अभिनय से सम्बद्ध तीन व्यक्तियों में से सामाजिक में ही रस की प्रतीति होती है।

ध्वनि सम्प्रदा

भरत नाट्य शास्त्र के प्रसिद्ध रस सूत्र की व्याख्या एवं मीमांसा करने वाले भट्टलोल्लट. शंकुक एव भट्टनायक आदि ने नाट्य शास्त्र पर टीका लिखकर रस सिद्धान्त को स्पष्ट करने का प्रयास किया और इसी काल में आनन्दवर्धनाचार्य ने अपना ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ लिखकर ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की।

ध्वनि - सिद्धान्त संस्कृत काव्यशास्त्र का अत्यधिक महत्त्वशाली एवं प्रौढ़ सिद्धान्त है। ध्वनि - सिद्धान्त का एक मात्र आधार ग्रन्थ है—ध्वन्यालोक। इस प्रकार आनन्दवर्धन को ही ध्वनि - सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय है। इस सम्प्रदाय के आचार्य ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।

ध्वन्यालोक में ध्वनि - सिद्धान्त का प्रौढ रूप प्रस्तुत हुआ है। इसमें चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि विरोधी मतों की समीक्षा है। दूसरे और तीसरे उद्योत में ध्वनि के प्रकारों का विवेचन है। चतुर्थ में ध्वनि की उपयोगिता का वर्णन है।

आनन्दवर्धन की सर्व प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने ध्वनि-विरोधी सिद्धातों का प्रबल खण्डन कर ध्वनि तथा व्यंजना की स्थापना की है। इनसे पूर्व ध्वनि के विषय में तीन मत प्रचलित थे—

(1) अभाव वाद
(2) भक्ति (लक्षणा) वाद
(3) अनिर्वचनीयता वाद

इन तीनों वादों का उत्तर देकर आनन्द वर्धन ने व्यंजना की स्वतन्त्र सत्ता स्थिर की और ध्वनि के प्रकारों का पहली बार विवेचन किया।

निर्णयात्मक काल

आनन्द वर्धन से आरम्भ होकर मम्मट तक साहित्य शास्त्र का महत्त्व पूर्ण काल है, जिसे निर्णयात्मक काल के नाम से उद्बोधित किया जाता है। इस निर्णयात्मक काल की परिधि में वि० सं० 800 से लेकर वि० सं० 1000 तक का समय गिना जाता है।

ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' एवं नाट्यशास्त्र की अभिनव भारती टीका के निर्माता अभिनव गुप्त, कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट इस युग के प्रधान आचार्य हैं। इनमें से कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक हैं और महिम भट्ट का व्यक्ति विवेक ध्वनि सिद्धान्त का आमूल खण्डन करने वाला उच्च कोटि का ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त रुद्रभट्ट, भोजराज, धनिक और धनंजय भी इसी काल के उत्कृष्ट आचार्य हैं।

साहित्यशास्त्र का चतुर्थ महत्त्वपूर्ण काल व्याख्या काल के नाम से प्रख्यात है, जो मम्मट से आरम्भ होकर जगन्नाथ एवं आचार्य विश्वेश्वर तक लगभग साढे सात सौ वर्षों से फैला हुआ है। हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जयदेव आदि आचार्यों ने काव्य की सर्वांगपूर्ण विवेचना की है तथा काव्य के समग्र विषयों को अपने ग्रन्थों में समाविष्ट किया है।

व्याख्याकाल

रुय्यक तथा अप्पय दीक्षित केवल अलंकारों के विवेचन में ही लगे रहे। शारदातनय, भानुदत्त आदि ने रस-सिद्धान्त के विवेचन में उत्कृष्ट कोटि का विवेचन प्रस्तुत किया है। राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अमर चन्द आदि ने कवि–शिक्षा का विषय लेकर अपने ग्रन्थों का निर्माण किया।

यह एक शैली से काल विभाजन किया गया है जिसमें साहित्य शास्त्र के दो सहस्र वर्ष के इतिहास को चार भागों में विभक्त किया गया है। अन्य विद्वानों ने ध्वनि सिद्धान्त को साहित्य शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त मान कर इस काल को तीन भागों में विभक्त किया है—

पूर्वध्वनिकाल—प्रारम्भ से आनन्द वर्धन तक
ध्वनि काल—आनन्द वर्धन से मम्मट तक
उत्तर ध्वनि काल—मम्मट से जगन्नाथ तक

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सस्कृत साहित्य शास्त्र का दीर्घ काल तक भारत में सर्वांगपूर्ण अध्ययन होता रहा। काव्य शास्त्र के विविध विषयों को लेकर गहन चिन्तन, विशद एवं विस्तृत विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र के मनीषी आचार्यों ने किया है। वैदिक उद्गम से आरम्भ होकर काव्यशास्त्र गहन एवं व्यापक चिन्तन का क्षेत्र रहा है। रस सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय आदि इस प्रकार की उद्भावनाएँ हैं, जो अनुपम एवं अद्वितीय है। यह अध्ययन आगे आने वाले चिन्तन एवं विवेचन के लिए दीप-स्तम्भ के समान मार्ग-दर्शन करने में समर्थ है। रीति कालीन हिन्दी साहित्य एवं वर्तमान हिन्दी साहित्य के विविध उपकरणों का अध्ययन संस्कृत काव्य

शास्त्र को आधार बनाये बिना होना सर्वथा असम्भव है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आलोक में ही यह अध्ययन हो सकता है। भारतीय आचार्यों की यह एक अमूल्य निधि है, जिस पर प्रत्येक भारतीय गर्व किये बिना नहीं रह सकता।

सन्दर्भ

1. गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति। काव्यालंकार सूत्र वृत्ति में काव्यालंकार सूत्र 1/3/21 पर वामन ने उद्धृत किया।
2. व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिः समैरयत्। स प्रजापतिः सुवर्ण मात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत्। तदेकमभवत्, तल्ललामभवत्, तन्महद-भवत्, तज्ज्येष्ठमभवत् तद् ब्रह्माभवत्, तत्तपोऽ भवत्, तत्सत्यमभवत्, तेन प्राजायत। अथर्व 15/1
3. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता अग्ना-वैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीवमेकादश कपालं सर्वाभ्य एवैनं तद् देतताभ्योऽ नन्तरायं निर्वपन्ति।
4. यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति तद्भूमा। अथ यत्रा-न्यत्पश्यति अन्यच्छृणोति अन्य द्विजानातीति तदल्पं यो वै भूमा तदमृत-मथ यदल्पम् तन्मर्त्यम्।

—छान्दोग्य ब्राह्मण 7/24

5. सूत्र का लक्षण—

   (क) स्वल्पाक्षर मसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
   अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।

   (ख) अल्पाक्षरत्वे सति बह्वर्थ द्योतकत्वम् सूत्रत्वम्।
6. यथैव व्योम्नि वह्निपिण्डोपमं त्वामहमपश्यं तथैवाद्याग्रतो गतमप्यत्र भगवता किंचिन्न प्रसादोकृतम् विशेषमुपलक्षयामीत्युक्ते भगवतासूर्येण निजकण्ठादुन्मुच्य स्यमन्तकं नाम महामणिवरमवतार्य एकान्ते न्यस्तम्। विष्णु पुराण 4/13/14
7. ओजः समास भूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जींवितम्। दण्डी
8. धनपाल कृत तिलक मंजरी

9. ढल्हरण
10. हर्षचरित—1 12
11. मेदिनी कोष
12. एकावली
13. शब्दकल्पद्रुप
14. अमरकोष
15. शुक्लयजुर्वेद 40/8
16. श्रीमद्भागवत 1/1/1
17. महाभारत 1/61
18. अग्नि पुराण 339/10
19. काव्य प्रकाश-प्रथम उल्लास
20. सरस्वती कण्ठाभरण 2/138
21. वही 2/139
22. वक्रोक्ति जीवितम् 1/17
23. वही 1/7
24. रामायण 7, 94/4/10
25. वक्रोक्ति जीवित 1/2
26. काव्य मीमांसा–पृ० 3/4
27. ऋग्वेद 10/71/4
28. ऋग्वेद 1/25/4
29. सामवेद 2/7/8
30. यजुर्वेद 3/60
31. अथर्ववेद 20 काव्य
32. शुक्ल यजुर्वेद 1/48
33. अथर्ववेद पैप्पलाद संहिता 1
34. यजुर्वेद 11/75
35. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्त्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्ये उषती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः ।

—ऋग्वेद 1/124/7

36. ऋग्वेद 1/164/20
37. निरुक्त 3/3
38. ऋग्वेद 5/78/8
39. ऋग्वेद 5/45/5
40. अष्टाध्यायी 2/3/72
41. अष्टाध्यायी 2/1/55
42. अष्टाध्यायी 2/2/56
43. साहित्य दर्पण 10/15
44. अष्टाध्यायी 5/1/116
45. अष्टाध्यायी 5/1/115
46. काव्यप्रकाश 87/120
47. काव्य प्रकाश–10/87 की वृत्ति
48. साहित्य दर्पण 10/19
49. काव्य प्रकाश 10, 130
50. अष्टाध्यायी 3, 1, 10
51. अष्टाध्यायी 3, 1, 11
52. अष्टाध्यायी 3, 4, 75
53, अष्टाध्यायी 3, 1, 10
54. अष्टाध्यायी 3, 1, 11
55. अष्टाध्यायी 3, 4, 45
56. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थः प्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ।
57. नाट्य शास्त्र 16/118
58. अग्निपुराण 337/2–3
59. अग्निपुराण 337/6-6
60. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् । काव्यालंकार 1/16
61. शरीरम् तावदिष्टार्थं व्यवच्छिन्ना पदावली–काव्यादर्श 1/10
62. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्य मवद्यवत् ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम् । काव्यालंकार 1/11-13
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कदाचन ।

स्याद्वपुः सुन्दर मपि चित्रेणैकेन दुर्भगम् ।
तैः शरीरं काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः । काव्यादर्श 1/7–10

63. अग्निपुराण 337/33
64. युक्तं लोक स्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् । काव्यालंकार 1/21
65. कामं सर्वो ऽप्यलंकारो रसमर्थं निर्षिचति । काव्यादर्श 1/62
66. काव्यालंकार सूत्र 1/1/1–3
67. काव्यशब्दो ऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयो र्वर्तते ।
भक्तयातु शब्दार्थमात्र वचनो ऽत्र गृह्यते ।
68. काव्यालङ्कार 2/1
69. तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् । काव्यालंकार 12/2
70. तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् 1 काव्यालंकार 12/2
71. वक्रोक्ति जीवितम्–1/7
72. सरस्वती कण्ठाभरण 1/2
73. काव्य प्रकाश–1/1
74. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।
काव्यानुशासन अध्याय ।
75. गुणलंकार सहितौ शब्दार्थौ दोष वर्जितौ काव्यम् ।
प्रताप रूद्रयशोभूषण
76. सा एता आर्या एक प्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैः लक्षणत्वेन पठिताः । मुनिना तु सुख संग्रहाय यथा स्थानं निवेशिताः

– अभिनव भारतौ–अध्याय–6

77. दीनार शतलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः ।
भट्टोभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः । राजतरङ्गिणी 4/495
78. त एत उपमादोषाः सप्त मेघाविनोदिताः । भाग 2,40

बाण भट्ट का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

प्रथम–परिच्छेद

महाकवि बाण

संस्कृत साहित्य में गद्य-काव्य का चरमोत्कर्ष महाकवि बाण भट्ट की कृतियों में दृष्टि गोचर होता है। यों तो गद्य-साहित्य के विकास में अनेक महाकवियों ने अपने योगदान से इस साहित्य-कानन को पल्लवित एवं पुष्पित किया है। दण्डी, सुबन्धु और बाण से अनेक शताब्दी पूर्व ही गद्य-काव्य-कला पूर्ण विकसित अवस्था में रही होगी, परन्तु इन गद्यकारों ने अपने अनुपम तथा उत्कृष्ट गद्य-काव्यों के प्रभाव से अपने पूर्ववर्ती लेखकों को इस प्रकार अच्छादित कर लिया कि उनमें से बहुत से नक्षत्र इस काव्य-गगन से विलुप्त हो गये। उनमें से कतिपय के नाम भी आज सुनायी नहीं पड़ते। बाण भट्ट गद्य-काव्य के विकास के प्रतिनिधि लेखक हैं। यह स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये कि इस महाकवि से पूर्व दीर्घकाल तक साहित्य की इस विधा का अभ्यास होता रहा होगा, जिसके पूर्ण एवं अनुपम विकास के दर्शन महाकवि बाण की रचनाओं में होते हैं।

गद्य-काव्य

काव्य मानव की अन्तरात्मा की तृप्ति का प्रमुख उपकरण होता है। इस तृप्ति का कारण काव्य-गत सौन्दर्य माना जाता है। काव्य में इस सौन्दर्य की सृष्टि हेतु काव्यकार सतत प्रयत्नशील रहता है। वह काव्य के कलापक्ष एवं भावपक्ष दोनों ही के सौन्दर्याधान में पूर्ण सतर्कता से यतमान रहता है। परन्तु काव्यकार की स्वयं की प्रतिभा, उसकी अपूर्व कल्पना-शक्ति एवं अद्भुत सर्जना-शक्ति ही उसकी कृति को अलौकिक आनन्द दायिनी बना देती है। महाकवि बाण की रचनायें काव्य-गत सौन्दर्य से आप्लावित हैं तथा वे सहृदय पाठक को रस की स्रोतस्विनी में आप्यायित करने वाली है।

स्थिति-काल

विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न एवं अपूर्व वैदुष्य से समृद्ध महाकवि बाण-भट्ट का स्थितिकाल संस्कृत साहित्य के अन्य मनीषियों के समान अन्धकार से आच्छादित नहीं है। सम्राट् हर्षवर्धन के सभापण्डित होने के कारण बाण भट्ट का समय सरलता पूर्वक निश्चित किया जा सकता है। हर्षवर्धन का राज्याभिषेक अक्तूबर सन् 606 ई० में हुआ तथा उनकी मृत्यु 648 ई० में हुई। ये दोनों तिथियाँ सम्राट् के ताम्रपत्रों एवं दानपत्रों से प्रमाणित होती है। इसके अतिरिक्त सन् 629 से सन् 645 ई० तक भारत में भ्रमण करने वाले चीनी यात्री ह्वेनसाँग के संस्मरणों के आधार पर भी यह प्रमाणित किया गया है।

महाकवि बाण भट्ट ने दो गद्य-काव्य लिखे—'हर्ष चरितम्' और 'कादम्बरी'। 'हर्षचरित' के पहले तीन उच्छवासों में बाण ने अपनी आत्मकथा लिखी है तथा 'कादम्बरी' के प्रारम्भ में भी उन्होंने अपने वंश का संक्षिप्त परिचय दिया है। बाण ने अपने कुल की पौराणिक उत्पत्ति का सविस्तार वर्णन किया है। 'हर्षचरित' में निहित आत्मकथा बहुत अंशों तक हमें बाण के जीवन का परिचय प्राप्त कराने में सहायक होती है। कवि ने सम्राट् हर्षवर्धन के चरित के प्रसंग में आत्म चरित को सन्नद्ध करके साहित्य-जगत् का महान् उपकार किया है। बाण के साहित्य का अध्ययन करने पर उनका स्वाभिमानी एवं चिन्तारहित व्यक्तित्व हमारी दृष्टि पथ में स्वतः ही उत्तर आता है। हम उसी के आधार पर बाण की प्रत्येक सूक्ष्मैक्षिका का सरलता से अंकन करने में समर्थ होते हैं। 'हर्ष चरित' के आरम्भिक तीन उच्छवासों में वर्णित बाण के अल्हड जीवन की मौलिक घटनाओं का वंश क्रमानुगत उल्लेख उनके जीवन सम्बन्धी जिज्ञासा को सहज ही शान्त करने में सक्षम है।

'हर्षचरित' के आरम्भ में महाकवि बाण ने अपने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख किया है, जो बाण के समय निर्धारण में सहयोग प्रदान करता है। उन कवियों में सर्व प्रथम महर्षि व्यास का नाम आता है, जिन्होंने अपनी वाणी में 'भारत' नामक ग्रन्थ को इस प्रकार पवित्र किया जिस प्रकार सरस्वती नदी भारतवर्ष को पवित्र करती है।[1] इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाण के समय में यह देश भारतवर्ष नाम से उद्घोषित होता था और वह एक भौगोलिक एकता में सन्निविष्ट हो चुका था। इसके अतिरिक्त बाण के समय (सातवीं शती) में महाभारत अपने पूर्ण रूप में विकसित एवं आदर के योग्य हो गया था। बाण के काव्यों में अनेक स्थलों पर महाभारत एवं उसके पात्रों का उल्लेख हुआ है। हर्ष चरित की भूमिका में बाण ने कहा है कि महाभारत की कथा तीनों लोकों में प्रसिद्ध एवं ख्याति प्राप्त हो गयी थी।[2] इससे यह

सिद्ध होता है कि बाण के समय महाभारत की कथा न केवल भारत वर्ष में, प्रत्युत भारत से बाहर द्वीपान्तरों में भी भली प्रकार प्रसिद्धि को प्राप्त हो गयी थी।

बाण और सुबन्धु

बाण ने तदनन्तर वासवदत्ता[3] का उल्लेख किया है। महाकवि सुबन्धु द्वारा रचित वासवदत्ता ही वह बाण द्वारा उल्लिखित वासवदत्ता है, इनमें साहित्य मनीषियों में ऐकमत नहीं है। परन्तु अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि बाण ने जिस वासवदत्ता का उल्लेख किया है वह सुबन्धु कृत वासवदत्ता ही होना चाहिये, जो आज भी उपलब्ध है।

कुछ विद्वानों[4] की धारणा है कि सुबन्धु बाण के परवर्ती थे। उनका कहना है कि कई शब्दों, पदों[5] तथा घटनाओं के लिये सुबन्धु बाण के ऋणी हैं। 'वासवदत्ता' में इन्द्रायुध शब्द का प्रयोग चन्द्रापीड के घोड़े की ओर संकेत करता है। 'कादम्बरी' में महाश्वेता एवं कादम्बरी अपने-अपने प्रेमियों की मृत्यु पर प्राण-परित्याग करने का संकल्प करती हैं परन्तु आकाशवाणी उन्हें ऐसा करने से रोकती है। 'वासवदत्ता' में भी अपनी प्रेमिका के खो जाने पर कन्दर्पकेतु की ऐसी ही स्थिति दृष्टिगोचर होती है। साथ ही बाण ने उस वासवदत्ता का उल्लेख किया है, जिसका निर्देश पतंजलि के ग्रन्थ महाभाष्य में भी है।

परन्तु इन आधारों पर स्थिर किये गये मत के समर्थन में कोई निश्चित प्रभाव उपलब्ध नहीं है। टीकाकार भानुचन्द्र (1600 ई०) के अनुसार बाण ने अपने पूर्ववर्ती वासवदत्ता और वृहत्कथा की ओर संकेत किया है।

महामहोपाध्याय पी० वी० काणे महोदय ने सप्रमाण यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बाण सुबन्धु के परवर्ती थे तथा बाण ने हर्षचरित की भूमिका में सुबन्धु कृत वासवदत्ता का ही उल्लेख किया है। उनका मत है कि वामन (८00 ई०) ने अपनी काव्यालंकार सूत्र वृति में सुबन्धु की वासवदत्ता और बाण की कादम्बरी से उदाहरण दिये हैं अतः वे दोनों वामन से अर्थात् 750 ई० से पूर्व रहे होंगे।

कविराज (1200 ई०) ने 'राघव पाण्डवीय' में सुबन्धु, बाण भट्ट और स्वयं को वक्रोक्ति में कुशल बताया है—

सुबन्धु र्बाणमहश्च कविराज इतित्रयः।
वक्रोक्ति मार्ग निपुणाश्चतुर्थो विधते नवा।[6]

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कविराज ने इन तीनों नामों का स्थिति काल के अनुसार क्रमशः उल्लेख किया है।

वाक्पतिराज (736 ई०) ने अपने प्राकृत काव्य 'गोडवही' में सुबन्धु की रचना का उल्लेख किया है पर उन्होंने बाण की रचना का कहीं उल्लेख नहीं किया इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वाक्पतिराज के समय में सुबन्धु की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी पर बाण उस समय तक उतनी प्रसिद्धि को नहीं प्राप्त कर सके थे।

इसके अतिरिक्त सुबन्धु ने अपनी कृति में एक रमणी का वर्णन इस प्रकार किया है—

''न्यायस्थितिमिवोद्योतकर स्वरूपां, बौद्धसंगतिमिवालङ्कार भूषिताम्''[7]

कीथ के मतानुसार सुबन्धु ने इस स्थल पर श्लेष द्वारा नयायिक उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' का एवं बौद्ध धर्मकीर्ति कृत 'बौद्ध सगत्यलंकार' का उल्लेख किया है .[8] इन लेखकों का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध था।

इसके अतिरिक्त जिनभद्र क्षमाश्रमण कृत 'विशेषावश्यक भाष्य' में जिसका समय 60९ ई० माना जाता है, वासवदत्ता और तरंगवती का उल्लेख मिलता है।

अतः उक्त तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित किया जा सकता है कि सुबन्धु का समय 600 ई० या इससे कुछ पूर्व था और बाणभट्ट के हर्षवर्धन के सभापण्डित होने तथा सम्भवतः उनकी सभा में सम्राट् के शासन के उत्तरार्द्ध में प्रविष्ट होने से सुबन्धु का बाण से पूर्ववर्ती होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

सुबन्धु की वासवदत्ता के अनन्तर बाण ने जिन भट्टार हरिश्चन्द्र के मनोहर गद्य-काव्य का उल्लेख किया है,[9] 'वे महेश्वर विरचित विश्व प्रकाश कोश' के अनुसार साहसांक नृपति के राजवैद्य थे। उन्होंने चरक पर एक सुविस्तृत भाष्य लिखा। वाग्भट कृत 'अष्टांग संग्रह' के व्याख्याकार इन्दु के अनुसार भट्टार हरिश्चन्द्र की टीका का नाम 'खरणाद संहिता' था।[10] चतुर्भाणी ग्रन्थ में संगृहीत 'पादताडित कक्ष' नामक भाण में ईशानचन्द्र के पुत्र हरिचन्द्र भिषक् का उल्लेख मिलता है। यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि चरक के व्याख्याकार भट्टार हरिचन्द्र और बाणोल्लिखित भट्टार हरिचन्द्र एक ही व्यक्ति थे अथवा भिन्न व्यक्ति। किन्तु यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राजशेखर ने जिस हरिचन्द्र का उल्लेख किया है वे साहित्यकार थे। बाण के भट्टार हरिचन्द्र की पहिचान इन्हीं से की जानी समीचीन है।

भट्टार हरिचन्द्र के अनन्तर बाण ने सातवाहन रचित किसी ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसमें सुभाषितों का संग्रह किया गया था हर्ष चरित में सातवाहन के इस ग्रन्थ को कोश की संज्ञा दी गई है। सातवाहन रचित यह सुभाषित कोश हाल कृत गाथा सप्तशती का ही वास्तविक नाम था। हाल सातवाहन वंशी सम्राट् थे। डा० भण्डारकर 'गाथा सप्तशती' और सातवाहन कृत कोश को एक नहीं मनते परन्तु श्री वा० वि० मिराशी ने निश्चित प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि गाथा सप्तशती और सातवाहन कृत कोश एक ही है।[11] गाथा सप्तशती की अन्तिम गाथा में तथा उसके टीकाकार पीताम्बर की संस्कृत छाया में गाथा सप्तशती को ही कोश कहा गया है। इसके अतिरिक्त प्राकृत कुवलयमाला कथा के रचयिता इन्द्रसूरी (778 ई०) ने हाल के ग्रन्थ को कोश कहा है। गाथा सप्तशती के टीकाकार बलदेव और गंगाधर भी हाल के सुभाषित संग्रह को गाथा कोश की अभिधा देते हैं। मध्यकाल में जब कोश शब्द अभिधान ग्रन्थों के लिये अधिक प्रयुक्त होने लगा उसके पश्चात् हाल का यह ग्रन्थ गाथासप्तशती के नाम से ख्याति प्राप्त हुआ।

सातवाहन के अनन्तर बाण ने प्रवर सेन का उल्लेख किया है। सभी विद्वान् इस विषय में एक मत हैं कि प्रवर सैन कृत काव्य 'सेतुबन्ध' के रचयिता थे। पहले कुछ विद्वानों का अनुमान था कि प्रवर सैन ''राजतरंगिणी'' में उल्लिखित कश्मीर के राजा थे, जो मातृगुप्त के अनन्तर सिंहासनारुढ हुए। परन्तु अधिक सम्भावना यह है कि प्रवर सैन वाकाटक वंश के सम्राट प्रवर सैन द्वितीय थे। श्री वा० वि० मिराशी के मतानुसार[12] 'सेतुबन्ध' अथवा 'रावण वहो' नामक काव्य के रचयिता वाकाटक प्रवर सैन की राज्य सभा में कालिदास को कुछ समय के लिए दूत बनाकर भेजा गया था। वाकाटक नरेश ही कुन्त-लेश्वर कहे जाते थे। उनका मूल प्रदेश विदर्भ था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता का वाकाटक वंश के राजा रुद्रसैन द्वितीय के साथ विवाह हुआ था। उन्हीं के पुत्र प्रवरसैन वाकाटक सिंहासन पर आसीन हुए। सेतुबन्ध काव्य के एक टीकाकार ने निर्देश किया है कि यह काव्य विक्रमादित्य की आज्ञा से प्रवरसैन के लिये कालिदास ने लिखा। श्री मिराशी का यह मत है कि सम्भवतः कालिदास के द्वारा सेतुबन्ध का संशोधन किया गया हो, जिससे प्रस्तुत जनश्रुति प्रचलित हो गयी।

प्रवर सैन के पश्चात् बाण ने भास सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन दिया है। बाण का कहना है कि भास के नाटकों का आरम्भ सूत्रधार द्वारा किया जाता है। उसमें अनेक प्रकार के बहुसंख्यक पात्र हैं, तथा उन नाटकों में कथा वस्तु में सहायक पताका नाम अंग पाये जाते हैं।[13]

सूत्रधारकृतारम्भै र्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशोलेभे भासो देवकुलैरिव।

बाण के इस उल्लेख को कीथ बहुत प्रमाणिक मानते हैं। उनका यह मत है कि बाण ने भास के नाटकों की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है, वे दक्षिण से उपलब्ध भास के नाटकों में प्राप्त होती हैं। अतएव उन्हें भास की प्रमाणिक रचना माना जाना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।[14]

भास सम्बन्धी श्लोक में श्लेष के द्वारा देवकुल या मन्दिरों का उल्लेख किया गया है। इस सम्बन्ध में बहुभूमिक पद महत्त्वपूर्ण है, अर्थात् ऐसे मन्दिर जिनके शिखरों में अनेक खण्ड होते थे। आरम्भिक गुप्तकाल के जो मन्दिर उपलब्ध होते हैं वे बिना शिखर के हैं आरम्भ में मन्दिर के गर्भगृह का स्वरूप इक मजिला था। पीछे गर्भगृह के छत के ऊपर एक, दो या तीन मन्जिलों की कल्पना होने लगी तथा इन मंजिलों या भूमियों के रूप परिवर्तन से शिखर का प्रादुर्भाव हुआ। बाण का बहुभूमिक विशेषण इस प्रकार के विकसित शिखर वाले देवकुलों को द्योतित करता है।

महाकवि कालिदास के उल्लेख के अनन्तर बाण ने बृहत्कथा[15] का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। अवश्य ही उनके समय में बृहत्कथा अपनी पैशाची भाषा के रूप में लोगों के लिये विस्मयावह थी। कादम्बरी में बाण ने लिखा है—कर्णीसुतकयेव सन्निहित विपुलाचला शशोपगता च।[16] अर्थात् कर्णीसुत की कथा में विपुल अचल और शश-इन पात्रों का सम्बन्ध था। यह कथा बृहत्कथा से संगृहीत है और वहीं विपुल अचल और शश-इन पात्रों का नामोल्लेख भी हुआ है।

अन्त में बाण ने भूमिका के एक श्लोक में आढ्यराज और उनके उत्साहों का वर्णन किया है। बाण ने लिखा है कि आद्यराज का स्मरण करते ही मेरी जिह्वा भीतर की ओर खिच सी जाती है:—

आढ्यराज कृतोत्सा है हृदयस्थैः स्मृतैरपि
जिह्वान्तः कृष्यमाणेव न कवित्वे प्रवर्तते।[17]
तथापिनृपतेर्भक्त्या भीतो निर्वहणाकुलः।
करोम्याख्यायिकाम्भेयौ जिह्वाप्लवन चापलम्।[18]

राजाओं से कवियों को मिलने वाले प्रोत्साहन की ओर व्यंग्य करते हुए बाण का यह श्लोक सार्थक प्रतीत होता है। दूसरे श्लोक से यह अर्थ लगाया जा सकता है कि आढ्यराज सातवाहन के बृहत्कथा लेखक गुणाढ्य को जैसा उत्साह दिखाया उसके स्मरणमात्र से कविता करने की इच्छा नष्ट हो जाती है

किन्तु तथापि राजा हर्ष की भक्ति के कारण उनके इस चरित समुद्र में गोता लगाना चाहता हूँ।

जिन महाकवियों का बाण ने 'हर्षचरितम्' की भूमिका में उल्लेख किया है वे सभी सातवीं शताब्दी से पहले के हैं। 'हर्षचरित' में बाण हर्ष के उन पराक्रमों का वर्णन करते हैं, जिनका सम्पादन हर्ष बाण के मिलने से पूर्व कर चुके थे।

इस वर्णन में बाण ने दो स्थलों पर उल्लेख किया है कि हर्ष ने अपना समस्त धन-वैभव ब्राह्मणों और बौद्ध भिक्षुओं को दान कर दिया था। ह्वेनसांग एक ऐसे ही अवसर पर (643 ई० में) उपस्थित था। हर्ष से मिलने के समय बाण युवक ही रहे होंगे। उनकी युवावस्था के आरम्भ की चपलताओं की सूचना हर्ष को लग चुकी थी तथा उनका विवाह भी कुछ समय पूर्व ही हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि हर्ष की सभा में बाण का प्रवेश हर्ष के शासन के उत्तरार्द्ध में हुआ था।

उपरी निर्दिष्ट अन्तरंग प्रभाणों के अतिरिक्त बाण के स्थितिकाल की पुष्टि बहिरंग प्रभाषों से भी होती है।

रुय्यक ने अपने अलंकार सर्वस्व (1150 ई०) में बाण के हर्षचरित का अनेक बार उल्लेख किया है। क्षेमेन्द्र (1050 ई०) ने अपनी रचनाओं मं अनेक स्थलों पर बाण के नाम का निर्देश किया है।

रुद्रट द्वारा रचित 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु (1069 ई०) ने 'कादम्बरी' और 'हर्ष चरित' को क्रमशः कथा और आख्यायिका का रूप बताया है। भोज (1025 ई०) ने अपने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में एक स्थल पर बाण के पद्य की अपेक्षा गद्य को अधिक उत्कृष्ट बताया है :-

यादृग्द्यविधी बाणः पद्यवन्धे न तादृदृशः।

धनंजय (1000 ई०) रचित दशरूपक में बाण का इस प्रकार उल्लेख हुआ है।

यथा हि महाश्वेता वर्णनावसरे भट्ट वाणस्य।

आनन्दवर्धन (850 ई०) के ध्वन्यालोक में बाण की दोनों कृतियों का उल्लेख हुआ है।

वामन (800 ई०) ने अपनी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में कादम्बरी के 'अनुकरोति भगवती नारायणस्य' इन शब्दो को उद्धत किया है।

इस प्रकार बारहवीं शताब्दी तक के प्रमुख साहित्यकारों ने महाकवि

बाण तथा उनकी कृतियों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः बाण के स्थिति-काल को सप्तम शतक के पूर्वार्द्ध में स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये।

बाण के दो गद्य-काव्य उपलब्ध होते हैं। 'हर्षचरित' उनका पहला काव्य है और 'कादम्बरी' उनकी दूसरी रचना है। 'हर्षचरित' के आरम्भ के तीन उच्छ्वासों में बाण ने अपनी आत्मकथा लिखी है तथा 'कादम्बरी' के प्रारम्भ में उन्होंने अपने वंश का संक्षिप्त परिचय दिया है।

बाण के वंश की पौराणिक उत्पत्ति

'हर्ष चरितम्' में बाण ने अपने कुल की पौराणिक उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन किया है। ब्रह्मलोक में खिले हुए कमल के आसन पर ब्रह्मा बैठे हैं।[19] इन्द्र आदि देवताओं से घिरे हुए ब्रह्मा की सभा में विद्या-गोष्ठियां चल रही थी। ऐसी ही एक गोष्ठी में दुर्वासा एवं मन्दपाल नामक मुनि के बीच विद्या-विवाद उठ खड़ा हुआ। अन्य समस्त विद्वज्जन भय के कारण चुप रहे किन्तु बालभाव को छोड़ कर यौवन में पदार्पण करने वाली सरस्वती की हंसी एक नहीं रुकी, जिसे देखकर क्रोधाविभूत दुर्वासा शाप देने के लिए उद्धत हो गए। सावित्री ने दुर्वासा से क्षमा याचना की पर दुर्वासा ने सरस्वती को मृत्युलोक में जन्म लेने का शाप दे दिया! सावित्री द्वितीया सरस्वती ब्रह्म-लोक से निकल मन्दाकिनी का अनुसरण करती हुई मर्त्यलोक में शोण नदी के किनारे पहुँच गयी। और उसके पश्चिमी तट का सरस्वती ने अपने आश्रम के लिए चयन किया, जिसके पूर्वीतट की उत्कण्ठ भूमि में एक गव्यूति या दो कोस दूर हटकर च्यवनाश्रम था।[20]

एक दिन प्रातःकाल एक सहस्त्र पदाति-सेना और अश्वारोहियों का एक दल आश्रम के समीप आता दृष्टिगोचर हुआ। अश्वारोहियों के बीच में अट्ठारह वर्ष का दधीच नामक एक युवक नीलवर्ण के अश्वपर आरूढ होकर आता हुआ दृष्टिपथ में आया। एक पार्श्वपुरुष के साथ दधीच अश्व से उतर कर विनीतभाव से सरस्वती और सावित्री के पास लता मण्डप में आया। दधीच और सरस्वती परस्पर स्नेहसूत्र में आबद्ध हो गये और एक वर्ष से कुछ अधिक समय रहने के अनन्तर सरस्वती ने सारस्वत नामक पुत्र को जन्म दिया। सरस्वती शापावधि के समाप्त होने के अनन्तर ब्रह्मलोक को लौट गयीं। भार्गव वंश में उत्पन्न अपने भाई की पत्नी को दधीच ने सारस्वत की यात्री बनाया। सारस्वत और अक्षमाला का पुत्र वत्स समान वय के होने से एक साथ सानन्द बढने लगे। सारस्वत ने अपने भाई वत्स के प्रेम से प्रीतिकूट नामक निवास की

स्थापना की और स्वयं आषाढ़ी, कृष्णाजिनी, वल्कली, अक्षवलयी, जटी होकर तपश्चरण करता हुआ च्वयन के लोक को ही चला गया।

वत्स से वात्स्यायन वंश का प्रादुर्भाव हुआ, जिस वंश में वात्स्यायन नामक गृहमुनि के समान आचरणशील, ब्राह्मण श्रेष्ठों ने जन्म ग्रहण किया। ये गृहमुनि वेदाध्यायी एवं कर्मकाण्ड निरत ऋषियों के समान जीवन व्यतीत करते थे। वे जन समुदाय के साथ सामूहिक पंक्तियों में बैठकर भोजन नहीं करते थे।[21] इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी ब्राह्मण थे। जिन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-इन तीनों वर्गों का भी भोजन त्याग दिया था।[22] अपने सुसंस्कृत परिवार में विद्या और आचार के अनुकरणीय आदर्श का बाण ने विशद वर्णन किया है। वे श्रुति आचारों का पालन करते थे। मिथ्याभाषण, मिथ्याचरण, दम्भ, कपट, कुटिलता आदि से वे दूर रहते थे। शठता, हीनता, परनिन्दा आदि से वे अपने चित्त को असम्पृक्त रखते थे। स्वभाव में सुस्थिर, प्रणयिजनों के अनुकूल, सरस मधुर भाषण करने वाले, विदग्धों के अनुसार हास परिहास में प्रवीण, दयावान् सत्यनिष्ठ, समस्त सत्त्वों के प्रति सौहार्द एवं करुणा से ओतप्रोत, नृत्य, गीत आदि विविध कलाओं में पूर्ण निष्पात तथा समस्त गुण-गणों से युक्त बाण के परिवार के सदस्य किसी भी सम्भ्रान्त परिवार के अभिन्न अंग माने जा सकते हैं। अध्ययन-अध्यापन एवं ग्रन्थ-प्रणयन–इन दोनों क्षेत्रों में ही सफल शास्त्रों में अभिरुचि उस कुल के विद्वानों की अपूर्व विशेषता थी।

उस वात्स्यायन वंश में क्रम से कुबेर नामक एक ब्राह्मण ने जन्म ग्रहण किया। कुबेर के अच्युत, इशान, हर और पाशुपत–ये चार पुत्र हुए। इनमें से पाशुपत के पुत्र का नाम अर्थपति था। अर्थपति ने ग्यारह पुत्रों को जन्म दिया। इनमें से अष्टम चित्रभानु बाण के जनक थे। बाण की माता का नाम राजदेवी था।

बाण की आत्मकथा

चित्रभानु की पत्नी राजदेवी के गर्भ से जन्म ग्रहण कर देव दुर्विपाक से बाण बाल्यकाल में ही माता के देहावसान होने से मातृहीन हो गये। पिता का अखण्ड स्नेह पाकर और उनसे यत्न पूर्वक पालन–पोषण से वह अपने ही घर में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि को प्राप्त होने लगे।

श्रुति एवं स्मृति के विद्वानों के अनुसार ब्राह्मणोचित रीति से बाण के उपनयन एवं सभावर्तन संस्कार सम्पन्न हुए। तदनन्तर जब बाण की अवस्था चौदह वर्ष की भी नही हो पाई थी। कि उसके पिता वृद्धावस्था को प्राप्त हुए बिना ही दिवंगत हो गए। पिता के अवसान से वह कुछ दिन अत्यन्त दुःखी रहे

तथा महान् शोक से अभिभूत होकर वह अपना सब कुछ भूल गए। धीरे-धीरे जब कुछ शोक कम हुआ तब उन्हें वह स्वतन्त्रता मिल गई, जिससे अविनय एवं अनुशासनहीनता बढती गई। बाल्यकाल में स्वभाव से अनेक कुतूहल उत्पन्न हो जाते हैं, धैर्य का उसमें अवसर नहीं होता। फलतः बाण शैशवकाल के उचित अनेक चपलताओं में पड़कर इत्वर हो गए। साथ ही बहुत से समवयस्क उनके सहायक एवं सुहृद् बन गए, जो उनके समान ही स्वच्छन्द एवं इत्वर थे। चवालीस व्यक्तियों के इस मित्र मण्डल से बाण का स्नेहपूर्ण एवं भाईचारे का सम्बन्ध था। इनमें सब प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित थे। बाण ने अपनी बाल सुलभ प्रकृति के कारण स्वयं को इन मित्रों तथा इसी प्रकार के अन्य व्यक्तियों पर छोड़ दिया था। उनका मन देश-देशान्तर भ्रमण करने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित था। यद्यपि पिता-पितामह आदि पूर्वजों द्वारा उपार्जित धन-सम्पत्ति उनके घर में पुष्कल मात्रा में थी और उस कुल में विद्या की अविरल एवं अविच्छिन्न धारा सतत प्रवाहमान थी तथापि वे देश भ्रमण करने के लिए घर से निकल पड़े। ग्राम वृद्धों ने उनका परिहास किया।

इसके अनन्तर बाण ने धीरे-धीरे चारों और भ्रमण कर बड़े-बड़े राजकुलों को देखा। उन राजकुलों में होने वाले उदार व्यवहारों ने उनका मन आकृष्ट किया। अनिन्द्य-विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन से उद्भासित गुरुकुलों में उन्होंने विचरण किया। गुणी व्यक्तियों से विभूषित विद्वद् गोष्ठियों में वे सम्मिलित हुए। वे प्रकृति से ही गम्भीर स्वभाव वाले थे। अतएव उन्होंने राजकुलों से श्री तथा विद्वानों से सरस्वती को प्राप्त किया। देशाटन की यह उत्कट लालसा उनके लिए बहुमूल्य अनुभव उपार्जित करने का कारण बन गई। देश-देशान्तरों के देखने का यह कुतूहल, जो उनके मन में था, केवल कुतूहल ही न रहकर ज्ञान-वृद्धि का कारण बन गया।

अपने इस प्रवास में बाण ने चार प्रकार के सामाजिक स्तरों के अवलोकन एवं अनुभव करने का उल्लेख किया है।

1. विशिष्ट राजकुलों में प्रवेश पाने से बाण को वहां के उदार व्यवहार एवं रीति-रिवाज के सूक्ष्म निरीक्षण का अवसर मिला।

2, प्रसिद्ध एवं ज्ञान-विज्ञान के भण्डार रूप गुरुकुलों, शिक्षा-केन्द्रों एवं विद्वद् गोष्ठियों में सम्मिलित होने से उन्होंने ज्ञानार्जन किया। निरवद्य विद्या विद्योतित' शब्द कहकर शिक्षा-केन्द्रों की ज्ञान-वितरण में वरिष्ठता को प्रतिपादित किया गया है।

3. गुणवान् एवं कलाप्रेमी व्यक्तियों की गोष्ठियों में उपस्थित होकर उनकी

मूल्यवान् एवं अन्तःस्तल तक पहुँचने वाली एवं बुद्धि को तीक्ष्ण करने वाली ज्ञान चर्चाओं का लाभ प्राप्त किया। गोष्ठियों का उल्लेख करते हुए बाण ने विद्या-गोष्ठी, काव्य-गोष्ठी, वीणा-गोष्ठी, वाद्य-गोष्ठी, नृत्य-गोष्ठी आदि सभी प्रकार की गोष्ठियों की ओर संकेत किया है।

4. बाण ने विदग्ध-जनों की मण्डली में सुतराम् अवगाहन किया था, जिसमें रसिक जन विविध प्रकार से मनोविनोद करते हैं तथा अनेक प्रकार से अपनी बुद्धि की परीक्षा किया करते थे।

उपर्युक्त सामाजिक वर्गों के साथ सम्पर्क स्थापित करने का कारण यह प्रतीत होता है कि बाण के व्यक्तित्व में ये चार प्रकार की प्रवृत्तियां जन्म से ही विद्यमान थी। उचित अवसर मिलने पर बाण ने इन सामाजिक वर्गों में अपनी उन स्वाभाविक एवं जन्मजात प्रवृत्तियों का विकास किया, इस प्रकार बाण का व्यक्तित्व इन प्रवृत्तियों के सम्पर्क से सम्पन्न हुआ।

1. बाण के स्वभाव में जन्म से ही आभिजात्य एवं समृद्धिशीलता पूर्णरूप से ओतप्रोत थी।
2. अपने कुल के विद्योपार्जन की उत्कट लालसा उनमें विद्यमान थी।
3. उनका साहित्य एवं विविध कलाओं में विशेष अनुराग था।
4. उनके अन्तः करण में विदग्धता का साम्राज्य था।
5. स्वभावतः वे अत्यन्त सरस, सजीव एवं स्नेह से आप्यायित थे।

निखिल संस्कृत साहित्यकारों के इतिहास में बाण का जैसा व्यक्तित्व एवं स्वभाव कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। उन्हें अपनी मित्र मण्डली से अत्यधिक स्नेह था। उन्होंने लिखा है कि मुझे अपनी बाल-मित्र-मण्डली में पुनः लौटकर आने पर मोक्ष का जैसा आनन्द प्राप्त हुआ।[23] अपने मित्र मण्डली का उन्होंने विशद वर्णन किया और उन लोगों के प्रति अपने हृदय के कोमल एवं स्नेह से ओतप्रोत भावों को अभिव्यक्त भी किया है। उनके भ्रमणशील जीवन में भी कतिपय मित्र एवं सहायक उनके साथ थे। तथा उन्होंने अपनी बाल-सुलभ-प्रकृति के कारण स्वयं को इन मित्रों पर पूर्णरूप से छोड़ दिया था।[24]

बाण का मित्र मण्डल

बाण का मित्र मण्डल पर्याप्त रूप से विशाल था। सुहृद् एवं सहाय-इन दो प्रकार के व्यक्तियों से मिल कर उनके मित्र मण्डल में चवालीस व्यक्तियों के समावेश का उल्लेख प्राप्त होता है। इस मित्र मण्डल में चार स्त्रियाँ भी थी। बाण के मित्रों का यह समाज एक सुसंस्कृत एवं संभ्रान्त

नागरिक की सर्वतोमुखी अभिरुचि का परिचायक प्रतीत होता है। उनके मित्र प्रायः सभी वर्गों के प्रतिनिधि थे। कुछ मित्रों का सम्बन्ध ज्ञान-विज्ञान एवं शास्त्रों के अध्ययन से था। कुछ संगीत एवं नृत्य कला में दक्ष थे तो कतिपय केवल मनोरंजन के सहायक मात्र थे। इनके अतिरिक्त कुछ परिचारकों के रूप में उसके मित्रमण्डल में सम्मिलित हो गए थे। इस मित्र मण्डली का परिचय यहां प्रस्तुत करना असंगत नहीं होगा।

1. सर्व प्रथम बाण ने पारशव भ्राता चन्द्र सेन एवं मातृषेण का उल्लेख किया है। शूद्राभाता से उत्पन्न द्विजपुत्र ये दोनों भाई बाण के अति प्रिय एवं विश्वासपात्र थे। कृष्ण के दूत मेखलक के ठहराने तथा उसके भोजनादि की व्यवस्था करने का भार बाण ने चन्द्र सेन को ही दिया था।

2. पारशव बन्धुओं के अनन्तर बाण ने कवि और विद्वान् मित्रों की चर्चा की है।

(क) भाषा कवि ईशान, जो बाण का परम मित्र था :

भाषा-कवि से लोक भाषा में रचना करने वाले कवि से बाण का तात्पर्य है। सम्भवतः बाण के समय में भाषा पद अपभ्रंश के लिए प्रयुक्त होता था। महाकवि दण्डी ने आभीर (अहीर) आदि जातियों में कविता करने के लिए अपभ्रंश भाषा के प्रयोग का उल्लेख किया है।[25] इसके अतिरिक्त महाकवि पुष्पदन्त ने अपभ्रंश महापुराण की भूमिका में ईशान कवि का नामोल्लेख किया है।

3. वर्णकवि वेणीभारत का नाम बाण ने उद्धृत किया है। शंकर के मतानुसार गाथा छन्द में गीत रचना करने वाले कवि को वर्णकवि कहा गया है।

4. सुभाषित एवं सूक्तियों का पाठ करने वाले अनंग बाण एवं सूचि बाण नामक दो बन्दी जन। हर्षचरित काव्य में अश्व पर आरूढ़ दधीच के आगे-आगे उसके बन्दी के सुभाषित पाठ करते हुए चलने का वर्णन प्राप्त होता है।

5. कवि ने वार बाण और वास बाण नामक दो विद्वानों का उल्लेख किया है। सम्भवतः विद्वान् पद से दर्शन शास्त्र आदि विषयों के ज्ञाता होने का अभिप्राय अभिप्रेत है।

6. लेखक गोविन्दक का नाम भी सूचि में है।

7. सुमधुर एवं कोमल कण्ठ से पुस्तकों का वाचन करने वाला सुदृष्टि,

जिसने हर्ष की राज्य सभा से लौटने पर बाण को वायुपुराण की कथा सुनायी थी ।

8. कथक जयसेन का नाम कवि ने अपनी मित्र-मण्डली में परिगणित किया है , सम्भवतः यह कहानी सुनाने में पूर्णतया दक्ष था ।

(ख) वैद्य और मन्त्र साधकों का दूसरा वर्ग था ।

1. इस वर्ग में भिषक्पुत्र मन्दारक का नाम बाण ने बड़े सम्मान से ग्रहण किया है ।

2. रसायन विद्या में निष्णत विहंगम को धातुवादविद् के नाम से उद्बोधित किया गया है ।

3. जांगुलिक मयूरक, जो विषवैद्य या गारुडी था । यह सर्प-विद्या विशारद था ।

4. मंत्रसाधक कराल ।

5. असुरविवर व्यसनी लौहिताक्ष, सम्भवतः पाताल में प्रविष्ट होकर किसी राक्षस या यक्ष को सिद्ध कर धन प्राप्त करने के मन्त्रों का ज्ञाता था । असुर विवर साधन का बाण ने कई स्क्षानों पर वर्णन किया है । असुर विवर का ही अपर नाम पाताल विवर था, जिसका उल्लेख पुरातन प्रबन्ध संग्रह के विक्रमांक प्रबन्ध में हुआ है ।

(ग) साधु एवं सन्यासियों को तीसरे वर्ग में स्थान दिया जा सकता है ।

1. वक्रघोण नामक एक शैव सन्यासी का कवि ने नामोल्लेख किया है ।

2. क्षपणक वीरदेव का भी नाम शैव साधु के साथ लिया गया है । शैव और जैन साधुओं का यह सुन्दर समन्वय बाण की धार्मिक सरलता का द्योतक है ।

3. पाराशरी सुमति परासर के पुत्र व्यास द्वारा विरचित भिक्षुसूत्र अथवा वेदान्त दर्शन का अध्ययन अध्यापन करने वालों को पाराशरी की संज्ञा दी गयी है । बाण ने अनेक स्थलों पर पारशरी भिक्षुओं का उल्लेख किया है ।

4. कात्यायनिका चक्रवाकिका सम्भवतः काषाय वस्त्र धारण करने वाली बौद्ध भिक्षुणी थी ।

5. मस्करी तामचूड नामक परिव्राजक का नाम भी कवि ने लिखा है ।

(घ) इस वर्ग में कलाप्रेमियों का परिगणन किया गया है ।

1. चित्रकृत् वीरवर्मा चित्रकला में दक्ष था।
2. कलाद चाभीकर एक अच्छा स्वर्णकार था।
3. हीरे को काटने वाला हैरिक सिन्धुषेण। शंकर के मतानुसार हैरिक सुनारों का अध्यक्ष था।
4. पुस्तकृत् कुमारदत्त सम्भवतः मिट्टी के खिलौने बनाने की कला में दक्ष था। बाण ने कई स्थलों पर पुस्तकर्म का उल्लेख किया है।[26]

(न) इस वर्ग में संगीत एवं नृत्य कला व्यसनियों को रखा गया है।

1. मार्दङ्गिक जीभूत।
2. दो वांशिक अर्थात् बंसी बजाने वाले–मधुकर और पारावत।
3. दर्दुरक नामक घटवाद्य बजाने वाला दार्दुरिक दामोदर।
4. संगीत गान करने वाले गायक सोमिल एवं ग्रहादित्य।
5. गान्धर्वोपाध्याय दुर्दुरक।
6. लासक नृत्य करने वाला नवयुवक ताण्डविक।
7. हरिणिका नाम वाली नर्तकी।
8. भरत नाट्य में निश्णात शैलाली युवक शिखण्डक। यह शिलालि आचार्य द्वारा प्रवर्तित नटसूत्रों का ज्ञाता था।

(च) कतिपय सहायक या परिचारक वर्ग का भी बाण के मित्र मण्डल में समावेश हुआ था।

1. ताम्बूलदायक चण्डक।
2. प्रसाधनोपचार में कुशल सैरिन्ध्री कुरविंका।
3. हाथ पैरों का मर्दन करने वाली संवाहिका केरलिका।

(छ) दो बाण के आश्रित स्नेहीजनों-रुद्र एवं नारायण का भी कवि ने उल्लेख किया है।

(ज) कुछ धूर्त भी इस मण्डल में थे।

1. अक्षों से खेलने वाला आक्षिक अर्थात् पासा खेलने वाला आखण्डल।
2. जादूटोना करने वाला ऐण्द्रजालिक चकोराक्ष।
3. धूर्तता की कला में प्रवीण धूर्त भीमक का भी इस मण्डली में नामोल्लेख हुआ है।

बाण के मित्र मण्डल की नामावली का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाण की सर्वतोमुखी अभिरुचि से आकृष्ट होकर तथा कतिपय उसकी सम्पत्ति के लोभ से उसके सहयोगी, मित्र एवं सहायक बन गये थे। बाण की अभिजनता, सम्पदा, तथा बहुमुखी अभिरुचि इस मित्र मण्डली में साकार होती थी तथा उसके काव्य में प्रस्फुरित कवि की प्रतिभा में इन सभी के सान्निध्य से उपलब्ध अनुभव ने अवश्य योगदान दिया होगा। ये सभी नाम वास्तविक प्रतीत होते हैं। इनमें से अनेक व्यक्तियों का वर्णन कवि ने यथा समय किया है। चंचल प्रकृति एवं कुतूहल के वशीभूत होकर देशदेशान्तरों के दर्शन की अपूर्व लालसा उसके अनुभवों एवं ज्ञान वृद्धि का महान् कारण बनी, जो उनके काव्यों में यथावसर प्रस्फुटित हुई।

बाण भट्ट का जन्म स्थान

महाकवि बाण के अनुसार शोण नामक नद के दूसरी पार एक गव्यूति या दो कोस दूर हटकर च्यवन ऋषि के नाम से प्रख्यात च्यावन नामक वन था—

> **''इतश्च गव्यूतिमात्रमिव पारेशोणं तस्य भगवतच्य-**
> **वनस्य स्वनाम्ना निर्मितव्यपदेश च्यावनं नाम शननम्''।**[27]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि सोन नदी के पश्चिमी तट पर, सरस्वती और सावित्री ने अपने आश्रम के हेतु स्थान चुना था और उसके दक्षिण तट पर सोन की उतकृष्ठ भूमि में एक गव्यूति दूर हटकर च्यवन का आश्रम था। अब शेण नद की स्थिति के सम्बन्ध में यहाँ विचार करना युक्ति युक्त होगा। सावित्री एवं सरस्वती के मर्त्यलोक में अवतरण के अनन्तर की घटनाओं का क्षेत्र शोण नद के आस पास का क्षेत्र है। शोण को बाण ने चन्द्र पर्वत का अमृत का झरना, विन्ध्याचल की चन्द्रकान्त मणियों का सार, दण्डकारण्य में उत्पन्न होने वाले कर्पूर वृक्षों से बहा हुआ रस बताया है।[28] श्री प्रबोध चन्द्र बागची ने इस चन्द्रद्वीप की अवस्थिति दक्षिणी बंगाल के बारिसाल जिले के समुद्री तट पर मानी है।[29] किन्तु शोण से सम्बन्धित चन्द्र पर्वत विन्ध्याचल का वह भाग होना चाहिये, जहाँ अमर कण्टक के पश्चिमी ढलान से शोण नद का उद्गम हुआ है। भवभूति ने उत्तर रामचरित में सीता के वनवास से खिन्न राजा जनक के द्वारा वैरवानस वृत्ति धारण करके चन्द्र द्वीप के तपोवनों में कतिपय वर्ष तपश्चरण करने का उल्लेख किया है—

> **''स तदेव सीता देव्यास्तादृशं दैव दुर्विपाक मुपश्रुत्य वैश्वानरा: सवृत्त: तथास्य कतिपये सम्वत्सराश्चन्द्र द्वीप तपोवने तपस्तप्यमानस्य''।**[30]

उत्तररामचरित की भौगोलिक पृष्ठभूमि विन्ध्याचल के आसन्नवर्ती प्रदेश हैं। सम्भवतः भवभूति द्वारा उल्लिखित चन्द्र द्वीप विन्ध्याचल प्रदेश के अन्तरालवर्ती भू भाग हो।

बाण ने हर्षचरित में शोण का दूसरा नाम हिरण्यवाह प्रतिपादित किया है। बाण के समय शोण हिरण्यवाह के नाम से प्रसिद्ध था—

"हिरण्यवाहनाभानं महानदं यं जनाः शोण इति कथयन्ति।[31]

अमरकोश में भी शोण का पर्याय हिरण्यवाह दिया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि गुप्तकाल तक इसकी ख्याति सर्वत्र प्रसूत थी। शेणनद के दूसरी पार से मालती दधीच की सखी अश्वारूढ़ होकर सरस्वती से मिलने आती है।[33] अवश्य ही शोण के किसी स्थल पर स्थल मार्ग रहा होगा, जहाँ से पैदल या घोड़े पर चढ़ कर उसे पार करने का स्थान होगा। यहीं दधीच और सरस्वती के पुत्र सारस्वत ने अपने पितृव्य पुत्र वत्स के लिए च्यवनाश्रम की सीमा में प्रतिकूटनामक ग्राम बसाया होगा। प्रस्तुत निवास स्थान में ब्राह्मणों का आधिक्य होने से इस ग्राम को बाण ने ब्राह्मणानिवास नाम से उद्बोधित किया है।[34]

च्यवनाश्रम अथवा बाण के निवास स्थान के सम्बन्ध में श्री परमेश्वर दास शर्मा ने महाकवि बाण के वंशज तथा वास स्थान नामक लेख में पर्याप्त विचार विमर्श किया है। उनका मत है कि च्यवन ऋषि का आश्रम, जो कि आजकल दँवकुर या दैवकुण्ड के नाम से प्रसिद्ध है, एक सुविस्तृत जंगल-झाड़ियों के बीच गया जिले में शौण नहर के आसपास शौण को वर्तमान धारा से पूर्व की ओर, गया से पश्चिम दिशा में स्थित रफीगंज से चौदह मील उत्तर पश्चिम में बसा हुआ है। बाण का जन्म स्थान भी इसके आसपास कहीं रहा होगा। और आगे अनुसन्धान करने पर यह भी ज्ञात हुआ है कि इस च्यवनाश्रम के आसपास चारों ओर वच्छ गौतियों की कई एक बड़ी-बड़ी बस्तियाँ बसी हुई हैं जैसे सोनभद्दर, परमै, बैधवी आदि। इन सब बस्तियों में सोनभद्दर आदि स्थान माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शौण के किनरे पर होने के कारण ही इस ग्राम का नाम शौणभद्र पड़ा होगा। यहाँ के निवासी सौनभदरिया नाम से विख्यात हुए जो स्वयं को वच्छ गौतिया घोषित करते हैं। वच्छगौतिया शब्द वत्सगोत्रीय का परिवर्तित रूप है।

च्यवनाश्रम की समीपता, शौणभद्र की तटवर्तिता, सौनभद्दर की प्राचीनता तथा वच्छ गौतिया ब्राह्मणों का वहाँ निवास—इन समस्त तथ्यों के

आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाना अनुचित प्रतीत नहीं होता कि यह शोनभद्र ग्राम महाकवि बाण के बाल्यकाल की क्रीडास्थली था तथा आगे चल कर यहाँ बाण ने अपने कादम्बरी जैसे अपूर्व उपन्यास एवं हर्षचरित जैसे अद्भुत इतिहास की रचना की थी। यहीं वह ब्राह्मणाधिवास प्रीतिकूट नामक स्थान है, जहाँ बाण भट्ट ने जन्म ग्रहण किया, शैशव बिताया और अपनी प्रौढ़ एवं परिपुष्ट प्रतिभा से संस्कृत साहित्य के अपूर्व काव्यों की रचना की।

बाण का शैशव

जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है कि वात्स्यायन कुल में उत्पन्न कुबेर से प्रवर्धित वंश में क्रमशः चित्रभानु और राजदेवी से बाण का जन्म हुआ। बाल्यकाल में ही उन्हें दैवदुर्विपाक से अपनी माता का वियोग सहना पड़ा। पिता चित्रभानु ने ही मातृ-स्नेह और पितृ-स्नेह दोनों को वितरित किया। पिता की देखरेख में उत्तरोत्तर बाण का विकास होने लगा। विद्वानों एवं समृद्धिशाली व्यक्तियों के इस कुल में बाण को किसी प्रकार के अभाव का अनुभव नहीं हुआ। पिता ने श्रुति-स्मृति-विहित समस्त संस्कार यथा समय सम्पन्न किये। उपनयन एवं सभावर्तन संस्कार होने के अनन्तर जब बाण की आयु चौदह वर्ष की भी पूरी नहीं हो पायी थी कि उनके पिता चित्रभानु बिना वृद्धावस्था को प्राप्त हुए ही दिवंगत हो गये। पिता के निधन से बाण कतिपय दिन तक दुःखी और शोक सन्तप्त रहे। उनका चित्त दिनरात पितृशोक से जलता रहा और वे उस समय घर पर ही रहे। धीरे-धीरे उनका शोक कम हुआ। पिता के नियन्त्रण के न रहने से बाण के जीवन में स्वतन्त्रता एवं स्वच्छन्दता ने स्थान ले लिया। उनके जीवन में अविनय एव अनुशासनहीनता निरन्तर बढ़ती गयी। बाल्यकाल में मानव स्वभाव स्वतः ही कुतूहलपूर्व होता है। यौवन के आरम्भ में धैर्य का लोप हो जाता है। इन सभी के फलस्वरूप बाण शैशव काल के योग्य अनेक चपलताओं से अभिभूत हो गये तथा वे इत्वर हो गये इत्वर शब्द मूलतः गमनशील अर्थ में इष् गतो धातु से निष्पन्न हो कर गमनशील से चचल और अविनीत हो गया। बाण के घर की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी। ब्राह्मण कुलोचित आजीविका से पिता एवं पितामह के द्वारा उपार्जित पुष्कल धन घर में भरा हुआ था।[34] कुल में विद्या का प्रवाह भी अविरल रूप से प्रवहित हो रहा था। इससे प्रतीत होता है कि बाण के निवास स्थान प्रीतिकूट में संस्कृत के विवध विषयों के अध्ययन-अध्यापन की अच्छी व्यवस्था थी।[35] हर्ष के यहाँ से लौटने पर बाण के द्वारा छात्रों के अध्ययन-अध्यापन के विषय में प्रश्न पूछे जाने का उल्लेख हर्षचरित में उपलब्ध होता है। वेद, व्याकरण, न्याय मीमांसा' काव्य एवं कर्मकाण्ड आदि के अध्ययन का

प्रीतिकूट ग्राम में नियमित रूप से अच्छा प्रबंध था। किन्तु उत्पाती स्वभाव के कारण ये सभी सुविधाएं बाण को घर पर नहीं रोक सकी। बाण ने स्वयं लिखा है—जैसे किसी पर ग्रहों की बाधा व्याप्त हो वैसे ही स्वच्छन्द मन और नवयौवन के कारण स्वतन्त्र होकर वह घर से निकल पड़ा। उसके मन को देशान्तर देखने की इच्छा ने अभिभूत कर लिया था। इस पर सभी ने उसका उपहास किया।[36]

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बाण का बाल्यकाल मातृ-स्नेह से रहित होकर अग्रसर हुआ और शैशव काल की परिसमाप्ति के पूर्व ही पिता के नियन्त्रण एवं उनकी छत्रछाया से उन्मुक्त होकर स्वच्छन्दता से व्यतीत हुआ। घर की धन सम्पत्ति और वंशोचित विद्या प्रसंग भी उसे इत्वर बनने से रोकने में असमर्थ रहे। बाल्यकाल के मित्र एवं सहायक वर्ग ने उनकी इस वृत्ति के विकास में योगनान दिया। बाण का जीवन उसी प्रकार का था, जिस प्रकार का एक धनी परिवार में उत्पन्न, किन्तु नियन्त्रण रहित किसी बालक का घर छोड़कर जाने के अनन्तर निसर्गतः उद्भूत प्रतिभा एवं बुद्धिमत्ता के कारण बाण ने पुनः अपने वंश के अनुरूप ज्ञान का अर्जन किया। उसने क्रमशः घूम-घूम कर बड़े-बड़े राजकुलों को देखा तथा उनमें होने वाले उदार व्यवहारों को उन्होंने अपने जीवन में आत्मसात् कर लिया। अनिन्द्य विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन से उद्भासित गुरुकुलों की सेवा की। बहुमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण आलापों से आप्लावित गुणियों की गोष्ठियों में सम्मिलित होकर वहाँ के आचार का अध्ययन किया। स्वभाव से ही गम्भीर बुद्धिवाले बाण ने रसिकों के मण्डल में प्रविष्ट होकर विदग्धता की शिक्षा ग्रहण की। और इस प्रकार बाण ने राजकुलों से श्री एवं शिक्षा केन्द्रों से वैदुष्य को प्राप्त किया। इन सभी सामाजिक वर्गों के सम्पर्क से तथा उनके अनुभवों से उन्होंने बहुमुखी ज्ञान प्राप्त किया और वह अपने वंश के अनुकूल विद्या से सम्पन्न हो गया।

हर्ष की सभा में प्रवेश

विद्याध्ययन के अनन्तर बाण कुछ समय तक अपने बन्धु बान्धवों के साथ आनन्दानुभव करते हुए प्रीतिकूट में ही निवास करते रहे। एक दिन ग्रीष्म के समय स्वाण्वीश्वर के महाराज श्री हर्ष के अनुज कृष्ण का भेजा हुआ मेखलक नाम का दीर्घाध्वग बाण से आकर मिला। कृष्ण के सन्देश का अभिप्राय बाण को हर्ष की सभा में बुलाने का था। बाण की बाल-चपलताओं का जैसा वर्णन श्री हर्ष के सम्मुख किया गया था, वे उसे वैसा ही मानकर बाण से अप्रसन्न हो गये थे। कृष्ण के समझने पर उन्होंने बाण के प्रति उत्पन्न हुई दुर्भावनाओं को

त्याग दिया था। कृष्ण ने बाण को हर्ष की सभा में उपस्थित होने का साग्रह निमन्त्रण दिया था। कृष्ण के अकारण स्नेह और आग्रह के कारण बहुत सोच विचार कर बाण हर्ष की सभा में उपस्थित होने के लिए अपना निश्चय कर सके।

जब बाण हर्ष के राज दरबार में पहुँचे, तब सर्वप्रथम तो राजा ने उनकी अवहेलना की तथा अनियमित जीवन व्यतीत करने के लिये 'महानयं भुजंगः' कहकर उन पर व्यंग्य किया। इस पर बाण ने विनय पूर्वक अपनी कुलीनता तथा विद्वत्ता की ओर ध्यान आकृष्ट किया और अपने बाल्यकाल में किये गये कृत्यों के लिए पश्चात्ताप करते हुए नवीन जीवन प्रारम्भ करने की इच्छा प्रकट की। कुछ ही दिनों में हर्ष ने उनके चरित्र एवं विद्वत्ता से प्रसन्न होकर उन पर कृपा दृष्टि की तथा उन्हें अपनी सभा में प्रमुख स्थान प्रदान किया। स्वल्प ही दिनों में हर्ष उनसे परम प्रीतियुक्त हो गये, और उन्होंने प्रसाद-जनित मान, प्रेम, विश्वास, धन, विनोद और प्रभाव की पराकाष्ठा बाण को प्रदान की।

बाण का स्वभाव

बाण की स्वतन्त्र प्रकृति थी उनमें ब्रह्मतेज पूर्णतया भरा हुआ था। दौवारिक के द्वारा मार्ग-दर्शन किये जाने पर मण्डप के सामने प्रांगण में संगमर्मर की चौकी पर आसीन हर्ष के सामने पहुँच कर हर्ष से जो प्रथम व्यवहार किया उससे उनकी आत्मा व्याकुल हो उठी। जब बाण ने हर्ष के समीप जाकर स्वस्ति शब्द का उच्चारण किया, उसे सुनकर हर्ष ने बाण की ओर देखा और दौवारिक से पूछा 'यह वही बाण है। दौवारिक के उत्तर में स्वीकारोक्ति थी। इस पर हर्ष ने कहा – मैं इसे देखना नहीं चाहता जब तक यह मेरा प्रसाद न प्राप्त कर ले। यह कह कर हर्ष ने अपनी दृष्टि घुमाली और पीछे बैठे हुए मालवराज के पुत्र से कहा–'महानयं भुजङ्गः'। इस तीक्ष्ण वचन को सुन कर बाण की अन्तरात्मा तिलमिला उठी। वस्तुतः बाण के प्रथम दर्शन के समय हर्ष का यह व्यवहार उचित नहीं कहा जा सकता। राजा के इस व्यवहार से सभा में विराजमान सभी स्तब्ध हो गये। बाण इस प्रकार के व्यवहार के अभ्यस्त नहीं थे। उनका बलतेज प्रदीप्त हो गया। क्षण भर शान्त रह कर उन्होंने हर्ष का काफी कठोर शब्दों में प्रतिवाद किया और विषय की सच्ची स्थिति का पौर्शपर्य से विवरण प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा – हे देव। आप इस प्रकार की बात कैसे कहते हैं, जैसे आपको मेरे विषय में सच्ची बात का ज्ञान न हो, या मेरा विश्वास न हो, या आपकी बुद्धि दूसरों पर निर्भर हो, अथवा आप स्वयं लोक वृत्तान्त से अनभिज्ञ हों – "देव। आविज्ञाततत्त्व इव, अश्रद्दधान इव, नेय

इव, अविदित लोक वृत्तान्त इव च कस्मादेवमाज्ञापयसि ?[37] बाण ने यहाँ नेय शब्द का प्रयोग किया है जिसका अभिप्राय यह है कि जिसे अपनी स्वयं की समझ न हो और जो दूसरे के कहने पर चलता हो। कालिदास ने भी इस शब्द का प्रयोग ऐसे ही अर्थ में किया है।[38] लोगों का स्वभाव और व्यवहार विभिन्न प्रकार का होता है। किन्तु बड़ों को तो यथार्थ दर्शन करना चाहिये। (महद्भिस्तु यथार्थदर्शिभिर्भवितव्यम्।[39] बाण ने फिर कहा कि मैं साधारण व्यक्ति नहीं हूँ। मैंने सोमपायी वात्स्यायन ब्राह्मणों के कुल में जन्म लिया है। उचित समय पर उपनयनादि संस्कारों के अनन्तर मैंने अच्छी प्रकार से वेदों का अध्ययन किया है और शक्ति के अनुसार शास्त्रों का भी अध्ययन किया है। विवाह के क्षण से मैं नियमित गृहस्थ हूँ (दार परिग्रहादभ्यागारिकोऽस्मि)[40] अवश्य ही शैशव काल में कुछ चपलताएं हुईं, परन्तु वे ऐसी नहीं थी कि जिनका इस लोक या परलोक से विरोध हो। मुझमें कौनसी भुजंगता है। अर्थात् मुझमें कौनसी कामिता है? अथवा मैंने किस अंगना को अपनी भुजाओं से आलिंगित किया है? समय आने पर आप स्वयं मेरे विषय में जान सकेंगे। बुद्धिमानो का यह स्वभाव होता है कि वे किसी बात में भी विपरीत हठ नहीं करते (अनपाचीन चित्तवृत्तिग्राहिण्यो हि भवन्ति प्रज्ञावती प्रकृतयः)[41]। बाण इतना कह कर चुप हो गये। यहाँ हर्ष कें साथ वाग्व्यवहार में बाण का एक-एक वाक्य विद्वज्जनोचित अविशंकता, कटुसत्य एवं यथार्थ कहने का साहस, आत्मसम्मान, एवं सत्यपरायणता से परिपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त हर्ष के अनुज कृष्ण के आग्रह करने पर भी उनका चित्त राजकुल की सेवा के लिए सन्नद्ध नहीं था। बाण की स्वतन्त्रता एवं तिरस्कारासहिष्णु प्रकृति उन्हें हर्ष के राजदरबार में जाने से रोकती रही। कृष्ण भी बाण की इस प्रकृति से पूर्णतया परिचित थे। अतएव उन्होंने सन्देश के साथ ही यह भी कहा था—"आपको राज्य सेवा में झंझट मानकर उदासीन नहीं होना चाहिये और न ही सम्राट के पास आने में भयभीत होना चाहिये"। बाण का चित्त संशय ग्रस्त हो जाता है। वे सोचते हैं कि सेवा कष्टदायिनी है, स्वामिमुखापेक्षी होना और भी विषम है। राजदरबार में बड़े संकट रहते हैं।[42] बाण सोचते हैं कि उनके पूर्वजों की भी राज्यसेवा में कभी रूचि नहीं रही और न हीं उनका कुल परम्परागत राज-भवन से सम्बन्ध रहा है। न यह प्रलोभन है कि बुद्धि सम्बन्धी विषयों में वहाँ कुछ आदान-प्रदान किया जा सके।

उनकी इस प्रकार की उक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे राज भवन के झंझटों से दूर रहने वाले तथा अध्ययनाध्यापन के द्वारा अपना शान्त

जीवन व्यतीत करने वाले थे। स्वभाव में आत्मसम्मान की भावना का सर्वत्र दर्शन होता है। उन्होंने हर्ष की प्रभुता की चिन्ता न कर सत्य एवं यथार्थ को स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया। उनकी यह निर्भीकता उनके स्वभाव की एक महती विशिष्टता है।

किम्वदन्ती

बाण के जीवन वृत्तान्त के विषय में पण्डित समाज में एक किम्वदन्ती प्रचलित है, जो बाण का सम्बन्ध तत्कालीन एक महाकवि से स्थापित करती है। किम्वदन्ती यह है कि बाणभट्ट का विवाह महाकवि मयूर की भगिनी से हुआ था। एक समय जब शीतांशुमाली अस्ताचल चूडावलम्बी हो रहे थे, प्रभात की वेला थी, शीतल समीर बह रहा था और बाण की पत्नी अभी तक मान किये बैठी थी। बाण ने अपनी दयिता को प्रसन्न करने तथा उसका मान-मोचन कराने के लिए प्रात. काल होने की बात को एक पद्य में निबद्ध कर उसे सुनाना प्रारम्भ किया—

गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव
प्रदोषोऽयं निद्रावशमुपगतो धूर्वत इव।
प्रणामान्ता मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो

अभी वे तत्काल रचित पद्य के तीन चरण ही सुना पाये थे कि मयूर कवि ने कहीं से आकर अन्तिम चरण यों बनाकर सुनाया—

कुच प्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि। कठिनम्।

बाण को मयूर की इस धृष्टता पर क्रोध आया और उन्होंने मयूर को कुष्ठी होने का शाप दे दिया, जिस महारोग से उन्होंने सूर्य की स्तुति में सौ पद्यों की रचना कर मुक्ति प्राप्त की। इसे सूर्यशतक के नाम से बोधित किया जाता है। क्रुद्ध होकर मयूर ने भी बाण को शाप दिया। बाण ने दुर्गा की स्तुति 'चण्डीशतक' की रचना कर इस शाप से छुटकारा पाया। इनका यह चण्डी शतक गीतिकाव्य एक उत्कृष्ट एवं सुन्दर ग्रन्थ है।

प्रस्तुत किम्वदन्ती पर पूर्ण सत्यता से विश्वास करना सभी विद्वानों को स्वीकार्य नहीं। उनका तर्क यह है कि यदि बाण का सम्बन्ध मयूर से होता तो 'हर्ष चरित' में आत्मकथा लिखते समय वे इसका उल्लेख अवश्य करते। परन्तु हर्ष के आश्रय में रहने से इन दोनों कवियों का घनिष्ठ सम्बन्ध बहुत दिनों तक रहा होगा और यदि उनमें वैवाहिक सम्बन्ध भी रहा हो तो कोई

आश्चर्य नहीं। इस किम्वदन्ती का उल्लेख जैन ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। अतः इसमें कुछ सत्यता अवश्य प्रतीत होती है।

बाण के पुत्र

बाण ने 'हर्षचरितम' के आरम्भिक उच्छ्वासों में अपनी आत्मकथा का विशद वर्णन किया है परन्तु अपने पुत्रों के विषय में वे मौन हैं। परन्तु उनके पुत्र के अस्तित्व के विषय में सन्देह के लिये कोई अवसर नहीं। कादम्बरी को पूरी किये विना ही बाणभट्ट दिवंगत हो गये। कादम्बरी का यही उत्तरार्द्ध है, जिसकी रचना उनके पुत्र ने की। ऐसा पितृभक्त एवं निस्पृह पुत्र साहित्य-जगत् में शायद ही कोई अन्य मिल सके। उत्तरार्द्ध के आरम्भ में बाण के पुत्र ने लिखा है—

याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्द्ध
विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
दुःख सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य
प्रारब्ध एष च मया न कवित्वदर्पात्।

उसने कवित्व के दर्प से नहीं प्रत्युत कादम्बरी के समाप्त न होने से सज्जनों के दुःख को देखकर ही बाण तनय ने उसकी रचना को प्रारम्भ किया। वह तो कादम्बरी का आस्वाद ग्रहण कर मदविह्वल सा हो गया था वह तो आगे पीछे के समस्त ज्ञान से शून्य हो गया था। वह यह भी कहता है कि कहीं रस से वर्जित अपने वचनों से उसकी पूर्ति कर वह विदग्धजनों की अवहेलना का पात्र न बन जाय—

कादम्बरी रसभरेण समस्त एव
मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्।
भीतोऽस्मि यन्न रसवर्णविर्जितेन,
तच्छेष मात्मवचसाप्यनु सन्दधानः।

डाक्टर ब्यूलर ने इसका नाम भूषण भट्ट बतलाया था परन्तु आगे की खोज से इसका नाम पुलिन अथवा पुलिन्द भट्ट सिद्ध होता है। कादम्बरी शारदा लिपि में लिखित पुष्पिका में यही नाम प्राप्त होता है। मुञ्ज के समय लिखित धनपाल की तिलक मंजरी से भी इसकी प्रमाणिकता सिद्ध होती है—

केवलोऽपिस्फुरन्वाणः करोति विमदान् कवीन्।
किं पुन क्लृप्तसन्धानः पुलिन्ध्रकृत सन्निधिः।

प्रस्तुत पद्य में श्लेष अलंकार के द्वारा बाण के पुत्र का नाम पुलिन्ध्र प्रतिपादित किया गया है। कादम्बरी के उत्तरार्द्ध के रचयिता पुलिन भट्ट के विषय में विद्वज्जन परिचित हैं परन्तु अन्य किसी पुत्र के विषय में सप्रमाण कहना सम्भव नहीं। एक अन्य किम्वदन्ती के आधार पर बाण के कई पुत्रों का होना सिद्ध होता है। किम्वदन्ती इस प्रकार है कि बाण जब मृत्युशय्या पर पड़े हुए थे। तब कादम्बरी को समाप्त करने की चिन्ता में वे निमग्न थे तभी उन्होंने अपने पुत्रों के साहित्यिक ज्ञान एवं प्रतिभा की परीक्षा करने के लिए 'आगे सूखा वृक्ष पड़ा हुआ है' इस वाक्य का संस्कृत में अनुवाद करने को कहा। उनके ज्यौतिषी पुत्र ने 'शुष्को वृक्ष स्तिष्ठत्यग्रे' यह नीरस वाक्य रचना की परन्तु योग्य साहित्यिक रसिक पुत्र ने 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' सरस एवं मधुर अनुवाद कर अपनी मनोहारी शैली का प्रमाण पिता को दिया। पिता ने इस पुत्र की प्रतिभा से प्रसन्न होकर उसे कादम्बरी के समाप्त करने का भार सौंप दिया।

कथा और आख्यायिका

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वर्तमान समय में जो तीन प्राचीनतम एवं अत्यन्त प्रौढ़ गद्यकार गद्य-काव्य-गगन में नक्षत्र के समान देदीप्यमान हैं, वे सुबन्धु, दण्डी एवं बाण भट्ट हैं। इनके गद्य काव्यों के अध्ययन से पूर्व यह उचित होगा कि संस्कृत गद्य के विन्यस्त स्वरूप का समुचित रूप से विशद अध्ययन कर लिया जाय। संस्कृत साहित्य शास्त्र से 'गद्य' को गद्य काव्य के रूप में ग्रहण किया गया है और इसीलिए भामह, दण्डी और वामन से लेकर कविराज विश्वनाथ तक सभी आचार्यों ने गद्य के भेद प्रभेदों का विशद विवेचन किया है। सर्व प्रथम अमरकोश में कथा और आख्यायिका का स्वरूप-निर्देश उपलब्ध होता है—

> **''आख्यायिकोपलब्धार्था पुराणंपञ्चलक्षणम्।**
> **प्रबन्ध कल्पना कथा''** ।[43]

अर्थात् आख्यायिका की कथावस्तु प्रख्यात, एवं इतिहास सम्मत होती है एवं कथा का विषय कवि कल्पित होता है। परवर्ती आचार्यों ने इस लक्षण का विकास किया तथा अपनी अपनी रूचि के अनुसार इनके लक्षण प्रस्तुत किये।

आचार्य भामह सर्व प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने कथा और आख्यायिका के स्वरूप पर विचार-विमर्श किया है। उन्होंने इन दोनों प्रकारों का गद्य-काव्य

के भेद के रूप में स्वीकार किया है। भामह के मतानुसार गद्य से युक्त संस्कृत की रचना को आख्यायिका की संज्ञा दी जाती है। इसमें शब्द, अर्थ एवं समास अक्लिष्ट होते हैं। इसका वर्ण्य विषय उदात्त तथा उसका विभाजन उच्छ्वासों में होता है। आख्यायिका में नायक अपने घटित वृत्त को स्वयं कहता है तथा समय-समय पर भावी घटनाओं के सूचित करने वाले वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों का उसमें प्रयोग होता है। वह आख्यायिका कवि के विशिष्ट अभिप्राय को प्रदर्शित करने वाले किन्हीं कथनों से युक्त एवं कन्याहरण, युद्ध, वियोग, अभ्युदय आदि से समन्वित होती है।

इसके विपरीत संस्कृत, असंस्कृत (प्राकृत) या अपभ्रंश की रचना, जिसमें न तो वक्त्र और अपरवक्त्र छन्द का प्रयोग हो और न ही उसका उच्छ्वासों में विभाजन हो, कथा कही जाती है। इसमें नायक अपना घटित चरित स्वयं नहीं कहता अपितु वे वृत्त अन्य व्यक्ति के द्वारा वर्णित किये जाते हैं। सम्भवतः इसका कारण यह प्रतीत होता है कि अभिजात एवं संभ्रान्त व्यक्ति अपने गुणों का वर्णन स्वयं करना उचित नहीं समझता :—

संस्कृतानाकुलश्रऽय शब्दार्थ पद वृत्तिना।
गद्येन युत्तोदस्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता।
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रञ्चापरवक्त्रञ्च कालेभाव्यर्थशंसि च।
कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कंश्चिदङ्किता
कन्याहरण सग्राम विप्रलंभोदयान्विता।
न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि
संस्कृता संस्कृता चेष्टा कथाप्रभ्रंशभाक्तथा
अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः।[44]

इस प्रकार भामह द्वारा प्रस्तुत लक्षण के द्वारा कथा और आख्यायिका के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

1. आख्यायिका संस्कृत में लिखी जाती है परन्तु कथा संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश में भी लिखी जा सकती है।
2. आख्यायिका में समय-समय पर भावी घटनाओं के सूचित करने वाले

वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है पर कथा में इन छन्दों का प्रयोग नहीं होता ।

3. आख्यायिका में वर्ण्य विषय उच्छ्वासों में विभाजित किया जाता है इसके विपरीत कथा में इतिवृत्त का उच्छ्वासों में विभाजन नहीं होता ।

4. आख्यायिका में नायक अपने चरित का स्वयं वर्णन करता है इसके विपरीत कथा में नायक अपने वृत्त का स्वयं वर्णन नहीं करता अपितु किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा उसका वर्णन प्रस्तुत किया जाता है ।

भामह द्वारा निर्दिष्ट कथा और आख्यायिका के अन्तर का तुलनात्मक रूप केवल बाह्य एवं अपेक्षाकृत कम महत्त्व का है । इसमें यह कारण प्रस्तुत किया जा सकता है कि भाषा की दृष्टि से कोई रचना संस्कत भाषा में हो या अपभ्रंश में हो, उसके आन्तरिक मूल्य में कोई अन्तर नहीं आता । वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है । गद्य-प्रबन्ध में उन छन्दों का यत्र-तत्र समावेश न तो उसमें कोई उल्लेखनीय महत्त्व प्रस्तुत करता है और न ही उसे हीनता प्रदान करता है । इसी प्रकार कथा के इति वृत्त का विभाजन उच्छ्वासों में किया जाय या उसे कुछ और नाम दिया जाय या उसे धारा प्रवाह शैली में प्रस्तुत किया जाय—इसमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं आता । अन्तिम भेद इस दृष्टि से अवश्य ही कुछ महत्त्व का है कि उसका प्रभाव प्रस्तुतीकरण की पद्धति अथवा कथा-शिल्प पर पड़ता है । इसके अतिरिक्त नायक के द्वारा अपने चरित के स्वयं वर्णन करने में यदि आत्मीयता का स्वर प्रधान होगा । साथ ही यह भी विचारणीय है कि भामह ने जो तर्क प्रस्तुत किया है उसका कोई तात्त्विक मूल्य नहीं, वह तो शिष्टाचार मात्र है ।

आचार्य दण्डी[45] ने अपने काव्यादर्श में आख्यायिका और कथा को एक ही जाति का प्रतिपादित करते हुए इनके पारस्परिक भेद को अमान्य स्वीकृत किया है । साथ ही दण्डी ने आचार्य भामह द्वारा निर्दिष्ट इन दोनों के व्यावर्तक लक्षण एवं अन्तर का खण्डन किया है । यही नहीं, इसके अतिरिक्त आख्यान एवं खण्ड कथा अन्य भेद प्रभेदों का भी इन्हीं दो के अन्तर्गत अन्तर्भाव कर दिया है ।[46] दण्डी ने अन्त में स्पष्ट रूप से यह स्पष्ट कर दिया है कि कवि द्वारा किसी अभिप्राय या उद्देश्य विशेष से प्रयोग किया गया विशेष चिह्न अर्थात् शिल्पगत प्रयोग कथा से अन्यत्र भी दूषित नहीं होता अभीप्सित

अर्थ की सिद्धियों के लिए विद्वान् कवि कसी भी घटना से अपने काव्य या कथा को आरम्भ करने का अधिकार रखते हैं :—

कवि भावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति ।
सुखमिष्टार्थसंसिध्यै किं हि न स्यात् कृतात्मनाम् ।[47]

वस्तुतः आचार्य दण्डी ने काव्य-शिल्प के प्रयोग क्षेत्र में एक स्वाभाविक सत्य को समक्ष प्रस्तुत किया है और जैसा परवर्ती आचार्यो के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि किसी भी आचार्य ने आख्यायिका एवं कथा के व्यावर्तक लक्षणों का एकान्ततः पालन नहीं किया ।

अग्निपुराण में गद्य काव्य के पांच भेदों का वर्णन किया गया है ।[48]

1. आख्यायिका
2. कथा
3. खण्ड कथा
4. परिकथा
5. कथानिका

1. आख्यायिका – अग्नि पुराण में आख्यायिका का स्पष्ट एवं विशद लक्षण प्रस्तुत किया गया है[48]—

   1. जिस गद्य काव्य में ग्रन्थ-कर्ता के वंश की प्रशस्ति विस्तार पूर्वक दी जाती है ।
   2. जिसमें कन्याहरण, संग्राम, वियोगजन्य विपत्तियों का वर्णन किया जाता है ।
   3. रीति, वृत्ति एवं प्रवृत्ति का चमत्कृत रूप उपन्यस्त किया जाता है ।
   4. जिसके कथा भागों का नाम उच्छ्वास होता है ।
   5. जिसमें चूर्णक नामक गद्य का प्रयोग होता है ।
   6. जिसमें कथा नायक के मुख से कहलायी जाती है अथवा किसी अन्य पात्र के मुख से

उपर्युक्त इन सभी लक्षणों से समन्वित गद्य-काव्य को आख्यायिका की आख्या दी जाती है ।

2. कथा – जिस गद्य-काव्य में ग्रन्थकार संक्षेप में श्लोकों द्वारा अपने वंश की प्रशंसा करता है तथा जहां मुख्य कथा को लाने के लिए अवान्तर कथा की सृष्टि की जाती है। जिसमें परिच्छेद नहीं होते तथा समस्त वर्ण्य-विषय प्रबन्ध में अनुस्यूत रहता है, उसे कथा के नाम से व्यवहृत किया जाता है।

3. कथा खण्ड – जिस गद्य-काव्य में चतुष्पदी का प्रयोग होता है उसे खण्ड कथा के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

4. परिकथा – कथा और आख्यायिका के मिश्रित रूप को परिकथा कहा जाता है।

   (क) कथा एवं परिकथा नामक गद्य-काव्यों में राज्यों का मन्त्री, व्यापारी अथवा ब्राह्मण नायक होता है।

   (ख) इनमें करूण रस और चार प्रकार का विप्रलम्भ शृङ्गार होता है।

   (ग) इन दो गद्य-काव्य के भेदों में से कथा में घटना की परिसमाप्ति नहीं होती अपितु उसे अपूर्ण ही छोड दिया जाता है।

5. कथानिका – जिस गद्य-काव्य में प्रारम्भ में सुखपरक भयानक रस, मध्य में करूण रस, तथा अन्त में अद्भूत रस का परिपाक होता है, उसे कथानिका कहा जाता है।

इस गद्य-काव्य का केन्द्रीभूत विषय उदात्त न होते हुए सुनियोजित रहता है।[49]

आचार्य वामन ने गद्य-काव्य की परिभाषा न देकर उसकी विशेषताओं को दुर्ज्ञेय एवं उसकी रचना को कठिन बताते हुए उसकी महत्ता का केवल निर्देश कर इस सूक्ति को उदाहृत किया है—

"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति"।[50]

इस सूक्ति के अनुसार गद्य को कवि-प्रतिभा की कसौटी माना गया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में आख्यायिका, कथा, परिकथा, खण्डकथा, एवं सरल कथा—इन नामों से उल्लेख मात्र कर गद्य-प्रयोग की कतिपय विशेषताओं की ओर संकेत किया है।[51] ध्वन्यालोक की टीका

'लोचन' के प्रणेता आचार्य अभिनव गुप्त ने किसी अन्य भेद की चर्चा नहीं की है अपितु इन्हीं भेदों की परिभाषा दे दी है।

हेमचन्द्र प्रणीत काव्यानुशासन में गद्य-काव्य के प्रभेदों की विस्तृत संख्या का निर्देश उपलब्ध होता है। कवि ने इनके स्वरूपों को उद्घाटित करने के साथ साथ प्रतिनिधि रचना का नामोल्लेख भी किया गया है।

हेमचन्द्र ने गद्य-काव्य के दस प्रभेदों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

1. आख्यान	2. निदर्शन	3. प्रह्लिका
4. मतल्लिका	5. मणिकुल्या	6. परिकथा
7. खण्डकथा	8. सकलकथा	9. उपकथा
10. वृहत्कथा।		

1. आख्यान – प्रबन्ध के बीच किसी अन्य व्यक्ति को समझाने के लिए नल आदि के उपाख्यान के समान किसी उपाख्यान को यदि प्रस्तुत किया जाय तो उसे आख्यान के नाम से कहा जाता है। उदाहरण के लिए जैसे–गोविन्दम्।

2. निदर्शन – जिस गद्य-काव्य से पशु-पक्षियों अथवा उनसे भिन्न प्राणियों की चेष्टाओं के द्वारा कार्य या अकार्य का निर्णय कराया जाय वह निदर्शन के नाम से बोधित होता है। जैसे–पञ्चतन्त्र।

3. प्रह्लिका – गद्य की जिस रचना में प्रधान पात्र को लेकर दो व्यक्ति विवाद करें तथा जिसका आधा भाग प्राकृत भाषा में गुम्फित हो, उसे प्रह्लिका की संज्ञा दी जाती है। जैसे–चेटक आदि।

4. मतल्लिका – प्रेतभाषा तथा महाराष्ट्र भाषा चिरचित छोटी कहानी को मतल्लिका कहा जाता है। यहाँ प्रेत भाषा से सम्भवत. पैशाची भाषा ली जाती है। मतल्लिका को मथल्लिका भी कहा जाता है। गोरोचना अथवा अनंगवती इसका उदाहरण है। इसके अतिरिक्त जिस रचना से नीच पुरोहित अथवा अमात्य आदि कोई कार्य आरम्भ करें परन्तु उसके समाप्त न होने से जब उपहास का अवसर उपस्थित हो जाय—उसे भी मतल्लिका कहा जाता है।

5. मणिकुल्या – जिस गद्य-काव्य में पहले तो कोई वस्तु न दिखायी पड़े और पीछे वह प्रकाशित होने लगे, उसे मणिकुल्या कहा गया है। उदाहरण के लिए जैसे–मत्स्य हसितम्।

6. परिकथा – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से किसी एक पुरुषार्थ को लेकर विविध प्रकार से अनन्त वृत्तान्तों के वर्णन की जिसमें प्रधानता हो उसे परिकथा कहा जाता है।

7. खण्ड कथा – किसी दूसरे ग्रन्थ में उपलब्ध किसी प्रसिद्ध कथा का यदि बीच से या अन्त की और से लेकर वर्णन किया जाय वह खण्ड कथा कहलाती है। इन्दुमती को इसका उदाहरण माना है।

8. सकल कथा – धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष–इन चारों पुरुषार्थ को लेकर जो कथा उपन्यस्त की गयी हो उसे सकल कथा कहते हैं। जैसे–समरादित्य।

8. उपकथा – प्रसिद्ध कथान्तर का किसी एक पात्र में उपनिबन्धन उपकथा है। चित्रलेखा सका उदाहरण है।

10. वृहत्कथा – अद्भुत अर्थों से युक्त एवं लाभ से अंकित चरित वर्णन को 'वृहत्कथा' के नाम से व्यवहृत किया जाता है। 'नरवाहन दत्त का चरित' इसका प्रमुख उदाहरण है।

इन दस भेदों से अतिरिक्त आख्यायिका और कथा—इन दो भेदों का उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र ने पूर्ण विस्तार के साथ किया है। इस प्रकार सब मिला कर बारह भेद हो जाते हैं।

1. आख्यायिका में नायक अपना इतिवृत्त स्वयं कहता है। यदि वह धीरोद्धत होता है, अन्यथा उसके मित्र आदि उसका आख्यान कहते हैं।
2. इसमें भावी अर्थ या घटना के सूचक वक्त्र-अपवक्त्रादि छन्दों का समावेश होता है।
3. इसके इतिवृत्त का उच्छ्वासों में विभाग होता है।
4. वह संस्कृत भाषा में निबद्ध होती है।

इसके उदाहरण में हर्षचरित को प्रस्तुत किया गया है।

इसी प्रकार कथा का विश्लेषण करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया[52] है कि–

1. कथा में नायक धीरप्रशान्त होता है।

2. नायक के चरित का वर्णन या तो कवि स्वयं करता है या किसी अन्य पात्र के माध्यम से कराया जाता है।

3. कथा गद्य या पद्य दोनों में एवं किसी भी भाषा में लिखी जा सकती है।

गद्य में रचित कथा का उदाहरण 'कादम्बरी' है तथा पद्य में रचित कथा का उदाहरण 'लीलावती' को माना गया है।

आचार्य हेम चन्द्र से कुछ पूर्व भोजराज ने अपने 'शृंगार प्रकाश' में श्रव्य-काव्य के 24 भेदों में आख्यायिका आदि 11 गद्य-काव्य-प्रभेदों का निरूपण किया है। केवल सरल कथा का उसमें उल्लेख नहीं है—

"यथा अनभिनेयः श्रव्यः। सोप्याख्यायिकादि भेदात् चतुर्विंशाति प्रकारो भवति। आख्यायिका, उपाख्यानम्, निदर्शनम्, प्रवह्लिका मथल्लिका, मणिकुल्या, कथा, परिकथा, खण्डकथा, उपकथा, वृहत्कथा..........इति"[53]

गद्य-काव्य-प्रभेदों की इस तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि आख्यायिका, कथा, परिकथा, खण्डकथा, वृहत्कथा -- ये पाँच प्रमुख भेद थे, शेष गौण एवं किंचित् समाविष्ट नवीनताओं के नवीन नामकरण मात्र थे। इसके अतिरिक्त इन पाँच प्रमुख प्रभेदों में भी आख्यायिका और कथा—ये ही दो सर्व प्रधान भेद थे। सम्भवतः इसी कारण से परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण में इन दो भेदों का ही विचार किया है। आख्यायिका का स्वरूप विश्लेषण करते हुए विश्वनाथ कविराज ने कहा है—

1. कथा गद्य-काव्य का एक प्रभेद है।
2. इसमें कोई सरस इतिवृत्त गद्य में ही उपनिबद्ध होता है।
3. इसमें कहीं-कहीं आर्या छन्दों का और कहीं-कहीं वक्त्र एवं अपवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है।
4. इसमें प्रारम्भ में नमस्कारात्मक मंगलाचरण किया जाता है।
5. इसमें सज्जन-प्रशंसा एवं खल-निन्दा सम्बन्धी पद्य भी उपन्यस्त रहते है।

कादम्बरी को इसके उदाहरण के रूप में कवि ने उल्लिखित किया है।

इसी प्रकार आख्यायिका का स्वरूप विश्वनाथ ने इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

1. आख्यायिका गद्य-काव्य का एक प्रभेद है।

2. इसमें प्रायः कथा की विशेषताएं रहती हैं ।
3. इसमें कवि अपने वंश का वर्णन करता है तथा यत्रतत्र अन्य कवियों की भी चर्चा की जाती है ।
4. इसमें जहाँ-तहाँ सूक्तियों का भी समावेश होता है ।
5. इसमें कथा-भागों का व्यवच्छेद आश्वास नाम से निरूपित किया जाता है ।
6. इसमें प्रत्येक आश्वास के आरम्भ में आर्या, वक्त्र, एवं अपवक्त्र छन्दों में से किसी एक के द्वारा अन्य विषय-वर्णन के व्याज से वर्ण्य-विषय की तुलना की जाती है ।

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ।
क्वचिदत्रभवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ।
आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम् ।
अस्यामन्य कवीनाञ्च वृत्त पद्यं क्वचित्क्वचित् ।
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति कथ्यते ।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसां येन केनचित् ।
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थं सूचनम् ।[54]

अधिकांश पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह विश्वनाथ ने गद्य-शैली का स्वरूप निदर्शन करते हुए लिखा है कि गद्य वह शब्दार्थ योजना है, जो छन्दोबद्ध नहीं होती । आचार्य विश्वनाथ ने उसके चार भेदों का निरूपण किया है—

1. मुक्तक – मुक्तक रचना में सीधे-सादे समास रहित सरल पदों का प्रयोग होता है ।
2. वृत्तगन्धि – इसमें वृत्तों के अंश जहाँ-तहाँ आते हुए प्रतीत होते हैं ।
3. उत्कलिकाप्राय–इसमें लम्बे एवं दीर्घकार समासों का प्रयोग होता है ।
4. चूर्णक – इस गद्य-शैली में छोटे-छोटे समासयुक्त पदों का प्रयोग रहता है ।

विश्वनाथ ने लिखा है—

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ।
भवेदुत्कलिका प्राय चूर्णकं च चतुर्विधम् ।

आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्।
अन्यदीर्घसमासाद्यं तुर्यंचाल्पसमासकम्।[55]

कथा और आख्यायिका में साम्य एवं वैषम्य

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि गद्य-काव्य के भेद-प्रभेदों में आख्यायिका और कथा—ये दो ही सर्व प्रधान माने गये हैं। प्रायः साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने इन्हीं दो विधाओं का विशेष विवेचन किया है। भामह से लेकर विश्वनाथ कविराज तक आचार्यों ने कथा और आख्यायिका के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस प्रकार आख्यायिका और कथा के अन्तर को तुलनात्मक रूप में यों प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. कथा संस्कृत में लिखी जाती है और उसके अतिरिक्त कथा में प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा का भी प्रयोग किया जा सकता है। इसके विपरीत आख्यायिका केवल संस्कृत भाषा में ही लिखी जा सकती है।

2. आख्यायिका में यत्र-तत्र भावी घटनाओं के सूचक वक्त्र एवं अपर-वक्त्र छन्दों का समावेश होता है, पर इन छन्दों का प्रयोग कथा में नहीं होता।

3. आख्यायिका इतिवृत्त का विभाग उच्छ्वासों में होता है परन्तु कथा में वर्ण्य-विषय का विभाग उच्छ्वासों में नहीं होता। समस्त वर्ण्य विषय प्रबन्ध में उपन्यस्त रहता है।

4. आख्यायिका में नायक स्वचरित का स्वयं वर्णन करता है और इसके विपरीत कथा में नायक स्वयं अपने चरित का वर्णन नहीं करता अपितु किसी अन्य के द्वारा उसका वर्णन प्रस्तुत किया जाता है।

5. आख्यायिका में ग्रन्थकर्ता के वश की प्रशस्ति विस्तार पूर्वक दी जाती है परन्तु कथा में ग्रन्थकार संक्षेप में श्लोकों के द्वारा अपने वंश की प्रशंसा करता है।

6. आख्यायिका में कन्याहरण, संग्राम एवं वियोग जन्य विपत्तियों का वर्णन होता है किन्तु कथा में मुख्य कथा को लाने के लिए अवान्तर कथा की सृष्टि की जाती है।

7. आख्यायिका का नायक धीरोद्धत होता है पर कथा में धीर-प्रशान्त नायक ही देखा जाता है।

8. कथा में सरस इतिवृत्त पद्य में ही उपनिबद्ध होता है, आख्यायिका में भी यह सरस-इतिवृत्तता दृष्टिगोचर होती है।
9. कथा में कवि नमस्कारात्मक मंगलाचरण प्रस्तुत करता है तथा खल-निन्दा एवं सज्जन-प्रशंसा सम्बन्धी पद्य भी उसमें उपन्यस्त करते हैं।

आचार्य दण्डी ने कथा और आख्यायिका को लेकर पर्याप्त विवेचन किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का खण्डन कर कथा और आख्यायिका को एक ही गद्य-काव्य के दो भिन्न-भिन्न नाम मात्र ही स्वीकार किये हैं। उनकी यह धारणा है कि प्राचीन आचार्यों ने इनके जो लक्षण दिये हैं वे पूर्णतः कहीं भी घटित नही होते दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार कथा और आख्यायिका में लक्षण सांकर्य होने से इन दोनों के मध्य कोई सीमान्त विभाजक रेखा खींचना नितान्त कठिन है। उन्होंने[56] लिखा है—

अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल।
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा।
स्वगुणाविष्क्रिया दोषी नात्र भूतार्थशंसिनः।
अपिस्वनियमोदृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम्।
वक्त्रञ्चापरवक्त्रञ्च सोच्छ्वासाञ्च च भेदकम्।
चिन्हमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसंगेन कथास्वपि।
आर्यादिवत्प्रवेशः किम् न वक्त्रापरवक्त्रयोः।
भेदश्च दृष्टो लम्बादि रुच्छ्वासो वास्तु किन्ततः।
तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।
कन्याहरण संग्राम विप्रलंभोदयादयः।
सर्गबन्धसमा एवं नैते वैशेषिकाः गुणाः।

दण्डी ने पूर्व-प्रचलित मन्द-प्रणाली की बड़ी आलोचना की है। गद्य-काव्य के इन दोनों भेदों-कथा और आख्यायिका को लेकर द ण्डी और बाण के समय में अनेक मत-भेद उठ खडे हुए थे दण्डी के अनुसार आख्यायिका का वक्ता स्वयं नायक होता है, कथा का वक्ता नायक हो या अन्य कोई। यह नियम सर्वत्र घटित नहीं होता है, फिर वक्ता के रूप में स्वयं नायक हो या अन्य कोई व्यक्ति,

इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। अतः यह भेद वास्तविक प्रतीत नहीं होता। कुछ आचार्यों के मतानुसार आख्यायिका में वक्त्र एवं अयवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है और उसमें वाक्यांश उच्छ्वासो में विभक्त रहता है। यद्यपि दण्डी ने प्रसंगवश कथा में भी इन लक्षणों का होना प्रतिपादित किया है और इस भेद को स्वीकार नहीं किया, तथापि बाण के हर्षचरित में यह लक्षण वक्त्र घटित होता है। दण्डी के मत में तो कथा और आख्यायिका में केवल नाम का ही भेद है इन दोनों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं। दोनों एक ही जाति के अंश है।

कादम्बरी-कथा

जहाँ तक कादम्बरी का सम्बन्ध है, आलंकारिकों के अनुसार, कथा के प्रायः सभी लक्षण इसमें दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि कादम्बरी का कथानक वृहत्कथा के आधार पर रचा गया है, तथापि कविकल्पना का उत्कर्ष कथा में सर्वत्र दृष्टिगत होता है। साथ ही साथ रचना के प्रारम्भ में ब्रह्मा; विष्णु, महेश तथा गुरु का आदर पूर्वक स्मरण, नमस्कार आदि तथा उसके अनन्तर खलनिन्दा आदि का काव्य में सफल विनियोग हुआ है। वंशस्थ छन्द में कविवंश परिचय दिया गया है। कादम्बरी में शृंगार रस मुख्य रस है। कथा में उच्छ्वास नहीं होते अतः कादम्बरी में भी उच्छ्वास आदि कोई नाम नहीं दिया गया। काव्य में संग्राम आदि का कोई संकेत भी नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त मुख्य कथा को प्रस्तुत करने के लिए शूद्रक तथा रूप अवान्तर कथा का प्रयोग सफलता से किया गया है।

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गद्य-काव्य के उभय भेदों में से कादम्बरी निर्विवाद रूप से सर्वमान्य है। अमर सिंह के अनुसार उसका कथानक कवि-कल्पना प्रसूत है। भामह के मतानुसार वक्त्र एवं अपरवक्त्र छन्दों एवं उच्छ्वासों का कादम्बरी म अभाव है। इसमें संस्कृत भाषा का प्रयोग, नायकातिरिक्त व्यक्ति द्वारा वृत्त कथा एव वक्र स्वभावोक्ति की योजना दृष्टिगोचर होती है।

कादम्बरी के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि इसकी रचना पर अग्नि पुराणोक्त लक्षण का अभाव है।[57] आचार्य रुद्रट ने तो इसी को आधार मानकर अपने लक्षण की रचना की होगी क्योंकि वह यहाँ अक्षरशः घटित होता है।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कथा के समग्र लक्षण के अनुगमन की दृष्टि से तथा भाव, कल्पना, रचना-विधान एवं आदर्श की दृष्टि से कादम्बरी संस्कृत साहित्य में अद्वितीय कथा है। श्री काले महोदय ने काद-

म्बरी की भूमिका में कादम्बरी को कथा का उत्कृष्ट रूप स्वीकार करते हुए लिखा है।

"Kadambari belongs to that class of prose composition which is Known as Katha or romance."

कादम्बरी कथा का आधार

कादम्बरी को कथा का एक समुत्कृष्ट उदाहरण स्वीकृत किया जा चुका है। अब यह प्रश्न उठता है कि इस आनन्द को बहाने वाली सरस कथा का मूल आधार क्या है ? महाकवि बाण भट्ट ने उस समय प्रसिद्ध एवं प्रशंसित वृहत्कथा के आधार पर इसे गुम्फित किया है। वृहत्कथा में वर्णित मकरन्दिकोपाख्यान ही इस कथा का मूल है, ऐसा विद्वज्जन स्वीकार करते हैं। महाकवि क्षेमेन्द्र एवं सोमदेव के समय तक, जो ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है, गुणाढय रचित वृहत्कथा सुलभ थी। इसीलिए उसकी कथाओं को आधार बना कर इन दोनों महाकवियों ने 'वृहत्कथा मन्जरी' एवं 'कथा-सरित्सागर' नामक अपने ग्रन्थों को उपन्यस्त किया। अतः बाण की गद्य–रचना के उपजीव्य के रूप में यदि 'वृहत्कथा' को मान लिया जाय तो इसमें नितान्त भी असंगति नहीं है।

महाकवि बाण ने वृहत्कथा के मकरन्दिकोपाख्यान में दिये गये पात्रों का नाम परिवर्तन कर कथा में रस के अनुगुण यथावश्यक घटनाओं का व्यत्यास कर इस सुन्दर रसमयी कादम्बरी की रचना की। बाण ने कथाशों का यथावत्-ग्रहण किया है और साथ ही कहीं-कहीं कथा के साथ उसके चमत्कार पूर्ण अर्थ, अलंकार आदि को भी अविरल रूप से कथा में सन्निविष्ट किया है। इससे भी वृहत्कथा को कादम्बरी का आधार मानने में पुष्टि प्राप्त होती है वर्णन का जैसा चमत्कार 'वृहत्कथा' से 'वृहत्कथा मन्जरी' में संक्रमित हुआ है 'कादम्बरी' में भी वह वैसा ही दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए जैसे–'कर्णीसुतश्च कटकः स्तेयशास्त्र प्रवर्तक। ख्यातौतस्य सखायौ द्वौ विपुलाचल संज्ञकौ। शशोमन्त्रि वरस्तस्य.........' यह 'वृहत्कथा मन्जरी' के मकरन्दिकोपाख्यान' में उल्लिखित यह कथ्य कादम्बरी के विन्ध्याटवी वर्णन में चित्रित निम्ननिर्दिष्ट पंक्तियों में पर्याप्त साम्य रखता है –

"कर्णिसुतकथेव सन्निहित विपुलाचला, शशोपगता च"।[58]

एवं "कथा सरित्सागर के"

"यस्यां बसति विश्वेशो महाकालवपुः स्वयम्।
शिथिलीकृत कैलाश निवासव्यसनो हरः।"

इस विवरण से कादम्बरी के उज्जयिनी वर्णन का यह भाग—

"प्रलयानलशिखाकलापकपिलजटाभारभ्रान्तसुरसिन्धुरन्धकारिः भगवानुत्सृष्टकैलासवासप्रीतिर्महाकालाभिधानः स्वयं निवसति"।[59]

पर्याप्त साम्य का आह्वान करता है।

इसी प्रकार वृहत्कथा का यह निरूपण—

"पुरामुनयः किन्नर राज्ये द्रुमनामक नृपमभिषेचयामासुः"

कादम्बरी के जावाल्याश्रम वर्णन के इस निरूपण से—

"किम्पुरुषाधिराज्यमिव मुनिजनगृहितकलशाभिषिच्यमान द्रुमम्।"[60]

पूरी तरह समानता को धारण करता है।

साम्य प्रदर्शित करने के लिए यहाँ 'कथासरित्सागर' में वर्णित मकरन्दिकोपख्यान की कथा का सार प्रस्तुत करना असंगत न होगा। कथा इस प्रकार है—

कांचनपुरी के महाप्रतापी राजा सुमना के दरबार में, चाण्डाल नरेश की कन्या मुक्तालता एक शुक को लेकर वीरप्रभ नामक अपने भाई के साथ, प्रविष्ट होकर राजा से निवेदन करती है—महाराज यह शास्त्रगंग नामक शुक समस्त कलाओं और विद्याओं में निपुण है आप इसे स्वीकार कीजिए। राजा के समीप पहुँच कर शुक ने यह श्लोक पढकर राजा के प्रतापातिशय का वर्णन किया --

"राजन्। युक्तमिदं सदैव यदयं देवस्य संघुक्षतो,
घूमश्याममुखो द्विषद्विरहिणो निश्वासवातोद्गमैः।
एतत्त्वद्भुतमेव यत्परिभवाद्बाष्पाम्बुपूरप्लवैः
रासां प्रज्वलतीह दिक्षु दशसु प्राज्यः प्रतापानलः"

शुक की शास्त्रज्ञता एवं कला कौशल को देखकर आश्चर्यान्वित राजा ने उससे अपने जन्म की कथा सुनाने का आग्रह किया। शुक ने अपनी कथा इस प्रकार कही— हिमालय के निकट अतिविशाल वृक्ष पर उसका पिता अपनी पत्नी के साथ कोटर बना कर रहता था। बाल्यकाल में ही माता के निधन पर पिता ने यथा कथंचित् उसका पालन पोषण किया। एक बार वहां अनेक शबर आखेट के लिए आये और दिन भर पक्षियों का संहार करते रहे। सायंकाल एक वृद्ध शबर किसी पशु-पक्षी को न पाकर उस महान् वृक्ष के समीप आया। पक्षियों का कलरव सुनकर वह उस वृक्ष पर चढा और शुकों एवं पक्षियों को कोटरों से निकाल कर मार-मार कर भूमि पर फेंकने लगा। उसने उसके पिता को भी मार कर पृथ्वी पर गिरा दिया। पिता के पंखों से चिपका हुआ वह भी

म्बरी की भूमिका में कादम्बरी को कथा का उत्कृष्ट रूप स्वीकार करते हुए लिखा है ।

"Kadambari belongs to that class of prose composition which is Known as Katha or romance."

कादम्बरी कथा का आधार

कादम्बरी को कथा का एक समुत्कृष्ट उदाहरण स्वीकृत किया जा चुका है । अब यह प्रश्न उठता है कि इस आनन्द को बहाने वाली सरस कथा का मूल आधार क्या है ? महाकवि बाण भट्ट ने उस समय प्रसिद्ध एवं प्रशंसित वृहत्कथा के आधार पर इसे गुम्फित किया है । वृहत्कथा में वर्णित मकरन्दिकोपाख्यान ही इस कथा का मूल हैं, ऐसा विद्वज्जन स्वीकार करते हैं । महाकवि क्षेमेन्द्र एवं सोमदेव के समय तक, जो ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है, गुणाढय रचित वृहत्कथा सुलभ थी । इसीलिए उसकी कथाओं को आधार बना कर इन दोनों महाकवियों ने 'वृहत्कथा मन्जरी' एवं 'कथासरित्सागर' नामक अपने ग्रन्थों को उपन्यस्त किया । अतः बाण की गद्य–रचना के उपजीव्य के रूप में यदि 'वृहत्कथा' को मान लिया जाय तो इसमें नितान्त भी असंगति नहीं है ।

महाकवि बाण ने वृहत्कथा के मकरन्दिकोपाख्यान में दिये गये पात्रों का नाम परिवर्तन कर कथा में रस के अनुगुण यथावश्यक घटनाओं का व्यत्यास कर इस सुन्दर रसमयी कादम्बरी की रचना की । बाण ने कथाशों का यथावत्-ग्रहण किया है और साथ ही कहीं-कहीं कथा के साथ उसके चमत्कार पूर्ण अर्थ, अलंकार आदि को भी अविरल रूप से कथा में सन्निविष्ट किया है । इससे भी वृहत्कथा को कादम्बरी का आधार मानने में पुष्टि प्राप्त होती है वर्णन का जैसा चमत्कार 'वृहत्कथा' से 'वृहत्कथा मन्जरी' में संक्रमित हुआ है 'कादम्बरी' में भी वह वैसा ही दृष्टिगोचर होता है । उदाहरण के लिए जैसे–'कर्णीसुतश्च कटकः स्तेयशास्त्र प्रवर्तक । ख्यातौतस्य सखायौ द्वौ विपुलाचल संज्ञकौ । शशोमन्त्रि वरस्तस्य..........' यह 'वृहत्कथा मन्जरी' के मकरन्दिकोपाख्यान' में उल्लिखित यह कथ्य कादम्बरी के विन्ध्याटवी वर्णन में चित्रित निम्ननिर्दिष्ट पंक्तियों में पर्याप्त साम्य रखता है –

"कर्णिसुतकथेव सन्निहित विपुलाचला, शशोपगता च" ।[58]

एवं "कथा सरित्सागर के"

"यस्यां बसति विश्वेशो महाकालवपुः स्वयम् ।

शिथिलीकृत कैलाश निवासव्यसनो हरः ।"

इस विवरण से कादम्बरी के उज्जयिनी वर्णन का यह भाग—

"प्रलयानलशिखाकलापकपिलजटाभारभ्रान्तसुरसिन्धुरन्धकारिः भगवानुत्सृष्टकैलासवासप्रीतिर्महाकालाभिधानः स्वयं निवसति" ।[59]

पर्याप्त साम्य का आह्वान करता है ।

इसी प्रकार वृहत्कथा का यह निरूपण—

"पुरामुनयः किन्नर राज्ये द्रुमनामक नृपमभिषेचयामासुः"

कादम्बरी के जावाल्याश्रम वर्णन के इस निरूपण से—

"किम्पुरुषाधिराज्यमिव मुनिजनगृहितकलशाभिषिच्यमान द्रुमम् ।"[60]

पूरी तरह समानता को धारण करता है ।

साम्य प्रदर्शित करने के लिए यहाँ 'कथासरित्सागर' में वर्णित मकरन्दिकोपख्यान की कथा का सार प्रस्तुत करना असंगत न होगा । कथा इस प्रकार है—

कांचनपुरी के महाप्रतापी राजा सुमना के दरबार में, चाण्डाल नरेश की कन्या मुक्तालता एक शुक को लेकर वीरप्रभ नामक अपने भाई के साथ, प्रविष्ट होकर राजा से निवेदन करती है—महाराज यह शास्त्रगंग नामक शुक समस्त कलाओं और विद्याओं में निपुण है आप इसे स्वीकार कीजिए । राजा के समीप पहुँच कर शुक ने यह श्लोक पढकर राजा के प्रतापातिशय का वर्णन किया --

"राजन् । युक्तमिदं सदैव यदयं देवस्य संघुक्षतो,
घूमश्यामुखो द्विषद्विरहिणो निश्वासवातोद्गमैः ।
एतत्त्वद्भुतमेव यत्परिभवाद्बाष्पाम्बुपूरप्लवैः
रासां प्रज्वलतीह दिक्षु दशसु प्राज्यः प्रतापानलः"

शुक की शास्त्रज्ञता एवं कला कौशल को देखकर आश्चर्यान्वित राजा ने उससे अपने जन्म की कथा सुनाने का आग्रह किया । शुक ने अपनी कथा इस प्रकार कही— हिमालय के निकट अतिविशाल वृक्ष पर उसका पिता अपनी पत्नी के साथ कोटर बना कर रहता था । बाल्यकाल में ही माता के निधन पर पिता ने यथा कथंचित् उसका पालन पोषण किया । एक बार वहां अनेक शबर आखेट के लिए आये और दिन भर पक्षियों का संहार करते रहे । सायंकाल एक वृद्ध शबर किसी पशु-पक्षी को न पाकर उस महान् वृक्ष के समीप आया । पक्षियों का कलरव सुनकर वह उस वृक्ष पर चढा और शुकों एवं पक्षियों को कोटरों से निकाल कर मार-मार कर भूमि पर फेंकने लगा । उसने उसके पिता को भी मार कर पृथ्वी पर गिरा दिया । पिता के पंखों से चिपका हुआ वह भी

पृथ्वी पर गिर पड़ा और आत्मरक्षार्थ सन्निकटवर्ती सूखे पत्तों के ढ़ेर में प्रविष्ट हो गया।

समस्त पक्षियों का संहार कर यह वृद्ध शबर वृक्ष से उतरा और वह कुछ पक्षियों को चुनकर अपने साथियों के साथ चला गया।

शबर समूह के चले जाने पर वह शुक कुछ आश्वस्त हुआ और उसने अत्यधिक कष्ट से रात्रि को बिताया। प्रातःकाल सूर्योदय होने पर पिपासाकुल होकर वह समीपवर्ती पद्मसर नामक सरोवर के निकट धीरे-धीरे गया। उसी समय स्नान के लिए आए हुए मरीचिमुनि ने उसे करुणाजनक अवस्था में देखकर उसके मुख मे कतिपय जल–बिन्दु डाले और दौने में रखकर अपने आश्रम में ले गए। आश्रम में पहुँचने पर महर्षि पुलस्त्य उसे देखकर मुस्कुराये। महर्षि की इस मुस्कुराहट को देख कर वहां उपस्थित अन्य तपस्वियों ने उस के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रदर्शित की। यह जानकर महर्षि नेकहना आरम्भ किया—

रत्नाकर नामक नगर में ज्योतिष्प्रभ नामक अत्यन्त प्रतापी राजा राज्य करता था। उसके उग्रतप से प्रसन्न हुए भगवान् आशुतोष के वरदान से उसकी रानी हर्षवती ने एक पुत्र को जन्म दिया। गर्भिणी रानी ने स्वप्न में चन्द्रमा को अपने मुख में प्रविष्ट होते हुए देखा था अतः राजा ने उसका नाम सोमप्रभ रखा।

सोमप्रभ जब समस्त विद्याओ एवं कलाओं से निपुण युवा हो गया तब पिता ने उसे युवराज पद पर अभिषिक्त कर प्रभाकर नामक अपने मन्त्री के पुत्र प्रियंकर को उसका मंत्री बना दिया। उसी समय मातलि ने एक अश्व लाकर सोमप्रभ से कहा—आप पूर्व जन्म में इन्द्र के मित्र विद्याधर थे अतः उसी प्रेम के कारण इन्द्र ने उच्चैः श्रवा के पुत्र आशुश्रवा को आपके लिए भेजा है। इस पर आरुढ होने पर आप शत्रुओं के लिए अजेय बन जायेगें।

दूसरे दिन सोमप्रभ ने दिग्विजय यात्रा के लिए पिता से आज्ञा मांगी और उसे मिल जाने पर उसने शुभ मुहुर्त में प्रस्थान किया।

सोमप्रभ ने उस अश्व के प्रभाव से समस्त दिग्भागों में भ्रमण किया और अखिल भूमण्डल को अपने वश में कर लिया। लौटते समय हिमालय के निकट सैन्य सहित उसने डेरा डाला। वह उस दिव्य-अश्व पर आरूढ होकर मृगया के लिए निकल पड़ा। मार्ग में एक मणिमय किन्नर को देख कर कौतूहल-वश उसे पकड़ने के लिए उसने शीघ्रता से अपने घोड़े को दौडाया। किन्नर तो पर्वत की किसी गुफा में तिरोहित हो गया किन्तु सोमप्रभ को यह अश्व बहुत दूर ले गया। इसी बीच सूर्यास्त हो गया। सोमप्रभ अत्यधिक श्रान्त हो गया

था और जैसे ही लौटने का विचार कर ही रहा था कि उसे एक विशाल सरोवर दृष्टिगोचर हुआ। उसी जलाशय के तट पर रात्रि व्यतीत करने के विचार से वह अश्व से उतरा और उसे घास आदि देकर सन्तुष्ट किया। स्वयं भी मधुर फल खाकर, जल-पान कर सुकोमल पत्तों का आस्तरण बिछाकर विश्राम करने लगा। उस समय उसे अकस्मात् सुमधुर गीतों की ध्वनि सुनायी दी। वह तत्काल उठा और जिस ओर से ध्वनि आ रही थी, उसी ओर कुछ दूर चल पड़ा। कुछ दूर पहुँच कर उसने देवालय में भगवान् शंकर के समक्ष अत्यन्त मधुर कण्ठध्वनि से गान करते हुई एक दिव्य कन्या को देखा। गीत समाप्त होने पर दिव्य कन्या ने आश्चर्यचकित सोमप्रभ का सत्कार किया और उससे अपना विशद परिचय प्राप्त करने की इच्छा व्यक्ति की। सोमप्रभ ने अपना समस्त वृत्तान्त कह सुनाया और उस कन्या से भी अपना इतिवृत्त कहने एवं निर्जन वन में एकाकिनी रहने का कारण पूछा। दिव्य कन्या ने सोमप्रभ के आग्रह पर आंसुओं की वर्षा करते हुए अपने जीवन की कथा कहना आरम्भ किया—

हिमालय पर कांचनाभ नामक नगर के राजा पद्मकूट एवं उसकी पत्नी हेमप्रभा नामक रानी से उसका जन्म हुआ था। मात-पिता ने उसके जन्म से अत्यन्त हर्ष का अनुभव किया और उसका नाम मनोरथ प्रभा रखा। वह अपने शैशव काल के दिवसों को, अपनी सखियों के साथ, आश्रमों, द्वीपों, पर्वतों और जंगलों में विचरण करती हुई सुख से व्यतीत कर रही थी। एक बार जब वह उस सरोवर के निकट बिहार करने के लिए आयी तो एक मुनि-पुत्र अपने मित्र के साथ उसे दृष्टिगोचर हुआ। ऋषि-पुत्र के सौन्दर्य के वशीभूत होकर वह धीरे-धीरे उसके समीप चली गई। उन्होंने भी उस कन्या को स्नेह संवलित दृष्टि से देखा। उन दोनों का अभिप्राय जानकर सखी ने मुनि-पुत्र के मित्र से उनका वृत्तान्त जानने की इच्छा की। उसने मुनि-पुत्र के जन्म का इतिवृत्त इस प्रकार बताया—

इस सरोवर के आसन्नवर्ती आश्रम में निवास करने वाली दीधिति नामक मुनि एक समय इस सरोवर में स्नानार्थ उपस्थित हुए। उसी समय वहाँ विद्यमान लक्ष्मी देवी ने उन्हें देख कर उनसे समागम की मन में अभिलाषा की इसीलिए उनके तत्काल एक मानस पुत्र उत्पन्न हुआ। देवी ने बालक को मुनि के कर-कमलों में समर्पित करते हुए कहा—'यह आप ही के दर्शन से उत्पन्न हुआ है। अतः आपका पुत्र है' यह कह कर वह तिरोहित हो गयी। मुनि ने अनायास मिले इस पुत्र का नाम रश्मिवान् रखा और चूडा कर्म, यज्ञोपवीत आदि संस्कारों को विधिवत् सम्पादित करके उसे समस्त विद्याओं में दीक्षित

कर दिया। वह यही रश्मिवान नामक ऋषि-पुत्र था. जो वहां विहार करने आया हुआ था।

इसके बदले भी उन्होंने देवकन्या का परिचय प्राप्त किया। तदनन्तर जैसे ही वह कन्या मुनि-पुत्र के निकट जाकर बैठी वैसे ही घर से पिता का सन्देश लेकर आयी हुई सखी के साथ मुनि-पुत्र को वहां छोड़ उद्विग्न सी वह पिता के समीप चली गयी।

भोजन कर ज्यों ही वह बाहर निकली त्यों ही सखी ने मुनि-पुत्र के मित्र को द्वार पर उपस्थित होने की सूचना दी। मुनि-पुत्र के मित्र ने कहा कि उसे रश्मिवान् ने अपने पिता के द्वारा उपदिष्ट आकाशगामिनी विद्या देकर मनोरथ प्रभा के समीप भेजा है और यह सन्देश भेजा है कि काम देव ने उसकी ऐसी दशा कर दी है कि अब वह देव-कन्या के बिना जीवित भी नहीं रह सकता। सुनते ही वह कन्या अपनी सखी को साथ लेकर वहां पहुँची किन्तु उनके वहाँ पहुँचने से पूर्व ही चन्द्रोदय के कारण उद्दीप्त हुए विरहजन्यसन्ताप से वह मुनि-पुत्र असार संसार को छोड़ गया। उसे गतजीवन देखकर उसके साथ जैसे ही उसने स्वयं को भस्मसात् करने की अभिलाषा की वैसे ही एक तेजस्वी पुरुष आकाश से उतरा और उस शरीर को उठा कर ले गया। तदनन्तर वह ज्यों ही अकेली ही अग्नि में भस्म होने के लिए उद्यत हुई त्योंही आकाशवाणी सुनकर उस कन्या ने अनुगमन का विचार त्याग दिया और समागम की प्रतीक्षा में वहाँ रहने लगी। तभी से वहाँ भगवान् शंकर के उस मन्दिर में भजन-पूजन में निरत वह कन्या अपने समय का यापन कर रही थी।

कन्या के द्वारा वर्णित इस वृत्तान्त को सुनकर सोभप्रभ ने उसकी सखी का उसे अकेली छोड़कर जाने का कारण पूछा तो उसने पुन: कहा कि विद्याधरों के अधिपति सिंह विक्रम की मकरन्दिका नाम की अत्यन्त रूपवती कन्या उसकी प्राणों से भी अधीक प्रिय सखी है। इस दुर्दैव से दुःखित होकर उस मकरन्दिका ने भी अपने पाणिग्रहण न करने का दृढ संकल्प किया है। उसका कुशल-क्षेम पूछने के लिए वह वहां गयी है और इसीलिए आज वह यहां अकेली ही है।

मनोरथ प्रभा यों कह रही थी कि उसे आकाश से उतरती हुई उसकी सखी दृष्टिपथ में आयी। समक्ष उपस्थित होने पर उससे मकरन्दिका का समस्त समाचार जानकर सोमप्रभ के लिए कोमल पत्तों की शय्या विछायी और उसके अश्व के खाने के लिए भी समुचित व्यवस्था कर दी। उन लोगों ने उसी देवा-लय में वह रात्रि व्यतीत की। अगले दिन देवराज नामक विद्याधर राजा का सन्देश लेकर उपस्थित हुआ और प्रणाम करके उसने मनोरथ प्रभा को सिंह-

विक्रम का सन्देश सुना दिया। सन्देश में राजा ने मनोरथ प्रभा से यह आग्रह किया था कि वह वहां जाकर पाणिग्रहण न करने का निश्चय करने वाली सखी मकरन्दिका को समझाये, जिससे कि वह पाणिग्रहण करने लिए के उद्यत हो जाये। वहाँ जाने के लिए उद्यत मनोरथ प्रभा से सोमप्रभ ने भी विद्याधरों के लोक को देखने की अभिलाषा की। मनोरथ प्रभा से अनुमति पाकर सोमप्रभा ने अश्व को मन्दिर के पास ही बांध दिया और वापस लौट आने तक के लिए उसके खाने पीने की व्यस्था कर दी।

मनोरथ प्रभा ने सोमप्रभ को देवजय की गोद में बैठा कर अपने साथ ले लिया और वह दिव्यशक्ति द्वारा विद्याधरों के लोक में पहुँच गयी। प्रिय सखी मनोरथ प्रभा को पाकर मकरन्दिका अत्यधिक हर्षान्वित हुई और कुशल क्षेम पूछ कर सोमप्रभ का भी वृत्तान्त पूछने लगी। मनोरथ प्रभा ने उसका सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुन कर मकरन्दिका उस पर आसक्त हो गयी और सोमप्रभ भी लक्ष्मी के समान अतिशयित लावण्यवती मकरन्दिका को देख कर उस पर आसक्त हो गया।

तदनन्तर एकान्त में मनोरथ प्रभा ने मकरन्दिका से विवाह न करने के उसके निश्चय के त्यागने के लिए कहा। उसने कहा कि वह तो अपने प्रियतम के समागम की प्रतीक्षा कर रही है उसने तो वर स्वीकार कर लिया है अतः उसे भी अतिशीघ्र विवाह कर लेना चाहिए। यह सुनकर मकरन्दिका ने उसका आग्रह मान कर विवाह न करने के संकल्प को छोड़ना स्वीकार किया। मनोरथ प्रभा ने उसका अभिप्राय समझ कर दिग्विजय-हेतु आये हुए सोमप्रभ के सत्कार करने के लिए कहा। इस पर मकरन्दिका ने कहा कि उसने शरीर के साथ अपनी समस्त वस्तुएं उसे अर्पण कर दी है। मनोरथ प्रभा ने सिंहविक्रम से कहकर सोमप्रभ के साथ उसके विवाह का निश्चय कर दिया। सोमप्रभ इस समाचार से अत्यधिक प्रसन्न हुआ और उसने मनोरथ प्रभा से आश्रम में जाने की इच्छा प्रकट की। उसने कहा कि कहीं ऐसा न हो कि उसका मन्त्री सैन्य के साथ वहां आकर केवल अश्व को बंधा देख कर उसके विषय में कुछ अनिष्ट की आशंका करे। उसने पुनः कहा कि वह सेना की देखभाल कर पुनः लौट आयेगा और शुभ लग्न में मकरन्दिका से विवाह कर लेगा।

मनोरथप्रभा उसे देवजय की गोद में बैठाकर पहले ही की तरह अपने आश्रम में ले गयी। उसी समय उसका मन्त्री प्रियंकर भी अपनी समस्त सेना के साथ वहाँ जा पहुँचा।

सोमप्रभ, ज्योंही उसे अपना वृत्तान्त सुनाने लगा त्यौंही उसके पिता के एक दूत ने आकर उन्हें पिता के द्वारा बुलाये जाने का सन्देश सुनाया। सन्देश

कर दिया। वह यही रश्मिवान नामक ऋषि-पुत्र था, जो वहां बिहार करने आया हुआ था।

इसके बदले भी उन्होंने देवकन्या का परिचय प्राप्त किया। तदनन्तर जैसे ही वह कन्या मुनि-पुत्र के निकट जाकर बैठी वैसे ही घर से पिता का सन्देश लेकर आयी हुई सखी के साथ मुनि-पुत्र को वहां छोड़ उद्विग्न सी वह पिता के समीप चली गयी।

भोजन कर ज्यों ही वह बाहर निकली त्यों ही सखी ने मुनि-पुत्र के मित्र को द्वार पर उपस्थित होने की सूचना दी। मुनि-पुत्र के मित्र ने कहा कि उसे रश्मिवान् ने अपने पिता के द्वारा उपदिष्ट आकाशगामिनी विद्या देकर मनोरथ प्रभा के समीप भेजा है और यह सन्देश भेजा है कि कामदेव ने उसकी ऐसी दशा कर दी है कि अब वह देव-कन्या के बिना जीवित भी नहीं रह सकता। सुनते ही वह कन्या अपनी सखी को साथ लेकर वहां पहुँची किन्तु उनके वहाँ पहुँचने से पूर्व ही चन्द्रोदय के कारण उद्दीप्त हुए विरहजन्यसन्ताप से वह मुनि-पुत्र असार संसार को छोड़ गया। उसे गतजीवन देखकर उसके साथ जैसे ही उसने स्वयं को भस्मसात् करने की अभिलाषा की वैसे ही एक तेजस्वी पुरुष आकाश से उतरा और उस शरीर को उठा कर ले गया। तदनन्तर वह ज्यों ही अकेली ही अग्नि में भस्म होने के लिए उद्यत हुई त्योंही आकाशवाणी सुनकर उस कन्या ने अनुगमन का विचार त्याग दिया और समागम की प्रतीक्षा में वहाँ रहने लगी। तभी से वहाँ भगवान् शंकर के उस मन्दिर में भजन-पूजन में निरत वह कन्या अपने समय का यापन कर रही थी।

कन्या के द्वारा वर्णित इस वृत्तान्त को सुनकर सोभप्रभ ने उसकी सखी का उसे अकेली छोड़कर जाने का कारण पूछा तो उसने पुनः कहा कि विद्याधरों के अधिपति सिंह विक्रम की मकरन्दिका नाम की अत्यन्त रूपवती कन्या उसकी प्राणों से भी अधीक प्रिय सखी है। इस दुर्दैव से दुःखित होकर उस मकरन्दिका ने भी अपने पाणिग्रहण न करने का दृढ संकल्प किया है। उसका कुशल-क्षेम पूछने के लिए वह वहां गयी है और इसीलिए आज वह यहां अकेली ही है।

मनोरथ प्रभा यों कह रही थी कि उसे आकाश से उतरती हुई उसकी सखी दृष्टिपथ में आयी। समक्ष उपस्थित होने पर उससे मकरन्दिका का समस्त समाचार जानकर सोमप्रभ के लिए कोमल पत्तों की शय्या बिछायी और उसके अश्व के खाने के लिए भी समुचित व्यवस्था कर दी। उन लोगों ने उसी देवा-लय में वह रात्रि व्यतीत की। अगले दिन देवराज नामक विद्याधर राजा का सन्देश लेकर उपस्थित हुआ और प्रणाम करके उसने मनोरथ प्रभा को सिंह-

विक्रम का सन्देश सुना दिया। सन्देश में राजा ने मनोरथ प्रभा से यह आग्रह किया था कि वह वहां जाकर पाणिग्रहण न करने का निश्चय करने वाली सखी मकरन्दिका को समझाये, जिससे कि वह पाणिग्रहण करने लिए के उद्यत हो जाये। वहाँ जाने के लिए उद्यत मनोरथ प्रभा से सोमप्रभ ने भी विद्याधरों के लोक को देखने की अभिलाषा की। मनोरथ प्रभा से अनुमति पाकर सोमप्रभा ने अश्व को मन्दिर के पास ही बांध दिया और वापस लौट आने तक के लिए उसके खाने पीने की व्यस्था कर दी।

मनोरथ प्रभा ने सोमप्रभ को देवजय की गोद में बैठा कर अपने साथ ले लिया और वह दिव्यशक्ति द्वारा विद्याधरों के लोक में पहुँच गयी। प्रिय सखी मनोरथ प्रभा को पाकर मकरन्दिका अत्यधिक हर्षान्वित हुई और कुशल क्षेम पूछ कर सोमप्रभ का भी वृत्तान्त पूछने लगी। मनोरथ प्रभा ने उसका सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुन कर मकरन्दिका उस पर आसक्त हो गयी और सोम-प्रभ भी लक्ष्मी के समान अतिशयित लावण्यवती मकरन्दिका को देख कर उस पर आसक्त हो गया।

तदनन्तर एकान्त में मनोरथ प्रभा ने मकरन्दिका से विवाह न करने के उसके निश्चय के त्यागने के लिए कहा। उसने कहा कि वह तो अपने प्रियतम के समागम की प्रतीक्षा कर रही है उसने तो वर स्वीकार कर लिया है अतः उसे भी अतिशीघ्र विवाह कर लेना चाहिए। यह सुनकर मकरन्दिका ने उसका आग्रह मान कर विवाह न करने के संकल्प को छोड़ना स्वीकार किया। मनोरथ प्रभा ने उसका अभिप्राय समझ कर दिग्विजय-हेतु आये हुए सोमप्रभ के सत्कार करने के लिए कहा। इस पर मकरन्दिका ने कहा कि उसने शरीर के साथ अपनी समस्त वस्तुएं उसे अर्पण कर दी है। मनोरथ प्रभा ने सिंहविक्रम से कहकर सोमप्रभ के साथ उसके विवाह का निश्चय कर दिया। सोमप्रभ इस समाचार से अत्यधिक प्रसन्न हुआ और उसने मनोरथ प्रभा से आश्रम में जाने की इच्छा प्रकट की। उसने कहा कि कहीं ऐसा न हो कि उसका मन्त्री सैन्य के साथ वहां आकर केवल अश्व को बंधा देख कर उसके विषय में कुछ अनिष्ट की आशंका करे। उसने पुनः कहा कि वह सेना की देखभाल कर पुनः लौट आयेगा और शुभ लग्न में मकरन्दिका से विवाह कर लेगा।

मनोरथप्रभा उसे देवजय की गोद में बैठाकर पहले ही की तरह अपने आश्रम में ले गयी। उसी समय उसका मन्त्री प्रियंकर भी अपनी समस्त सेना के साथ वहाँ जा पहुँचा।

सोमप्रभ, ज्योंही उसे अपना वृत्तान्त सुनाने लगा त्यौंही उसके पिता के एक दूत ने आकर उन्हें पिता के द्वारा बुलाये जाने का सन्देश सुनाया। सन्देश

सुनते ही सोमप्रभ ने मनोरथ प्रभा और देवजय को पिता के दर्शन कर शीघ्र ही लौट आने का आश्वासन देकर अपनी सेना के साथ नगर को प्रस्थान किया। देवजय के मुख से सारा वृत्तान्त सुनकर मकरन्दिका विरह से इतनी व्याकुल हुई कि वह उन्मत्त के समान इधर-उधर घूमने लगी। उसकी यह दशा देखकर उसके माता-पिता ने उसे अनेक प्रकार से समझाया। किन्तु जब उसने धैर्य धारण नहीं किया तो उन्होने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया कि वह कुछ काल तक इसी शरीर से अपनी जाति को भूल निषादों के यहाँ रहे। माता-पिता के शाप से मकरन्दिका निषाद के यहाँ जाकर निषाद कन्या बन गयी। उसके माता-पिता ने शोक से विह्वल होकर प्राणों का परित्याग कर दिया। पिता के मरने के पश्चात् समस्त शास्त्रों का तत्ववेत्ता ऋषि हुआ और फिर किसी शाप से अभिभूत होकर दूसरे जन्म में वह शुक गया, जिसे पूर्वजन्म के तपोबल से समस्त विद्याओं एवं चतुष्षष्टि कलाओं का परिपक्व ज्ञान था। उस शुक की कर्मगति को देखकर महर्षि को हंसी आ गयी थी।

महर्षि ने पुनः कहा यह शुक अपनी इस कथा को राज सभा में कह कर अपने पापों से मुक्त हो जायेगा और सोमप्रभ इसकी कन्या को अवश्य प्राप्त करेगा। मनोरथ प्रभा राजा का शरीर धारण करने वाले रश्मिवान् नामक मुनि-पुत्र को प्राप्त करेंगी। सौमप्रभ भी पिता का दर्शन कर लौट आया है और उसी आश्रम में मकरन्दिका को प्राप्त करने के लिए भगवान शंकर की आराधना में निरत है।

यह कथा सुनाकर पुलस्त्य-ऋषि मौन हो गये और वह शुक भी हर्ष और शोक से व्यग्र हो गया। जो मरीचि मुनि उसे आश्रम में लाये थे वे ही उसका पालन पोषण करते रहे। कुछ समय बीत जाने के पश्चात् जब उसके पंख पूरे निकल आये तो वह चपलता के कारण वहां से उड़कर निषादों के आवास में पहुँच गया। इस कथा को सुनाकर शुक अपने समस्त पापों से मुक्त हो गया। राजा सुमना भी शुक से यह कथा सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उधर भगवान शंकर ने सोमप्रभ की आराधना से प्रसन्न होकर उसे आदेश दिया कि वह राजा सुमना की राज्यसभा में उपस्थित हो, जहा मकरन्दिका अपने पिता के शाप से मुक्तलता नामक निषादकन्या होकर शुक के रूप में उत्पन्न हुए अपने पिता को लेकर उपस्थित होगी। सोमप्रभ को देखकर उसे अपनी जाति का स्मरण हो जायेगा और वह अपने शाप से मुक्त हो जायेगी। तदनन्तर सोमप्रभ और मकरन्दिका का समागम होगा।

सोमप्रभ स यह कह कर भगवान शंकर ने मनोरथप्रभा से भी कहा कि उसका प्रिय रश्मिवान नामक मुनिपुत्र सुमना नामक राजा के रूप जन्म लेकर

विराजमान है। वह मनोरथप्रभा को देखते ही अपने पूर्वजन्म का स्मरण कर अपना शरीर प्राप्त करेगा। इस प्रकार सोमप्रभ एवं मनोरथप्रभा—दोनों ही भगवान शंकर का आदेश पाकर राजा सुमना की सभा में उपस्थित हुए। वहां सोमप्रभ का दर्शन कर मकरन्दिका अपनी जाति का स्मरण कर विद्याधरी हो गयी और उसके गले से लिपट गयी। राजा सुमना ने भी मनोरथप्रभा को देख कर अपने पूर्वजन्म का स्मरण किया और आकाश से उतरे अपने शरीर में प्रवेश किया। मुनिपुत्र रश्मिवान् अपनी प्रिया मनोरथप्रभा को साथ लेकर अपने आश्रम में चला गया और सोमप्रभ भी मकरन्दिका को साथ लेकर अपने नगर में गया। वह शुक भी अपना शरीर त्याग तपोबल से प्राप्त उच्चस्थान को चला गया।

कादम्बरी कथा का सार

वृहत्कथा के मकरन्दिकोपाख्यान में वर्णित कथा को आधार मानकर रची गयी कादम्बरी में तथा मूल कथा में साम्य एवं वैषम्य के विवेचन के लिए कादम्बरी कथा का सार भी प्रस्तुत करना युक्तियुक्त होगा। कथा का आरम्भ इस प्रकार होता है—विदिशा नाम की प्रसिद्ध राजधानी में सर्व गुण सम्पन्न शूद्रक नामक राजा राज्य करता था। एक समय जब वह राजमण्डली से युक्त सभामण्डप में परस्पर वार्तालाप कर रहा था उसी समय प्रतीहारी ने वैशम्पायन नामक शुक को लेकर एक वृद्ध के साथ चाण्डाल कन्या के द्वार पर उपस्थित होने की सूचना दी। कौतुकप्रिय राजा ने उसके अविलम्ब प्रवेश की आज्ञा दी। प्रविष्ट होकर चाण्डाल कन्या ने प्रणाम किया तदनन्तर शुक की गुणावलियों को सुनाते हुए वृद्ध ने शुक को राजा के समक्ष रखा। शुक ने राजा के दर्शन कर अपना दक्षिण चरण उठाकर राजा की प्रशशा में यह आर्या पढ़कर सुनाई—

"स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिवयावतोरिपुस्त्रीणाम्।[61]

शुक की इस सुमधुर वाणी को सुनकर आश्चर्य चकित राजा ने परम बुद्धिमान कुमारपालित नामक प्रधान मन्त्री के साथ सानन्द बैठकर उस शुक से अपना वृत्तान्त सुनाने के लिए कहा। शुक ने अपना पूरा वृत्तान्त इस प्रकार सुनाया—

विन्ध्य नामक जंगल के एक विशाल शाल्मली वृक्ष के कोटर में उसके माता-पिता रहते थे। जन्म देते ही माता के मर जाने पर वृद्ध पिता बहुत दुःखी हुए और बड़े कष्ट से पिता ने उसका लालन-पालन किया। एक समय शिकार

खेलने के लिए मातंगनायक सेनापति के पीछे-पीछे चलने वाला कोई वृद्धशबर अपने सहयोगियों से वियुक्त होकर उस शालमली वृक्ष के समीप उपस्थित हुआ। वहां पक्षियों का कोलाहल सुनकर वह उस वृक्ष पर आरूढ हुआ और शुको को कोटरों से मार-मार कर भूमि पर डालने लगा। पुत्र पर भी कदाचित् वह दुष्ट आक्रमण न कर दें, इस भय से उसे उसके पिता ने अपने पंखों में छिपा लिया। चाण्डाल द्वारा जब उसका पिता भी मार कर भूमि पर फैंक दिया गया तो पंखों से चिपका हुआ वह भी भूमि पर गिर पड़ा। वह शुक धीरे-धीरे चलकर उस शालमली वृक्ष की जड़ में जा छिपा। इस बीच वह शबर उन पक्षियों को लेकर चला गया। तदनन्तर वह भी पिपासा से व्याकुल होकर आस-पास पानी की खोज में वहां से चलने का उद्यम करने लगा परन्तु उड़ने की क्षमता न होने से वहीं इधर-उधर व्याकुल होकर तड़पता रहा। वहीं निकटवर्ती आश्रम से महर्षि जावालि के पुत्र हारीत उसी मार्ग से सरोवर में स्नान करने के लिये जा रहे थे। शुक की चिन्ताजनक अवस्था देखकर करुणाकुल चित्त वाले महर्षि पुत्र हारीत उसे मार्ग से उठा कर तट पर ले गये और उसका मुख खोल कर अपनी अंगुलि से उन्होंने उसे पानी पिलाया। स्नान के अनन्तर वे उसे अपने आश्रम में ले गये और वहां उपस्थित ऋषियों के पूछने पर उन्होंने उसके प्राप्त होने की कथा कह सुनायी।

हारीत के कह चुकने पर महर्षि जावालि ने उसकी ओर हंस कर कहा कि यह अपने किये हुए दुष्कर्मों का फल भोग रहा है। कौतुकान्वित ऋषियों को शुक-विषयक जिज्ञासा को शान्त करने के लिए सांयकालीन नित्यकृत्य से निवृत होकर महर्षि जावालि ने समस्त ऋषिगणों के समक्ष उसका जीवन वृतान्त इस प्रकार सुनाया—

"अवन्ति देश की उज्जयिनी नामक राजधानी में तारापीड़ नामक अत्यन्त प्रतापशाली राजा राज्य करता था। उसकी रानी विलासवती थी। समस्त गुणगणों का निधान शुकनास नामक प्रधान मन्त्री था। शुकनास की पत्नी का नाम मनोरमा था। सन्तान न होने के कारण समस्त साम्राज्य को भारस्वरूप मानकर वह राजा अत्यन्त दुःखी रहा करता था पुत्र प्राप्ति के लिए विलासवती एवं राजा विधिवत् व्रत उपवासादि करने लगे। कुछ दिनों के बीत जाने पर अकस्मात् एक रात्रि को राजा ने स्वप्न में रानी के मुख में चन्द्रमा को प्रवेश करते हुए देखा। इधर स्वप्न में शुकनास ने भी किसी ब्राह्मण को मनोरमा की गोद में कमल रखते हुए देखा। शीघ्र ही दोनों में गर्भ के चिन्ह दिखाई देने लगे। प्रसवकाल उपस्थित होने पर शुभमुहूर्त में रानी के पुत्र हुआ साथ ही मनोरमा के भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने विधिवत् जातकर्मादि

संस्कार करके अपने कुमार का नाम चन्द्रापीड़ रखा। शुकनास ने भी सब कृत्य करके अपने पुत्र का नाम वैशम्पायन रखा।

क्रमशः दोनों बालक परस्पर आमोद-प्रमोद एवं क्रीड़ा करते हुए निरन्तर बढ़ने लगे। दोनों कुमारों के विधिवत् चूड़ाकर्म, उपनयन आदि संस्कार किये गये। आपस में अत्यधिक स्नेह रखते हुए परम वैदुष्य से अनुस्यूत आचार्यों से शिक्षा ग्रहण करते हुए वे समस्त विद्याओं में सुतराम् निपुण हो गये।

तदनन्तर महाराज के आदेशानुसार बलाहक नामक सेनाध्यक्ष ने इन्द्रायुध नामक अश्व को विद्यागृह से चन्द्रापीड़को लाने के लिए उपस्थित किया। चन्द्रापीड़ उस अश्व पर आरुढ होकर वैशम्पायन के साथ अपनी राजधानी चला आया। बहुत काल के पश्चात् आये हुए अपने योग्य पुत्र को देखकर राजा और रानी अत्यन्त आनन्दित हुए। एक बार जब चन्द्रापीड़ प्रियवयस्यों के साथ आखेट से लौटे तो माता विलासवती ने उसके पास कुलूत देश के राजा की पुत्री पत्रलेखा को ताम्बूल करंकवाहिनी बनाने के लिए भेजा। उसने माता की आज्ञा मानकर उसे अपने पास उस पद पर प्रतिष्ठापित किया। उसके पश्चात् स्वभावतः गम्भीर होने पर भी उसे और विनीत करने के लिये शुकनास ने बड़ी गम्भीरता पूर्वक रहस्यमय उपदेश दिया, जिसका चन्द्रापीड़ पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। गुणगुणगरिष्ठ पुत्र को प्राप्त कर राजा ने उसे युवराज पद पर अभिषिक्त किया तदनन्तर युवराज ने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। वैशम्पायन भी अश्व पर आरूढ होकर उसका अनुयायी बन गया। युवराज चन्द्रापीड़ तीन ही वर्ष में समस्त दिशा–विदिशाओं को जीत कर हेमकूट में रहने वाले किरातों के आवास स्थान सुवर्णपुर में आया और उसने परिश्रान्त सेनाओं को विश्राम करने के लिए आदेश दिया। एक समय इन्द्रायुध पर चढ़कर वन में भ्रमण करते हुए उसने किन्नर मिथुन का पीछा किया और वह अपने सेना शिविर से 60 कोस दूर चला गया। जब किन्नर मिथुन पर्वत के शिखर पर चढ़कर अदृश्य हो गया तो निराश होकर अश्व को दक्षिण की ओर लौटाकर पिपासा से व्याकुल हो जल का अन्वेषण करता हुआ वह अतिरमणीय अच्छोद सरोवर के समीप गया। जलपान कर अपने अश्व को भी पानी पिलाकर ज्योंही वह एक कुंज में शिला पर विश्राम करने के लिए लेटा ही था कि उसने अतिमधुर गीत की ध्वनि सुनी। अश्व पर आरूढ़ होकर वह उसी दिशा में चला जहां से गीत-ध्वनि आ रही थी और धीरे-धीरे वह उपवन के मध्य एक शिव मन्दिर में जा पहुंचा। वहां उसने देखा कि एक अत्यधिक गौरवर्णवाली कमनीय कलेवर

वाली कामिनी भगवान् शंकर की मूर्ति के समक्ष वीणा बजा कर शिव की आराधना कर रही है। आराधना करने के अनन्तर कन्या ने राजपुत्र का सस्नेह स्वागत किया और उसे कुछ दूर एक गुफा में ले गयी। उस कन्या के पूछने पर राजकुमार ने दिग्विजय से लेकर किन्नर-मिथुन के अनुसरण और यहां तक आगमन का सारा वृत्तान्त उसे कह सुनाया। सुनकर उस कन्या ने अपना भिक्षा कपाल लेकर आश्रम के वृक्षों से गिरे फलों को लाकर राजकुमार को आहार करने के लिए कहा। राजकुमार झरने के जल में स्नान करके सुमधुर फलों का आहार कर बर्फ के समान शीतल निर्झर का जल पीकर आनन्दित हुआ। तदनन्तर अवसर देखकर राजकुमार चन्द्रापीड़ ने देवकन्या से उसका वृत्तान्त पूछा और देवकन्या ने उसके आग्रह पर आंखों में अविरल अश्रुधारा बहाते हुए अपनी राम कहानी इस प्रकार सुनायी—

एक समय वह अपनी माता के साथ उस अच्छोद सरोवर में स्नान करने गयी तो कहीं से सकल हृदयावर्जिनी सुगन्धि का आघ्राण किया। सुगन्धि के कारण की जिज्ञासा में वह उस गन्ध का अनुसरण करती हुई आगे बढ़ी तो उसने सहचर कपिंजल के साथ मूर्तिमान् मन्मथ के समान मुनिकुमार को देखा उसके कान में एक सुगन्धित कुसुम-मंजरी थी। उस देव कन्या ने अपने जन्म के सम्बन्ध में यह कहा कि देवलोक में अप्सराओं के चौदह कुल हैं। उनमें दक्षराज की कन्या मुनि और अरिष्टा के साथ गन्धर्वों का समागम होने से दो कुल हो गये। मुनि के गर्भ से चित्ररथ का और अरिष्टा के गर्भ से हंस का जन्म हुआ गन्धर्वराज हंस ने सोममयूखोत्पन्न कुल में उत्पन्न गौरी के साथ विवाह किया। उसने स्वयं को उसी हंस और गौरी की पुत्री तथा नाम से महाश्वेता बताया।

महाश्वेता ने उस मुनि कुमार का प्रणाम किया और उसके साथी युवक से उसका और उस मंजरी का परिचय पूछा। मुनिकुमार के सहचर कपिजल ने कहा कि महर्षि श्वेतकेतु के सौन्दर्य से मोहित पुण्डरीक पर विराजमान लक्ष्मी से इसका जन्म हुआ है। पुण्डरीक के मध्य उत्पन्न होने से इसका नाम पुण्डरीक है। नन्दन वन की देवता द्वारा इसे यह पारिजात मंजरी भेंट की गयी है। इतने में कामातुर होकर मुनिकुमार ने महाश्वेता से कहा-कौतुक-वाली ! प्रश्न के इस परिश्रम से क्या लाभ ? यदि अभिरुचि होतो वह इसे ग्रहण कर ले। उसने वह पारिजात मंजरी महाश्वेता के कान में पहना दी। उसी समय रुद्राक्ष की माला उसके हाथ से गिर गयी, जिसका उसे आभास भी नहीं हुआ। महाश्वेता ने उसे सत्वर उठाकर अपने गले में धारण कर लिया। इस प्रकार मन्मथ विकार ग्रस्त देख कर उसका सहचर उसकी तीव्र भर्त्सना करने

लगा। इसी समय छत्रधारिणी स्नान के लिए उसे बुलाने आ गयी। चलते समय मुनिकुमार ने अपनी अक्षमाला मांगी। महाश्वेता ने अक्षमाला के भ्रम से अपना मुक्ताहार ही उतार कर उसे दे दिया और स्फटिकमयी अक्षमाला को गले में धारण कर अपनी माता के साथ वह स्नान करके घर चली गयी। उसके बाद उसकी परिचारिका द्वारा महाश्वेता का परिचय पाकर कुमार ने लौटते समय उसके साथ एक पत्र भेजा, जिसमें आर्या छन्द में यह पद्य लिखा हुआ था—

"दूरं मुक्तालतया बिससितया विप्रलोभ्यमानो मे।
हस इव दर्शिताशो मानसजन्मा त्वया नीतः ॥"

पत्रिका को पढ़कर वह अत्यन्त विह्वल हो गयी। सांय काल एकान्त में मिलकर छत्रग्राहिणी ने उन दो कुमारों में से एक के द्वार पर उपस्थित होने की सूचना दी। कपिंजल ने उपस्थित होकर अपने सहचर पुण्डरीक की काम जन्य दशा का वर्णन किया तथा उसकी प्राण-रक्षा के लिए उससे उसने प्रार्थना की। इसी बीच माता के आगमन की सूचना पाकर वह अतिशीघ्र उठकर चला गया। माता के चले जाने के अनन्तर रात्रि में पूर्णचन्द्र मण्डल के उदय से वह अत्यन्त उत्कण्ठित हो उठी और तरलिका से मन्त्रणा कर प्रमद वन की ओर उस तपोधनयुवा से मिलने चली गयी।

उस सरोवर के समीप पहुँचते ही उसे कपिंजल का आर्तनाद सुनायी पड़ा। कपिंजल के अङ्क में सिर रखे हुए पुण्डरीक को निश्चेतन देख कर वह शोक से निश्चेष्ट हो गयी। इस प्रकार अपना समाचार कहते-कहते महाश्वेता मूर्च्छित हो गयी। चन्द्रापीड की सहायता से महाश्वेता की चेतना आयी।

पुण्डरीक की मृत्यु से निराश हो चिता बनाने के लिए ज्यों ही वह तरलिका से वार्तालाप कर रही थी, उसी क्षण एक महापुरुष स्वर्ग से उतरे और पुण्डरीक के शरीर को उठाकर ले जाने लगे। मित्र को ले जाते हुए अलौकिक पुरुष को देख कर कपिंजल क्रुद्ध होकर उसका अनुगमन करने लगा। महाश्वेता भी अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए उद्यत हुई तो आकाश की ओर जाते हुए उसी महापुरुष ने कहा कि उसे प्राण-त्याग नहीं करना चाहिये पुण्डरीक के साथ उसका पुनः समागम होगा। उस समय विस्मय एवं विषाद से अभिभूत होकर उसने उस रात्रि को व्यतीत किया। प्रातःकाल उठकर सरोवर में स्नान कर भगवान् शंकर की उपासना में लीन हो गयी। तभी से प्रतिदिन तरलिका के साथ रहकर शिव की आराधना में अपना जीवनयापन कर रही थी।

चन्द्रापीड़ ने पतिवियोग में भी जीवित रह कर पति की शुभकामना करने वाली कुन्ती आदि अनेक राजकन्याओं का दृष्टान्त देकर अनेक प्रकार से सान्त्वना दी और उसकी सहचरी की अनुपस्थिति का कारण पूछा। महाश्वेता ने पुनः कहना आरम्भ किया—अप्सराओं के अमृत से उत्पन्न हुए कुल में मदिरा नाम की कन्या का विवाह गन्धर्वराज चित्ररथ से हुआ। उन दोनों के समागम से कादम्बरी नाम की कन्या ने जन्म ग्रहण किया। कादम्बरी ने मुझ पर विशेष स्नेह से मेरा शोक वृत्तान्त सुनकर यह प्रतिज्ञा की है कि जब तक उसकी सखी शोक युक्त रहेगी वह भी अपना विवाह नहीं करेगी। अपनी पुत्री की ऐसी प्रतिज्ञा से गन्धर्वराज अत्यन्त दुःखी हुए। उन्होंने आज प्रातः उसे समझाने के लिए महाश्वेता को बुलाया था और इसीलिये तरलिका को उसके पास भेजा गया है।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब महाश्वेता और चन्द्रापीड़ अपने नित्य कर्मानुष्ठान में निरत थे तब तरलिका के साथ कादम्बरी का बीणावादक केयूरक आया और उसने कादम्बरी के विवाह न करने के अटल निश्चय की सूचना दी। महाश्वेता ने अपने वहां जाने का निश्चय बता कर केयूरक को भेज दिया। कादम्बरी को समझाने के लिए जब वह हेमकूट से प्रस्थान करने को उद्यत हुई तो उसने चन्द्रापीड़ से भी साथ जाने के लिए बहुत अनुरोध किया। उसका अनुरोध मान कर चन्द्रापीड़ भी गन्धर्व राजधानी में उसके साथ गया। वहां अलौकिक सौन्दर्य शालिनी कादम्बरी को देख कर वह स्नेह परतन्त्र हो गया। कादम्बरी ने भी उसके स्नेह के अधीन होकर दो दिव्य वस्त्र और शेष नामक रत्नहार अपनी सहचरी मदलेखा के साथ चन्द्रापीड़ के लिए उपहार में भेजा। रात्रि में कादम्बरी चन्द्रापीड़ से मिलने गयी। प्रातःकाल चन्द्रापीड़ भी मन्दिर-प्रासाद के आंगन में उससे मिलने गया। तदनन्तर महाश्वेता और कादम्बरी से विदा लेकर चन्द्रापीड़ ने प्रस्थान किया।

प्रेम-वश होकर तथा कादम्बरी का हृदय लेकर चन्द्रापीड़ अपनी सेना में आ पहुँचा और वहां उसने अपने मित्र वैशम्पायन को समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। दूसरे दिन प्रातःकाल ही कादम्बरी का सन्देश लेकर केयूरक आया। उसके साथ उसने पुनः गन्धर्वनगर को प्रस्थान किया और वह अपने साथ पत्र-लेखा को भी ले गया।

वहां पहुँचकर चन्द्रापीड़ ने हिमगुड़ में मदन से अत्यधिक विह्वल अपनी प्रयसी कादम्बरी को देखा। उसके साथ व्यंग्यार्थगर्भित वचनों से ललित आलाप कर उसके अनुरोध से पत्रलेखा को वहीं छोड़ वहां से अपने सेना-निवेश में लौट आया। वहां राजा तारापीड़ का सन्देश वाहक दूत पत्र लेकर आया।

पत्र को पढ़कर चन्द्रापीड़ अपने पिता के दर्शन करने के हेतु जाने के लिए उद्यत हुआ। उसने सेनापति के पुत्र मेघनाथ को पत्रलेखा के साथ आने का आदेश दिया। वह मार्ग में द्रविड़ धार्मिकाधिष्ठित चण्डिका का दर्शन करता हुआ उज्जयिनी जा पहुँचा। कुछ समय बीत जाने पर मेघनाथ के साथ पत्रलेखा ने आकर कादम्बरी की विरहावस्था एवं उपालंभोक्ति चन्द्रापीड़ को सुनायी।

हेमकूट से लौटी हुई पत्रलेखा द्वारा कादम्बरी की वियोगजन्य पीडा एवं तज्जन्य चिन्तनीय अवस्था को सुनकर चन्द्रापीड़ का चित्त अत्यन्त दुःखी हुआ और उसने स्वयं को ही इसका दोषी माना। बाहर प्रकाशित न होने वाली वियोग की ज्वाला से उसका हृदय अत्यन्त सन्तप्त हुआ। एक दिन जब मनोविनोद के लिए सायंकाल नगर के परिसर में अनेक घोड़ों के साथ भ्रमण कर रहा था तभी उसने अकस्मात् दूर से आते हुए केयूरक को देखा। केयूरक ने एकान्त में कादम्बरी की विरह दशा का इस प्रकार वर्णन किया कि चन्द्रापीड़ शोक से मूच्छित हो गया। चेतना आने पर चन्द्रापीड़ ने केयूरक से कहा कि यदि ऐसी अवस्था है तो देवी ने उसे बुला ही क्यों नहीं लिया ? चन्द्रापीड़ ने कहा कि वह प्राणपण से भी कादम्बरी के सन्ताप को दूर करने के लिए सन्नद्ध है। रात्रि को चन्द्रापीड़ नाना प्रकार के संकल्प विकल्प में पड़ गया। बहुत दिनों के पश्चात् दिग्विजय से लौटकर आये हुए चन्दापीड़ को माता-पिता से अनुमति कठिन प्रतीत हुआ।

प्रातः काल यह सुनकर कि दशपुर तक सेना पहुँच गयी है, लौटे हुए वैशम्पायन के साथ कादम्बरी के पास जाने का उसने निश्चय किया। केयूरक भी चन्द्रापीड का वैशम्पायन के साथ जाने का आश्वासन पाकर पत्रलेखा को साथ लेकर चन्द्रापीड के आगमन की सूचना देने के लिए उनसे पहले प्रस्थित हो गया।

इधर चिरवियुक्त प्रिय-मित्र वैशम्पायन से मार्ग में मिलने के लिए चन्द्रापीड ने माता-पिता एवं शुकनास से आज्ञा मांगी। महाराज तारापीड ने शुकनास के द्वारा उसे अनुमति प्रदान कर दी। पिता की आज्ञा पाकर चन्द्रापीड ने अश्वसैनिकों के साथ वैशम्पायन से मिलने के लिए प्रयाण किया किन्तु मार्ग में ही आते हुए सैनिकों ने बताया कि वैशम्पायन अच्छोद सरोबर के तीर पर आकर सहसा विकृतचित्त हो गया। स्नान, भोजन आदि का परित्याग कर लतामण्डप के एक देश में अन्यमनस्क हो उसने सैन्य समूह को भेज दिया है। साथ चलने का बार-बार अनुरोध करने पर वैशम्पायन ने कहा कि उसका चित्त अपने वश में नहीं रहा और वह उनके साथ लौटने में असमर्थ था। नीन दिन के

अथक प्रयास के अनन्तर भी जब वह नहीं लौटा तो वे सैनिक कुमार को इसकी सूचना देने आ गये।

अकस्मात् चित्त में उत्पन्न होने वाले विकार का क्या कारण हो सकता है ? इस प्रकार की अनेक कल्पनाओं से खिन्नमना हो कर चन्द्रापीड उज्जयिनी लौट आया। वैशम्पायन का वैराग्य सुन तारापीड को चन्द्रापीड पर ही सन्देह हुआ पर शुकनास ने उसका निवारण कर दिया।

दूसरे दिन वैशम्पायन को लाने के लिए चन्द्रापीड ने अच्छोद सरोवर के तट पर जाने की आज्ञा मांगी। विदेश भेजने में माता ने अभूतपूर्व विषाद का अनुभव कर अतिशीघ्र लौट आने का अनुरोध करते हुए यथा कथंचित उसे जाने की अनुमति देदी। वर्षा ऋतु के आ जाने पर चन्द्रापीड ने मार्ग में कष्ट से काल-यापन किया और जब मार्ग तृतीयांश अवशिष्ट रह गया तो सामने से उज्जयिनी की ओर लौटते हुए मेघनाद नामक सेनाध्यक्ष ने वैशम्पायन का समाचार जानना चाहा। सेनाध्यक्ष ने अच्छोद सरोवर पर वैशम्पायन के आने की घटना से अपनी अज्ञता प्रकट की तथा गन्धर्वनगर जाते हुए पत्रलेखा और केयूरक के कुमार के शीघ्र पहुँचने के आग्रह को सुनाया। यह भी कहा कि यदि कुमार को आने में विलम्ब हुआ तो वे दोनों ही उन्हें लेने लौट आयेंगे।

यह सुनकर चन्द्रापीड विविध विचारों में उलझ गया। वर्षाकाल में विरल-विकल कादम्बरी की दशा की कल्पना उसके मन को विषादयुक्त बना रही थी विभिन्न कल्पनाओं में डूबा हुआ चन्द्रापीड जब अच्छोद सरोबर पर पहुँचा तो वहाँ चारों ओर खोजने पर भी वैशम्पायन कहीं नहीं मिला। उत्कण्ठित होकर उसके समाचारों को प्राप्त करने के लिए वह महाश्वेता के पास पहुँचा। वहाँ महाश्वेता को उसने रोते हुए पाया। तरलिका उसे बार-बार सान्त्वना दे रही थी। देवी कादम्बरी के अनिष्ट की आशंका करते हुए खिन्नमन से चन्द्रापीड ने महाश्वेता से शोक का कारण पूछा। गद्गद् कण्ठ से महाश्वेता ने कहा कि जब वह मन्दभागिनी हेमकूट से वहाँ लौट कर आयी तो उसे इधर-उधर कुछ खोजता हुआ सा कुछ विक्षिप्त सा चन्द्रापीड ही के समान सौन्दर्यशाली कोई ब्राह्मण युवक दृष्टिगोचर हुआ। वह उसे देख कर परिचित के समान उसके पास आया और उससे प्रेम की बाते करने लगा। बार-बार प्रतिरोध करने कर भी जब वह किसी प्रकार नहीं माना तो वह उसकी उपेक्षा करके आश्रम के दूसरे भाग में चली गयी। एक दिन जब पूर्ण चन्द्र की चन्द्रिका से समस्त भूमण्डल आच्छादित हो रहा था एवं मध्यरात्री के समय जब समस्त जनसमूह निद्रा के वशीभूत था तब मदनावेश से विचार शून्य हो उसने उसके पास आकर कहा कि यह कुसुम बाण का सहायक चन्द्रमा उसे मारने के लिए

उद्यत हो रहा है इसलिए शरण में आये हुए उसकी रक्षा करना उसका कर्त्तव्य है। इस प्रकार तोते के समान विविध प्रलाप करता हुआ बार-बार समझाने पर भी जब वह अपने आग्रह से विरत नहीं हुआ तब प्रियतम-शोक जन्य क्रोध के उद्दीप्त होने पर चन्द्र के सम्मुख होकर इसने शाप दे डाला-सकल भुवन चूडामणि चन्द्र। यदि मैंने देव पुण्डरीक के दर्शन से लेकर स्वप्न में भी किसी अन्य पुरुष की कामना की हो तो शुक के समान बोलने वाला यह कामुक उसी जाति में पतित हो जाय।' इतना कहने पर वह उसी समय छिन्नमूल वृक्ष के समान चेतनाहीन होकर भूमि पर गिर पड़ा। चिल्लाते हुए उसके साथियों से उसने सुना कि वह चन्द्रापीड का मित्र था। यह कहकर वह लज्जा से मुख को नीचा करके रोने लगी।

कादम्बरी के विरह से पहले ही विदीर्ण होने वाला चन्द्रापीड का हृदय विदारक दृश्य देखकर तारस्वर से चिल्लाती हुई मित्र शोक से सहसा फट पडी तरलिका भी रोने लगी। महाश्वेता स्तब्ध दृष्टि से निश्चेष्ट हो गयी। राजकुमार के परिजन भी वहाँ आकर विलाप करने लगे। इसी बीच केयूरक से चन्द्रापीड का आगमन सुन उसे देखने की इच्छा से पत्रलेखा का हाथ पकड कादम्बरी वहां पहुँच गयी। वहाँ पहुँचते ही पृथ्वी पर पडे हुए प्राणहीन चन्द्रापीड के शरीर को देख कर वह अचेत होकर भूमि पर गिर पडी और नाना प्रकार से सिर पीट-पीट कर विलाप करने लगी।

वह चन्द्रापीड का अनुगमन करने के लिए उद्यत हुई और उसने जैसे ही चन्द्रापीड के शरीर से चन्द्रमा के समान कोई धवल ज्योति आकाश की ओर चली गयी। उस समय अन्तरिक्ष से अशरीरिणी वाणी श्रवणगोचर हुई कि वत्से महाश्वेते। चन्द्रमा के द्वारा उसे वह पुनः प्राप्त होगा। पुण्डरीक का शरीर चन्द्रलोक में चन्द्र-तेज से आप्यायित होकर महाश्वेता से समागम के लिए सुरक्षित रखा हुआ है। चन्द्र के तेज से ओत-प्रोत चन्द्रमा का वह दूसरा शरीर शाप-दोष से आत्मशून्य हो गया है तथापि शरीरान्तर में प्रवेश करने वाले योगियों के समान पुनः इसमें आत्म-प्रवेश होगा। इसका अग्नि-संस्कार नहीं करना चाहिये। समागम-प्राप्ति पर्यन्त इसे यत्नपूर्वक सुरक्षित रखना चाहिये।

आकाशवाणी सुनकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। शोकाभिभूत उन्मत्त के समान पत्रलेखा ने कहा कि बिना वाहन के अकेले स्वामी के चले जाने पर अब उसका क्षण भर भी वहाँ रहना उचित नहीं इतना कह कर वह इन्द्रायुध को खींचती हुई उसके साथ अच्छोद सरोवर में कूद गयी। तत्काल उस सरोवर से निकल कर कपिजंल महाश्वेता के समक्ष आकर उपस्थित हो गया।

अत्यन्त हर्ष के साथ वन्दना करने के अनन्तर महाश्वेता के द्वारा आग्रहपूर्वक पूछे जाने पर कपिंजल ने कहा–पुण्डीक के शरीर को ले जाते हुए उस दिव्य–पुरुष के पीछे जाते दुए मैंने यह कह कर कि तुम मेरे मित्र को कहाँ चुरा कर ले जा रहे हो ? उसे ललकारा। वह पुरुष जो स्वयं चन्द्रमा था उसे चन्द्रलोक में ले गया। उसने पुण्डरीक के शरीर को पर्यंक पर रखकर मुझ से कहा–'कपिंजल। मैं चन्द्रमा हूं। मैं अपने कार्य में लगा हुआ था। उस समय इसने मुझे निरपराध ही यह शाप दे डाला कि जैसे मैं प्रिया-समागम को न पाकर तेरे ही द्वारा प्राणहीन हो रहा हूं वैसे ही तुम भी कर्मभूमि मृत्युलोक में जन्म लेकर जन्म-जन्म में अनुरक्त हो कर भी प्रिया समागम के बिना ही अपने प्राणों का परित्याग करोगे। शाप के क्रोध से ज्वलित हो मैंने भी उसे यह प्रति-शाप दे दिया कि मेरे समान तुम्हें भी दुःख और सुख प्राप्त होगा। जब मेरा क्रोध शान्त हो गया तो महाश्वेता को दयनीय स्थिति का विचार कर मेरे शाप से मुक्त होने तक उसके शरीर की रक्षा करने के लिए इसे मैं यहाँ ले आया। इससे पुनर्मिलन का विश्वास दिलाकर वत्सा महाश्वेता को मैंने आश्वासन दिया। इस प्रकार इसे अपने ही द्वारा आचरित दोष से मेरे साथ मर्त्यलोक में 'जन्म-जन्म से इस प्रकार दो बार कहने के कारण निश्चय ही दो बार जन्म ग्रहण करना पडेगा। तुम इसके प्रतीकार के लिए श्वेतकेतु से जाकर निवेदन करो।

कपिजंल ने पुनः कहा कि उसने शोक से ग्रस्त होने के कारण देवमार्ग में दौड़ने के कारण एक वैमानिक के मार्ग का प्रतिरोध किया। क्रोध से उद्दीप्त होकर उसने शाप दे दिया कि घोड़े की तरह अवहेलना करने वाला वह घोड़ा बनकर मर्त्यलोक में चला जाय। शाप से मुक्त होनें के लिये अनेक बार अनुनय विनय करने पर उसने कहा कि उज्जयिनी में सन्तान के लिए तपस्या करते हुए राजा तारापीड के घर चन्द्रमा पुत्र रूप में जन्म ग्रहण करेगा और वह प्रिय मित्र पुण्डरीक भी उसी राजा के मन्त्री शुकनास के घर जन्म लेगा। वह भी उस चन्द्ररूप राज पुत्र का वाहन बनकर उसका सहचर बनेगा। यह सुनते ही वह समुद्र में गिरा और अश्व बन कर बाहर निकल आया। पूर्व जन्म के तपो-बल के प्रभाव से समस्त वृत्तान्त को स्मरण करता हुआ वह ही किन्नर-मिथुन के अनुसरण के प्रसंग से चन्द्रावतार चन्द्रापीड़ को वहां ले आया। वैशम्पायन पूर्व-जन्म के संस्कार से उसकी अभिलाषा करता हुआ उसी के द्वारा दिये गये श्राप से दग्ध होकर शुक बन गया था, वह उसके मित्र पुण्डरीक का अवतार था।

यह सुनकर महाश्वेता आर्तस्वर से करुण क्रन्दन करने लगी। हाय

वह कितनी निर्घृण एवं निष्करुण है, जिसने स्वयं अपने प्राणेश्वर को नष्ट कर दिया। उसका बहुत शीघ्र ही अपने पति से समागम होगा यह आश्वासन देकर कपिंजल महर्षि श्वेतकेतु के पास चला गया।

उसके चले जाने पर पुनः समागम की अभिलाषा से तथा दिव्य पुरुष से आश्वस्त होकर कादम्बरी चन्द्रापीड के शरीर को शिलातल पर रख कर प्रतिदिन देवोचित पूजा करती हुई समय यापन करने लगी। इधर वर्षाकाल बीत जाने पर लौटे हुए दूत के मुख से चन्द्रापीड का समाचार सुनकर तारापीड, शुकनास प्रभृति मरने के लिए उद्यत हो गये। किन्तु त्वरित हो शापच्युत दिव्य-प्रकृतियों का मंगलोदय होगा—इस प्रकार आकाशवाणी से समाश्वस्त हो वे सब स्नेहयुक्त अन्तःपुर परिजन एवं समस्त प्रजा वर्ग के साथ चन्द्रापीड को देखने के लिए वहां आ पहुँचे। वहां पर सोये हुए के समान अधिकृत चन्द्रापीड का शरीर देखकर आश्चर्यचकित होकर उन्होंने प्रतिदिन सेवा करती हुई सौन्दर्य एवं पातिव्रत्य की अधिष्ठात्री देवी कादम्बरी का अभिनन्दन किया। कादम्बरी एवं महाश्वेता के प्रबन्ध से राजोचित पूजा से पूजित होने पर भी प्रजा-परिजनों के साथ राजा तारापीड तपस्वियों के समान आचरण करते हुए रहने लगे।

हारीत आदि प्रमुख ऋषियों के समक्ष इस समस्त वृत्तान्त का वर्णन कर महर्षि जावालि ने मन्द हास्य के साथ कहा कि जो यह दिव्यलोक से शापच्युत होकर वैशम्पायन नामक शुकनास का पुत्र हुआ वही यह कुपित पिता के आक्रोश एव महाश्वेता के शाप से इस शुक योनि में आया हुआ है।

राजा शुद्रक के समक्ष शुक ने पुनः अपरा वृत्तान्त इस प्रकार कहा -- महर्षि जावालि के नुख से जीवन का समस्त वृत्तान्त सुन लेने पर लुप्त—प्रवुद्ध के समान उसे समस्त विद्याओं एवं पूर्ण परिचित वस्पुओं का यथावत् ज्ञान हो गया और उसकी मनुष्य के समान वाणी हो गई। उसने महामुनि से चन्द्रापीड के जन्म स्थान का वर्णन करने का आग्रह किया तो मुनि ने उसे उडने की शक्ति-प्राप्ति पर्यन्त प्रतीक्षा करते के लिए आदेश दिया। इतने मं प्रभात हो गया और सब मुनि नित्य-कर्म करने हेतु उठ खड़े हुए। तदनन्तर हारीत ने सूचना दी कि कपिंजल उससे मिलने के लिए उसे ढूंढता हुआ आया है। कपिंजल ने समक्ष उमस्थित होकर पिता के कुशल समाचार कह सुनाये। कपिंजल ने यह कहा कि उसके पिता उसके उद्धार के लिए तपोनुष्ठान में निरत है। उनका आदेश है कि जब तक वह अनुष्ठान समाप्त न हो उसे वहीं रहना चाहिए। यह सुना कर कपिंजल देखते-देखते ही आकाश में अन्तर्धान हो गया।

जावालि-पुत्र हारीत के द्वारा स्नेह से पालित-पोषत होने पर भी चन्द्रापीड महाश्वेता आदि का स्मरण हो जाने के कारण अत्यन्त उत्कण्ठित होता हुआ वह उडने का पूरा सामर्थ्य प्राप्त होने तक किसी प्रकार वहीं समय बिताता रहा। कपिंजल के द्वारा शापावसान तक वहीं रहने के लिए आदिष्ट होने पर भी उडने का सामर्थ प्राप्त होते ही महाश्वेतादिकों का दर्शन करने के लिए उत्तर दिशा की ओर आकाश में उड गया। अशक्त होने के कारण भूख और प्यास से व्याकुल होकर थकावट दूर करने के लिए रात्रि में किसी मार्गस्थ वृक्ष पर विश्राम करने लगा तो प्रातःकाल जालपास से आबद्ध हो उसने स्वयं को चाण्डाल के हाथों में पाया। शबरों के अधिपति की पुत्री चाण्डाल कन्या द्वारा पंजर के मध्य रखा जाकर मुनि-भोजनोचित फलादि आहारों से ही वह युवावस्था को प्राप्त हुआ।

कुछ समय बीत जाने पर एक दिन अकस्मात् उसने स्वयं को उस चाण्डल कन्या के हाथों में देखा। ज्यों ही उसने इस आश्चर्यजनक घटना की जिज्ञासा के हेतु मुख खोलकर कुछ बोलना चाहा त्योंही वह निषाद कन्या उसे लेकर राजा के सम्मुख उपस्थित हो गई। अन्त में शुक ने कहा कि वह चाण्डाल कन्या कौन है और वह वही पिंजड़े में फंसा कर किस लिए वहां लाया गया है आदि के विषय में नितान्त अनभिज्ञ था। इस सम्वन्ध में उसकी उत्कण्ठा उतनी ही प्रबल है, जितनी कि स्वयं राजा शूद्रक की हो सकती है।

अपना कौतूहल शान्त करने के लिए राजा ने उस चाण्डाल कन्या को अपने समक्ष बुला कर उसके विषय में जिज्ञासा प्रकट की तो उसने अपने तेज से राजा को अभिभूत करते हुए कहना आरम्भ किभा—

कादम्बरी लोचनानन्दचन्द्र। आपने इस दुर्मति से अपने ही पूर्वजन्म का समस्त वृत्तान्त सुन लिया है। शुक-जन्म में भी उसने पिता द्वारा रोके जाने पर भी परिचितों के दर्शन के लिए विह्वल होकर प्रस्थान कर ही दिया। इस तथ्य को इसने स्वयं ही स्वीकार किया है। मैं इस दुरात्मा की माता लक्ष्मी हूं। दुर्दैव के शमन तक मर्त्यलोक में ही इसकी रक्षा करने के लिए इसके पिता द्वारा आदिष्ट हुई हूं और इसे मैं यहां लायी हूं। इस समय आपके और इसके शाप का समय समाप्ति के सन्निकटवर्ती है इसलिए आप दोनों भी दुःख बहुल अपने शरीरों को त्याग कर अपने इष्ट व्यक्तियों के समागम का सुख अनुभव करें। इतना कहकर वह चाण्डाल कन्या विद्युत के समान देदीप्यमान होती हुई पृथ्वी से आकाश में अन्तर्हित हो गयी।

जन्मान्तर के श्रवण से शूद्रक और वैशम्पायन—दोनों के शरीर जड़

हो गये । उधर मानस को काम विकार से उद्दीप्त करने वाले वसन्त के विलास से सहसा अत्यधिक उद्दीप्त कादम्बरी अपने मन को वश में रखने में असमर्थ होकर चन्द्रापीड के शरीर को स्नेह से भली प्रकार अलंकृत कर गले लगा रही कादम्बरी के स्पर्श से शापमुक्त होकर चन्द्रापीड का शरीर पुनः चैतन्य युक्त हो गया । वह कादम्बरी को कहने लगा कि उसके कण्ठालिंगन से वह पुनः प्रत्युज्जीवित हो उठा है । उसका वह शूद्रक का शरीर भी निवृत्त हो गया है और कादम्बरी की प्रिय सखी महाश्वेता का प्रियतम भी शाप से मुक्त हो गया है । इतने में ही आकाश से उतरते हुए कपिंजल के कर का अवलम्बन कर पुण्डरीक भी सम्मुख आता दिखाई दिया ।

इधर कादम्बरी प्रिय सखी महाश्वेता को प्रिय समागम रूप प्रियाख्यान से आनन्दित कर रही थी कि विलासवती तारापीड आदि समस्त परिजनों के साथ वहाँ उपस्थित होकर अतिशय आनन्द का अनुभव करने लगे । चन्द्रात्मक होने पर भी चन्द्रापीड ने तारापीड विलासवती आदि के पहले के समान ही चरण स्पर्श किये एवं अपने एवं वैशम्पायन के माता-पिता को प्रसन्न मुख पुण्डरीक को दिखा कर उसको उनका पुत्र वैशम्पायन बताया । इसी अवसर पर कपिंजल ने शुकनास को वहाँ उपस्थित होकर महर्षि श्वेतकेतु का सन्देश कह सुनाया कि पुण्डरीक को उन्होंने केवल बड़ा किया है वस्तुत. वह बालक उनका ही है । यह भी आप लोगों के स्नेह में आबद्ध है अतः इसे वैशम्पायन समझ कर ही अपने पुत्र के समान अविनय आदि से बचाइये ।

दूसरे दिन समस्त गन्धर्वों से अनुगत मदिरा एवं गौरी के साथ चित्र-रथ एवं हँस भी वहाँ आकर उपस्थित हो गये । चित्ररथ ने चन्द्रापीड को विवाह-निमित्त अपनी राजधानी में ले जाने के लिए तारापीड से प्रार्थना की । तारापीड ने कहा-गन्धर्वराज । मेरा सर्वस्व आपके जामाता में संक्रमित हो रहा है । इस समय में समस्त राज्य तथा अपना सर्वस्व, पुत्र के अधीन करके तपोवन में शान्तिपूर्वक निवास करने की अभिलाषा करता हूँ । समस्त जन-समुदाय के साथ चित्ररथ अपनी राजधानी में चला गया और वहाँ जाकर उसने कादम्बरी के साथ अपने समस्त राज्य को चन्द्रापीड को दे दिया ।

गन्धर्वराज हँस ने भी महाश्वेता के साथ अपना पद पुण्डरीक को दे दिया । एक समय खिन्न-मुख होकर कादम्बरी ने चन्द्रापीड मूर्ति चन्द्र से पूछा-आर्य पुत्र ! हम लोग वियुक्त होकर परस्पर पुनः संगठित हो गये, परन्तु वह वराकी पत्रलेखा कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती । चन्द्रापीड ने कहा-वह मेरे दुःख से दुखित रोहिणी थी, इस समय वह मेरे लोक मे विराजमान है । वहीं चलने

पर तुम उसे देख सकोगी। इस प्रकार पुण्डरीक को समस्त राज्य का भार सौंप कर समस्त अभीष्ट फलों को त्यागने वाले एवं असार संसार से विरत रहने वाले माता-पिता की सेवा करता हुआ, कभी उज्जयिनी में, किसी समय हेमकूट में तथा किसी समय पुण्डरीक की प्रीति से लक्ष्मी-निवास नामक सरावर में यथेच्छ विहार करता हुआ, चन्द्रापीड मूर्ति चन्द्र कादम्बरी के साथ, कादम्बरी महाश्वेता के साथ, महाश्वेता पुण्डरीक के साथ और पुण्डरीक भी चन्द्रमा के साथ परस्पर सम्मिलन सुखों का अनुभव करते हुए परमानन्द के उल्लास में जीवन व्यतीत करने लगे।

इस प्रकार इन दोनों कथाओं का समन्वय करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाकवि बाण भट्ट ने उस समय उपलब्ध बृहत्कथा की नीरसता को जीवन प्रदान किया है। कथा की कथा-वस्तु में विशेष तात्त्विक अन्तर न होते हुए भी महाकवि ने अपनी अद्‌भुत कल्पना शक्ति एवं वर्णन नैपुण्य से उसकी योजना में सरसता उत्पन्न कर उसमें चार चाँद लगा दिये। कथाकार का हृदय रस से ओत-प्रोत होता है, वह कोई ऐतिहासिक नहीं। वह अपनी प्रतिभा के अनुसार उसमें जहाँ अपेक्षित हो वहाँ परिवर्तन करता है। रसानुकूल घटनाओं का यह परिवर्तन एवं परिवर्धन कलाकार के लिए निकषोपल के समान है।

बाण भट्ट ने पात्रों को नामान्तरण के साथ प्रस्तुत किया है।

बृहत्कथा के आधार पर रचित कथा सरित्सागर में	**कादम्बरी में**
सुमना	शूद्रक
मुक्तालता	चाण्डाल दारिका
शास्त्रगङ्ग	वैशम्पायन
हिमालय की तराई में रोहिण तरु	विन्ध्याटवी में शालमलीतरु
काञ्चनपुरी	विदिशा
मरीचि	हारीत
पुलस्त्य	जावालि
रत्नाकरपुर	उज्जयिनी नगरी
ज्योतिप्रभ	तारापीड
हर्षवती	विलासवती
सोमप्रभ	चन्द्रापीड

प्रभाकर	शुकनास
प्रियंकर	वैशम्पायन
आशुश्रवा	इन्द्रायुध
पद्मकूट	हँस
हेमप्रभा	गौरी
मनोरथप्रभा	महाश्वेता
दीधितिमान्	श्वेतकेतु
रश्मिवान्	पुण्डरीक
सिंहविक्रम (विद्याधर राजा)	चित्ररथ (गन्धर्वराज)
मकरन्दिका	कादम्बरी
देवजय	केयूरक

वृहत्कथा में मकरन्दिका का पित्ता विद्याधर राजा सिंह विक्रम शाप के कारण शुक हुआ पर कादम्बरी कथा में पुण्डरीक पहले वैशम्पायन नाम से शुकनास मन्त्री का पुत्र हुआ तदनन्तर महाश्वेता के शाप से वह शुकयोनि में उत्पन्न हुआ पर उसका नाम वही रहा।

वृहत्कथा में रश्मिवान् जन्मान्तर में सुमना के रूप में जन्म लेता है किन्तु कादम्बरी में चन्द्रापीड ही शूद्रक के रूप में जन्म ग्रहण करता है।

वृहत्कथा एवं कादम्बरी में निरूपित दोनों कथाओं के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए इनमें साम्य एवं वैषम्य का परीक्षण करना यहाँ समीचीन होगा।

इन दोनों कथाओं के घटना क्रम में पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है।

1. राजा की सभा में एक चाण्डाल कन्या एक अत्यन्त कला मर्मज्ञ एवं परम वैदुष्य से उपपन्न शुक को लेकर प्रविष्ट होती है।
2. शुक से उसके जन्म की कहानी पूछने पर वह जो कथा सुनाता है वह दोनों कथाओं में समान है।
3. शबर सैन्य के साथ वृद्धशबर का आगमन और उसके द्वारा कोटरों से पक्षियों का निकाल कर मारा जाना और अन्त में शुक के पिता का वध होना–आदि भी पूर्णतया समान है।
4. सरोवर के निकट मुनि पुत्र द्वारा उसकी प्राप्ति और रक्षा के हेतु किये

गये उपाय और आश्रम में शुक का ले जाना–आदि घटनाएँ यथावत् दोनों में समान रूप से वर्णित हैं।

5. अन्य ऋषिगणों की प्रार्थना पर महर्षि द्वारा शुक कथा दोनों में समान रूप से वर्णित है।
6. रानी के मुख में चन्द्रमा को स्वप्न में प्रविष्ट होते देखकर अर्थात् चन्द्रमा के अंश से पुत्र की उत्पत्ति दोनों कथाओं में समान है।
7. दिव्य प्रभाव से अश्व की प्राप्ति।
8. दिग्विजय-यात्रा एवं हिमगिरि के निकट सैन्य–शिविर की स्थापना।
9. आखेट के लिए निकले हुए राज कुमार के द्वारा किन्नर मिथुन का अनुसरण करते हुए अच्छोद सरोवर पहुँचना।
10. गीत-ध्वनि का अनुगमन करते हुए शिवमन्दिर में महाश्वेता का दर्शन।
11. महाश्वेता द्वारा अपने जन्म की कथा कहना तथा स्नानार्थ आये हुए मुनिकुमार को देख कर उसकी काम परवशता।
12. चन्द्रोदय आदि कामोद्दीपक तत्त्वों के कारण उद्दीप्त हुए कामावेश से मुनिकुमार की मृत्यु।
13. अपने प्रियतम के मृत शरीर को देखकर उसका अनुमरण के लिए उद्यत होना।
14. आकाश से किसी दिव्य-पुरुष का आना और उस मृत शरीर को लेकर आकाश में उड़ जाना।
15. आकाश वाणी से दिव्य-कन्या को शरीर न त्यागने एवं भविष्य में समागम होने का आश्वासन प्रदान कराना।
16. दिव्य-कन्या के प्रियतम-शोक से उत्पन्न दुःख से उसकी सखी के पाणि ग्रहण न करने की प्रबल अभिलाषा।
17. दिव्य-कन्या के साथ राजकुमार का भी प्रस्थान और प्रियसखी द्वारा दिव्य कन्या का स्वागत सत्कार।
18. राजकुमार और दिव्य-कन्या की प्रियसखी का परस्पर आकृष्ट होना और प्रेम के अतिशय बढ़ जाने से एक-दूसरे को पाने की अभिलाषा।
19. राजकुमार का सैन्य-समूह में लौट आना और पिता की आज्ञा से अपनी राजधानी को प्रस्थान करना।

20. राजकुमारी की विरहव्यथा का वर्णन आदि दोनों में समान है।

इस साम्य को प्रदर्शित करने वाली घटनाओं के अतिरिक्त दोनों कथाओं में वैषम्य भी दृष्टिपथ में आता है।

1. स्थान एवं पात्रों के नामों में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए बृहत्कथा में जहाँ राजा की राजधानी का नाम काञ्चन पुरी है वहाँ कादम्बरी में उसका नाम विदिशा है। बृहत्कथा में शुक का जन्मस्थान हिमालय की तलहटी के रोहिण नामक वृक्ष को बताया गया है वहाँ कादम्बरी में विन्ध्याटवी के शालमली वृक्ष को शुक का जन्म स्थान प्रतिपादित किया है। पात्रों के नाम सभी भिन्न-भिन्न है।
2. राज्य सभा में चाण्डाल कन्या का प्रवेश दोनों में समान रूप से हुआ है परन्तु बृहत्कथा में जहां मुक्तालता नामक चाण्डाल कन्या के साथ उसके भाई का प्रवेश हुआ है वहाँ कादम्बरी में चाण्डाल कन्या के साथ एक वृद्ध पुरुष है तथा पंजर को लेकर चलने वाला एक चाण्डाल दारक भी है।
3. राजा के पराक्रम का वर्णन जो शुक के द्वारा किया गया है वह दोनों कथाओं में समान है परन्तु बृहत्कथा में शुक स्वय को शास्त्र वेत्ता प्रतिपादित करता है तथा शास्त्र के किसी भी प्रमेय के प्रतिपादन करने में वह सक्षम बताता है।
4. बृहत्कथा में पिता के पंखों के साथ चिपका हुआ शुक भूमि पर गिर पड़ता है और वह आत्मरक्षार्थ सूखे पत्तों में छिप जाता है परन्तु कादम्बरी में शुक का पिता अपने पुत्र को वृद्धशवर से बचाने के लिए अपने पंखों में छिपा लेता है। वह शुक भी आत्म-रक्षार्थ वृक्ष की जड़ में जाकर छिप जाता है।
5. रात्रि बीत जाने पर भूख और प्यास से व्यग्र होकर वह शुकशावक पंखों को फैलाकर समीपवर्ती सरोवर के निकट धीरे-धीरे चला जाता है परन्तु कादम्बरी में शुकशावक पिपासाकुल होकर जल के अन्वेषण के लिए वहाँ से चलने का उद्यम करता है किन्तु उड़ने का सामर्थ्य न होने से उसी स्थान पर इधर-उधर तड़पता रहता है।
6. ऋषि-पुत्र ने शुक को जलाशय पर प्राप्त किया ऐसा मूल कथा में वर्णित है परन्तु कादम्बरी में वह सामर्थ्यहीन शुकशावक इधर-उधर भटकता हुआ मार्ग में ऋषि-पुत्र को प्राप्त हो जाता है।

7. बृहत्कथा में राजा स्वयं तपश्चरण करता है और उससे प्रसन्न आशुतोष की कृपा से उन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है। किन्तु कादम्बरी में पुत्र के अभाव में रानी अत्यधिक विकल होती है और राजा की अनुमति पाकर कठोर व्रत उपवासादि का आचरण करती है। एक रात जब राजा स्वप्न में रानी के मुख में चन्द्रमा को प्रवेश करते देखता है तो उसे रानी के व्रत-उपवासादि की सफलता में विश्वास होने लगता है। तदनन्तर रानी में गर्भ के लक्षण दिखायी देने लगते है। बृहत्कथा में राजा को स्वप्न में गर्भिणी रानी के मुख में चन्द्रमा प्रविष्ट होता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

8. बृहत्कथा में इन्द्र के द्वारा भेजे हुए आशुश्रवा को लेकर मातलि आकाश से उतरता है और यह कहकर कि इन्द्र ने आपके पूर्वजन्म की मित्रता का निर्वाह करने के लिए यह अश्व भेजा है, अश्व को सौंपकर आकाश में लौट जाता है। उधर कादम्बरी में महाराज के आदेशानुसार बलाहक नामक सेनाध्यक्ष इन्द्रायुध नामक अश्व को विद्यागृह से चन्द्रापीड को राजभवन लाने के लिये उपस्थित करता है। इसके अतिरिक्त वह इन्द्रायुध और कोई अन्य न होकर स्वयं कपिंजल है, जो पूर्वजन्म के संस्कार से अतिशय ज्ञानवान् एवं पूर्व जन्म की घटनाओं से पूर्ण परिचित है।

9. कादम्बरी के कुलूतदेश की राजकुमारी पत्रलेखा की सृष्टि अपनी अद्भुत सृष्टि है। ताम्बूल करंकवाहिनी के रूप में वह चन्द्रापीड की छाया का अनुगमन करती है वह यथार्थ में उसकी सहचरी है, सेविका है और उसके सभी अन्तरंग कार्यों में सम्मिलित होने वाली है।

10. बृहत्कथा में एक किन्नर का वर्णन आया है जबकि कादम्बरी में किन्नर मिथुन का वर्णन हुआ है।

11. बृहत्कथा में देवकन्या मनोरथ प्रभा का पिता विद्याधरों का राजा है इसके विपरीत कादम्बरी में महाश्वेता गन्धर्वराज हंस की पुत्री है।

12. बृहत्कथा में मनोरथ प्रभा रश्मिवान् के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर मुनि पुत्र के पास गयी परन्तु कादम्बरी में परिजात की मंजरी का सर्वतः प्रसरणशील आमोद महाश्वेता के आकर्षण का प्रथम कारण बना।

13. रश्मिवान् दीधितिमान् एवं लक्ष्मी के संकल्प जन्य मानस पुत्र कहे गये हैं पर कादम्बरी में लक्ष्मी के द्वारा श्वेत केतु से पुण्डरीकों के वनों में उत्पन्न पुण्डरीक का वर्णन आता है। बृहत्कथा में लक्ष्मी कहती है कि वह बालक ऋषि के दर्शन से उत्पन्न हुआ है अतः वह उन्हीं का पुत्र है।

14. बृहत्कथा में मनोरथ प्रभा रश्मिवान् के निकट आकर ज्यों ही बैठती है त्योंही उसकी सखी भोजन करने के लिए उसके पिता का संदेश लेकर उपस्थित होती है परन्तु कादम्बरी में महाश्वेता की सखी के द्वारा मुनि पुत्र के विषय में जैसे ही जानकारी प्राप्त की जा रही थी वैसे ही पुण्डरीक स्वयं आकर पारिजात की मञ्जरी को उस महाश्वेता के कान में लगा देता है। पुण्डरीक के हाथ से गिरी हुई अक्षमाला को वह सत्वर अपने गले में धारण कर लेती है तथा उसे मांगने पर अपने गले से सुवर्णहार उतार कर देती है। इस प्रकार इस कथा में अनुभावों के द्वारा दोनों के प्रेमातिशय की प्रतीति होती है।

15. बृहत्कथा में मनोरथ प्रया के भोजन की बात को विशेष महत्त्व दिया गया है पर कादम्बरी में महाश्वेता अपनी माता के साथ स्नान करने अच्छोद सरोवर पर जाति है और परिजात मञ्जरी के परिमल से मत्तमधुकरी के समान आकृष्ट हो स्नान को भूलकर इधर-उधर घूमने लगती है। माता के द्वारा स्नान के लिए बुलाये जाने पर वह वहाँ से स्नान कर घर लौट जाती है।

16. मुनिपुत्र के मरने पर दिव्य कन्या के जीवन धारण करने हेतु आकाश वाणी दोनों कथाओं में समान रूप से की गयी है। परन्तु कादम्बरी में मुनिपुत्र के मित्र कपिंजल के द्वारा दिव्य-पुरुष का पीछा करना तथा वैमानिक का उसके द्वारा मार्गावरोध और अश्व योनि में अवतरण– ये सब घटनायें कवि की अपनी सूझबूझ है।

17. बृहत्कथा में मनोरथ प्रभा की सखी देवजय के साथ रात को ही लौट आती है और यह आकर सोमप्रभ के और उसके अश्व के लिए खाने, पीने, रहने की व्यवस्था करती है। परन्तु कादम्वरी में महाश्वेता की सखी अगले दिन प्रातः काल केयूरक के साथ आती है। महाश्वेता स्वयं भिक्षा कपाल ग्रहण कर वृक्षों से स्वयं पतित फलों को लाकर चन्द्रापीड का स्वागत करती है।

18. बृहत्कथा में मकरन्दिका को समझाने के लिए जाती हुई मनोरथ प्रभा के साथ सोमप्रभ जाने का आग्रह करता है। विद्याधर-लोक को देखने की लालसा से वह स्वयं मनोरथ प्रभा के साथ जाने की प्रार्थना करता है। परन्तु कादम्बरी में महाश्वेता चन्द्रापीड से गन्धर्वनगर जाने का आग्रह करती है और चन्द्रापीड महाश्वेता के आग्रह को मानकर कादम्बरी के भवन में प्रवेश करता है।

19. बृहत्कथा में मकरन्दिका सोमप्रभ को देख कर उसके सौन्दर्य से मुग्ध हो जाती है तथा सोमप्रभ भी उसे देख कर उसे पाने की कामना करता है परन्तु कादम्बरी में कादम्बरी की स्त्री सुलभ लज्जा उसके मन में उभ्दूत मनोभव के विकार को चन्द्रापीड पर व्यक्त नहीं होने देती। चन्द्रापीड से बार बार मिलने पर भी उसका प्रेम स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होता। चन्द्रापीड का भोलापन यहां इस प्रेमचर्चा में सरसता का सम्पादन करता है।

20. बृहत्कथा में मकरन्दिका एवं सोमप्रभ के परस्पर स्नेह के प्रकट होने पर मनोरथ प्रभा मकरन्दिका के पिता सिंह विक्रम से मिलकर उन दोनों के विवाह का निश्चय करा देती है किन्तु कादम्बरी में पिता द्वारा विवाह के निश्चय किये जाने की कोई गन्ध भी नहीं है।

21. बृहत्कथा में साथियों के द्वारा अश्व को देख कर अनिष्ट की आशंका से बचने के लिए सोमप्रभ मनोरथ प्रभा से अनुमति लेकर लौट जाता है तथा अपने सैन्य-समूह की व्यवस्था कर विवाह के लिए पुनः लौट आने का आश्वासन देता है परन्तु कादम्बरी मे चन्द्रापीड स्वतःही बिना किसी कारण को प्रस्तुत किये महाश्वेता के आश्रम में लौट जाता है। बृहत्कथा में मनोरथ प्रभा सोमप्रभ को लेकर दिव्य-शक्ति से आश्रम में लौट जाती है।

22. कादम्बरी में, चन्द्रापीड के लौटने पर, कादम्बरी के द्वारा प्रेषित केयूरक उनको गन्धर्व नगर में पुनः ले आता है और साथ ही पत्रलेखा का आना भी काव्य सौन्दर्य में वृद्धि का आधायक है। कादम्बरी के साथ व्यंग्यार्थ गर्भित ललित आलाप करके भी जब वह कादम्बरी के मनः स्थित मनोभव को स्पष्टतया समझने में असमर्थ रहता है तो कादम्बरी आग्रहपूर्वक पत्रलेखा को वहां रख लेती है और उसके माध्यम से वह अपने प्रेम को सुगमता से व्यक्त करने में समर्थ होती है।

23. पिता के आदेश से सोमप्रभ के राजधानी चले जाने की सूचना पाकर मकरन्दिका अधीर हो उठी और माता पिता के द्वारा बार बार समझाये जाने पर भी उसने जब धैर्य को धारण नहीं किया तो पिता के शाप से वह चाण्डाल कन्या बन गयी। वह अपनी जाति को भूल कर निषादों के आवास में रहने के लिए चली गयी परन्तु कादम्बरी में कोई ऐसी घटना नहीं घटित हुई।

24. पुत्री के शोक से माता पिता की मृत्यु हो गयी। पिता शास्त्र वेत्ता ऋषि बन कर शाप ग्रस्त हो अगले जन्म में शुक बन गया और माता शुकी बन गई। कादम्बरी में माता पिता के साथ ऐसी कोई घटना घटित नहीं हुई। वे अविचलित रहे और अन्त तक उनके समागम के अनन्तर विवाह करने के लिए सकुशल जीवित रहे।

25. बृहत्कथा में मकरन्दिका का पिता शुक रूप में राजा सुमना की सभा मे कथा कह कर शाप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जब कि कादम्बरी में वैशम्पायन अपने अपराध के कारण महाश्वेता के शाप से शुक योनि में जन्म लेता है। शुक योनि में जन्म उसके पूर्व प्राप्त शाप का ही परिणाम है।

26. बृहत्कथा में सोमप्रभ पिता के दर्शन कर लौटने पर उस आश्रम में मकरन्दिका को न पाकर शिव की आराधना में लग जाता है। मकरन्दिका अपना शाप ग्रस्त जीवन निषादों की वसति में रहकर विताती रहती है परन्तु कादम्बरी में चन्द्रापीड महाश्वेता के आश्रम में लौट कर कादम्बरी के विरह से तथा अपने मित्र के दैव दुर्विपाक के समाचार सुन कर प्राणहीन हो जाता है। कादम्बरी उसे गत-चेतन देख कर निश्चेष्ट हो जाती है पर आकाश वाणी के द्वारा आश्वासन पाकर चन्द्रापीड के शरीर की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाती है।

27. बृहत्कथा में सोमप्रभ मकरन्दिका को प्राप्त करने के लिए शिव की आराधना करता है तो कादम्बरी में चन्द्रापीड को पाने के लिए कादम्बरी कठोर तपश्चर्या में निरत हो जाती है।

28. बृहत्कथा में सोमप्रभ की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान शंकर उसे सुमना के राजदरबार में जाने का आदेश देते हैं और कहते हैं कि उसे देख कर मकरन्दिका के शाप की निवृत्ति हो जायेगी और वह अपने जाति का स्मरण कर सोमप्रभ से आकर मिलेगी किन्तु कादम्बरी में शाप से मुक्त चन्द्रापीड का शरीर कादम्बरी के कर स्पर्श से उच्छ्-वसित हो उठता है और वह कादम्बरी को प्राप्त कर लेता है।

29. इसी प्रकार बृहत्कथा में मनोरथ प्रभा को भगवान् शंकर ने, उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर, आदेश दिया कि वह राजा सुमना की राज्य सभा में जाकर उपस्थित हो, जिसे देख कर सुमना को अपने पूर्व-जन्म की स्मृति हो आयेगी। इसके विपरीत कादम्बरी में महाश्वेता

वहां शिव मन्दिर में तपोनिरत रहती है और शापावसान के अनन्तर दिव्य देह को धारण कर पुण्डरीक उसके सम्मुख आकर उपस्थित होता है।

पूर्व निर्दिष्ट दोनों कथाओं के सम्यक् विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाकवि बाण भट्ट ने पूर्व प्रचलित बृहत्कथा को अपनी कथा-सृष्टि का आधार बनाया। महाकवि की अद्भुत प्रतिभा एव ज्ञान गरिमा ने कथा में अनोखा वैशिष्ट्य ला दिया है।

कथाकार अपने कल्पना चातुर्य से कथा-विधान में यथेच्छ परिवर्तन कर सकता है। महाकवि के द्वारा किये गये इस परिवर्तन एवं परिवर्धन से काव्य में जो अन्तर दृष्टिगोचर होता है उसका विवेचन यहां करना असमीचीन नहीं होगा।

सर्वप्रथम पत्रलेखा की अवतारणा का अवलोकन करने पर कवि की अनुपम प्रतिभा पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहा जाता।

कादम्बरी में पत्रलेखा, जिस सुकोमल एवं मनोरम सम्बन्ध से आबद्ध है वैसी पात्र-योजना साहित्य में अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। विद्या-गृह से लौटने पर कंचुकी के पीछे-पीछे रूप-लावण्य से ओतप्रोत एक कन्या चन्द्रापीड के समक्ष लायी जाती है। कवि, उस का वर्णन करते हुए कहता है कि उसका मस्तक इन्द्र वधूटी के रंग के लाल अंशुक से अवगुण्ठित है, ललाट पर चन्दन का तिलक और कटि में कनक मेखला। वह तरुणी अपने लावण्य-प्रभा-प्रभाव से समस्त भूमण्डल को भर कर सुमधुर ध्वनि करते हुए मणिनूपुरों से शोभित चरण से चन्द्रापीड के भवन में प्रवेश करती है। विलासवती ने उसका पुत्री के समान पालन किया है। वह सामान्य परिचारिका नहीं,उसे तो विश्रम्भ व्यापारों में भी अन्तरंग बनना है। माता विलासवती की आज्ञा से वह चन्द्रापीड की यथार्थ रूप से सहचरी बन जाती है। बाण भट्ट द्वारा चित्रित पत्रलेखा न तो पत्नी है, न ही प्रणयिनी और न ही वह उसकी किंकरी, वह तो चन्द्रापीड की सहचरी है। यौवन में प्रस्फुटित होने वाला नवयौवन का चिरन्तन एवं प्रबल आकर्षण पत्रलेखा के मन को विकृत नहीं करता। वह पुरुष के हृदय के पास ही रहती है परन्तु उसके हृदय में अपना पैर भी नहीं रखती। बसन्त-समीरण के अकस्मात् समुपस्थित हो जाने पर भी सखित्व की यवनिका अंशतः भी विचलित नहीं होती। उसका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

"पत्रलेखा तु ततः प्रभृति दर्शनेनैव समुपजातसेवारसा न दिवा न रात्रौ, न सुप्तस्य, नासीनस्य, नोत्थितस्य, न भ्रमतः न राजकुलगतस्य छायेव राजसूनोः पार्श्वं मुमोच ॥"

चन्द्रापीड के साथ पत्र लेखा की असामान्य निकटता रही है। दिग्विजय-यात्रा में थोड़ी सी दूर पत्रलेखा चन्द्रापीड के साथ ही आसन पर बैठती है। रात्रि में शिविर के बीच जब चन्द्रापीड वैशम्पायन के साथ संलाप करता है तो पत्रलेखा पास ही पृथ्वीतल पर आस्तरण बिछाकर सोये हुए है।

कादम्बरी के हृदय में जब चन्द्रापीड के प्रति प्रेम सरसी से कल्लोल मालाएँ उठ रही थी तब भी उस अन्तरंग कार्य में उसका पूर्ण और सक्रिय सहयोग दृष्टिपथ में आता है। पत्रलेखा के प्रति कादम्बरी के मन में नारी-सुलभ द्वेष अंशतः भी आभासित नहीं होता। चन्द्रापीड की वह प्रिय सहचरी थी इसलिए कादम्बरी ने भी प्रियसखी के समान उसका आदर किया।

कादम्बरी-काव्य में पत्रलेखा, जिस भूखण्ड पर अलंकृत है वहाँ द्वेष, सन्देह आदि की अवस्थिति ही नहीं है; वह स्थल स्वर्ग के समान निष्कण्टक है। उसके समक्ष ही प्रणयामृत को निर्झरिणी बहती है परन्तु वह उस अमृत का एक बिन्दु भी आस्वादित नहीं करती। उसे देख उसकी शिराओं में एक भी रक्त-बिन्दु चंचल नहीं हो पाता। चन्द्रापीड की वह छाया के समान अनुगामिनी है पर राजकुमार के तप्त तारुण्य का ताप उसे स्पर्श भी नहीं कर पाता। पत्रलेखा कुछ समय तक कादम्बरी के पास रहकर लौटती है और सुमधुर लजित-स्मित से अपने प्रेम रस को प्रकाशित करती हुई जब चन्द्रापीड को प्रणाम करती है तब युवराज चन्द्रापीड आदरातिशय को प्रदर्शित करता हुआ उसको आलिगनपाश मे आबद्ध कर लेता है।

इसी प्रकार वाणी और मन के भी अगोचर इस सम्बन्ध से युक्त पत्रलेखा की यह सर्जना कवि की बुद्धि के अद्भुत चमत्कार को प्रगट करती है। कवि के द्वारा प्रस्तुत किया गया पत्रलेखा का यह चित्र स्वामिभक्ति के अपूर्व आदर्श को प्रस्तुत करता है।

चन्द्रापीड के प्राप्त करने के लिए दोनों ही कथाओं में तपश्चरण किया गया है परन्तु कादम्बरीकार से राजा के द्वारा व्रतोपवासादि न कराकर रानी विलासवती के द्वारा कराया है। इस परिवर्तन में नारी सुलभ वात्सल्य एवं सन्तति की लिप्सा की सरसता अधिक मौलिक एवं मार्मिक प्रतीत होती है। मातृत्व से शून्य उसका शून्य अंक उसके परम विषाद का कारण बनता है। माता के हृदय में अपनी सन्तति के प्रति, जो अमृत की अविरल धारा बहती है, वह न केवल अवर्णनीय है, प्रत्युत अनिर्वचनीय भी है। विलासवती न केवल अविरल अश्रुधारा बहाती है अपितु समस्त भोगविलास आदि से विरत होकर राजा की अनुमति से विधिवत् पुत्र प्राप्ति के लिए अनुकूल व्रताचरण

आदि आरम्भ करती है । इसके अतिरिक्त गर्भवती रानी के मुख में स्वप्न में चन्द्रमा के प्रवेश की अपेक्षा गर्भ के पूर्व ही चन्द्र का प्रवेश काव्य में सरसता की वृद्धि करता है ।

कपिंजल का इन्द्रायुध के रूप में चन्द्रापीड़ की सेवा करना भी अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है बृहत्कथा में रश्मिवान् के मित्र के दर्शन कथा में कहीं अन्यत्र नहीं होते पर यहाँ कपिंजल के द्वारा चन्द्रमा का अनुगमन करना, अश्व बनकर पूर्वजन्म की स्मृति रखते हुए चन्द्रापीड को अच्छोद सरोवर तक ले जाना ये सब कथा-योजना में अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं । कपिंजल कथा के अवसान तक पूरी तरह मित्र की सहायता करता हुआ दृष्टिगोचर होता है । बृहत्कथा मे जहाँ दिव्य शक्ति से अश्व की प्राप्ति होती है वहाँ कादम्बरी में स्वाभाविकता के साथ स्वयं राजा का सेनाध्यक्ष चन्द्रापीड को विद्या-गृह से लाने के लिए उसे प्रस्तुत करता है । इन दोनों घटनाओं के प्रस्तुतीकरण में पर्याप्त अन्तर है और कवि का यह प्रयास श्लाघनीय एवं स्तुत्य है । घटनाओं का क्रम स्वतः ही कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होता हुआ दिखायी पड़ता है ।

बृहत्कथा के किन्नर के स्थान पर कादम्बरीकार ने किन्नर मिथुन का वर्णन किया है । किन्नर युगल प्रेम के आदर्श माने गये हैं । वे सदैव साथ ही रहते हैं और वियोग उनके जीवन में कदापि प्रवेश नहीं करता । आदर्श दाम्पत्य प्रेम किन्नर जाति की अपनी विशेषता है अतः मिथुन का साथ-साथ रहना कथा को अधिक हृदयावर्जित बना देता है ।

बृहत्कथा में जहाँ विद्याधर-लोक का वर्णन हुआ है वहाँ कादम्बरी की लीला-स्थली गन्धर्व-लोक है । दक्ष प्रजापति की पुत्रियों के गन्धर्वों के साथ सम्पर्क से इन कन्याओं का जन्म हुआ है । चन्द्रमण्डल से उद्गत मयूखों से उत्पन्न कुल का वर्णन काव्य के प्रमुख पात्रों की प्रभूत समृद्धि का परिचायक है । यों तो विद्याधर एवं गन्धर्व-दोनों ही देवयोनियाँ है तथापि कादम्बरीकार ने जो परिवर्तन किया है वह सौन्दर्याधायक तो है ही ।

बृहत्कथा में देवकन्या मनोरथ प्रभा को उन्मुक्त भ्रमण करने वाली कहा है । भोजन करने वह घर जाती है पर कादम्बरी में महाश्वेता उतनी उन्मुक्त नहीं प्रतीत होती । वह माता के साथ स्नान के लिए जाती है । इसके अतिरिक्त यहाँ जो सौन्दर्य कवि ने प्रस्तुत किया है वह अप्रतिविधेय है । बृहत्कथा की मनोरथ प्रभा जहाँ प्रगल्भ नारी के रूप में आचरण करती है । वह मुनिपुत्र की शोभा एवं सौन्दर्य लक्ष्मी के वशीभूत होकर धीरे-धीरे मुनिपुत्र के निकट जा बैठती है तो उसे पिता के द्वारा भोजन करने का आह्वान प्राप्त होता

है। परन्तु कादम्बरी में मुनि कुमार पुण्डरीक के कान में लगी हुई पारिजात मंजरी महाश्वेता का आकर्षण थी। मंजरी का सब और फैलने वाला, मन को उन्मत्त करदेने वाला परिमल उसके मन में उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है। उस सुगन्धि की डोर से बंधी हुई वह पुण्डरीक के समीप पहुँच जाती है। उसके सहज आकर्षक का केन्द्र पारिजात मंजरी है। पुण्डरीक के सौन्दर्य को देख कर वह उसकी और आकृष्ट तो होती है परन्तु उसके मन का विकार प्रगट नहीं होता। मंजरी के विषय में सखी के द्वारा पूछे जाने पर पुण्डरीक उस मंजरी को उसके कर्ण पर विभूषित कर देता है। यहाँ कवि ने बालिका के मुग्धात्व की रक्षा की है। वह लज्जाशील तरुणी है और अपनी सीमा का उल्लंघन कदापि नहीं होने देती। उसमें मुग्धा बाला का प्रेम, जो लज्जा के आवरण से आच्छादित है, अपनी उत्ताल तरंगों से मधुधारा का स्रवण कर रहा है।

इसके अतिरिक्त मनोरथ प्रभा के चित्रण में बृहत्कथाकार ने भोजन को विशेष महत्त्व दिया है। वह अपनी सखियों के साथ आश्रमों, द्वीपों, पर्वतों भीषण जंगलों और उपवनों में विहारार्थ भ्रमण करती रहती है पर भोजन के लिए घर लौट आती है। जैसे ही वह मुनिपुत्र के निकट बैठी तो पिता के पास से सखी के साथ उसका भोजन करने का बुलावा आ गया। घर जाकर ज्यों ही भोजन कर वह बाहर निकली तो उसे सखी ने रश्मिवान् के मित्र के आने की सूचना दी। प्रायः इन स्थलों में भोजन को अतिशय प्राधान्य दिया गया है। ऐसा लगता है मनोरथ प्रभा का घर से केवल भोजन का ही सम्बन्ध है। कादम्बरीकार ने भोजन की चर्चा नहीं की। ऐसी सुकोमल तरुणी का अधिक भोजन करना कवि को सम्भवतः अभिमत नहीं था।

कादम्बरी में महाश्वेता के प्रेम का प्रगटीकरण अत्यन्त स्वाभाविक है। वह अपने मुख से कुछ नहीं कहती पर उसकी चेष्टाएँ उसके मनोभावों को हठात् ही व्यक्त कर देती है। मुनि कुमार के हाथ से गिरी हुई अक्ष माला को वह सत्वर गले में धारण कर लेती है। चलते समय अक्ष माला के माँगे जाने पर वह मुग्ध बालिका माला के स्थान पर भ्रम से अपने गले का मुक्ताहार ही उतार उन्हें सौंप देती है। महाश्वेता के प्रेम का प्रस्फुटीकरण, जो कादम्बरी में व्यक्त हुआ है वह नितान्त स्वाभाविक एवं रसानुकूल है।

बृहत्कथा में मनोरथ प्रभा की सखी का देवजय के साथ सायंकाल ही आना वर्णित किया गया है। जैसे ही सखी के विषय में सोमप्रभ की जिज्ञासा शान्त होने को होती है वैसे ही वह प्रगट हो जाती है। देवकन्या सोमप्रभ एवं अश्व के लिए भोजनादि एवं शयन की व्यवस्था वहीं करती है, किन्तु कादम्बरी कार ने महाश्वेता की सखी तरलिका को एक रात गन्धर्वनगर में ही रख कर

महाश्वेता को चन्द्रापीड की अतिथि–सेवा का अवसर दिया है। महाश्वेता अत्यन्त सौन्दर्यशाली युवा को अपने आश्रम में आया देख उसे कुछ दूर एक गुफा में ले जा कर शिलाखण्ड पर आसीन करती है, दिग्विजय यात्रा से लेकर किन्नर मिथुन का अनुसरण करते हुए वहाँ तक आगमन के सारे वृत्तान्त को ध्यान पूर्वक सुनती है और उठकर हाथ में अपना भिक्षा कपाल लेकर वृक्षों के नीचे भ्रमण करने लगती है। कुछ ही क्षणों में वृक्षों से गिरे हुए फलों से उसका कपाल परिपूर्ण हो जाता है। लौटकर उसने राजकुमार से फलों के आहार करने का आग्रह किया। राजकुमार चन्द्रापीड उसकी तपस्या की महिमा से अत्यन्त प्रभावित एवं विस्मित हुआ। बृहत्कथा की मनोरथ प्रभा से कादम्बरी की महाश्वेता अधिक सरस, अधिक भावुक एवं अतिथिसेवा परायणा है।

गन्धर्वनगर की ओर मनोरथ प्रभा के प्रस्थान करने को उद्यत होने पर बृहत्कथा में सोमप्रभ गन्धर्वलोक के दर्शन की लालसा से स्वयं जाने का आग्रह करता है परन्तु कादम्बरी कार ने चन्द्रापीड से आग्रह न करा कर महाश्वेता से चन्द्रापीड के गमन का आग्रह कराया है। चन्द्रापीड के राजोचित सम्मान के यह अनुकूल प्रतीत होता है। महाश्वेता के मुख से यह कहला कर राजा के गौरव की कवि ने रक्षा करने का सफल एवं स्तुत्य प्रयास किया है।

कादम्बरी के चित्रण में भी महाकवि ने नारी सुलभ लज्जा की ही रक्षा करना अपना प्रमुख लक्ष्य रखा। जहाँ एक ओर बृहत्कथा में दोनों का प्रेम शीघ्र ही प्रकट हो जाता है तथा मनोरथ प्रभा न केवल मकरन्दिका को पाणिग्रहण के लिए राजी ही करती है अपितु साथ ही आये हुए सोमप्रभ से उसके विवाह की बात भी निश्चित कर देती है वहाँ कादम्बरी में महाश्वेता एक सहचरी के समान कादम्बरी से विवाह करने के लिए आग्रह करती है। यद्यपि कादम्बरी का हृदय चन्द्रापीड के प्रेम से ओत-प्रोत है, उसे प्राप्त करने को उत्कट लालसा उसके चित्त में हिलोरें लेती है पर उसका मुग्धात्त्व उसकी उन उद्दाम प्रवृतियों को रोके रखता है। व्यंग्यार्थ गर्भित ललित आलापों से अपनी सहृदयता एवं सौजन्य की अमिट छाप चन्द्रापीड के हृदय पर अंकित करती है परन्तु अपने प्रेम को स्पष्ट रूप से प्रकट करना उसके मुग्धात्त्व की सीमा से परे है उसके सामर्थ्य से बाहर है। अन्तःकरण में स्वतः उद्बुद्ध होने तथा प्रवहमान स्नेह की यह अन्तर्निहित धारा का समीरण एक दूसरे के हृत्तन्त्री के तारों को आन्दोलित करने में सशक्त है। इस चित्रण से काव्य-सौन्दर्य में बहुगुणी अभिवृद्धि होती है।

बृहत्कथा में मकरन्दिका एवं सोमप्रभ के पाणि-ग्रहण के निश्चित हो जाने पर कहीं साथी अश्व को अकेले बँधा देखकर अनिष्ट की आशंका न करें

इसलिए मनोरथ प्रभा को शीघ्र लौट आने का वचन देकर अपने सैन्य-समूह में लौट जाता है। पर कादम्बरी में उसे कोई ऐसी आशंका नहीं है। वह स्वभावतः कादम्बरी से विदा लेकर लौट जाता है कतिपय दिनों के अनन्तर ही केयूरक के आग्रह पर चन्द्रापीड पुनः गन्धर्वनगर में प्रवेश करता है। पत्रलेखा का यहाँ साथ आना काव्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है। मुग्धा बाला अपने प्रिय के समक्ष स्पष्ट रूप से अपने प्रेम के प्रकाशन को उचित नहीं समझती पर वह अपने समान हो वय एवं गुणों में समता धारण करने वाली प्रिय की सहचरी के समक्ष अपने भावों को व्यक्त करने में सशक्त होती है। महाकवि ने इस सुकोमल भावना को समझा है और उसे हृदयंगम किया है।

बृहत्कथा में मकरन्दिका पिता-माता से शापित हुई। देवयज से सोमप्रभ के घर लौट जाने की सूचना पाकर वह अधीर होकर उन्मत्त के समान अस्थिर चित्त हो गयी। माता-पिता ने उसे बार-बार समझाया परन्तु उनका यह उपदेश निष्प्रयोजन ही रहा। उसकी उद्विग्नता और व्यग्रता चरम सीमा पर पहुँच गयी तो क्रुद्ध होकर माता-पिता ने उसे अपनी जाति को विस्मृत कर निषादों के साथ रहने का शाप दिया। वह निषाद कन्या बन गयी और उसके दुःख से दुःखित होकर उसके माता-पिता ने प्राणों का परित्याग कर दिया। इस घटना की यहाँ कोई संगति नहीं प्रतीत होती। शाप देकर मकरन्दिका को निषाद वसति में भेजना और माता-पिता की शोक के कारण मृत्यु आदि घटनाएँ किसी प्रकार भी कथा के प्रवाह को अग्रसर करने में सहायक नहीं होती। इसके विपरीत कादम्बरी में चन्द्रापीड और कादम्बरी के वियोग का कारण चन्द्रमा को पुण्डरीक द्वारा दिया गया शाप बताया गया है, जो उसे अपना काम करते समय निरपराध ही प्राप्त हुआ था। उस अभिशाप का परिणाम भोगने के ही लिए प्रिया समागम से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी। चन्द्रापीड को अभी एक जन्म और ग्रहण करना था। अतः यह घटना चक्र कादम्बरी की कथा के प्रवाह में सहायक है। दृहत्कथा में मकरन्दिका के माता-पिता के शाप ग्रस्त होकर मरने की जो घटना दी गयी है उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी। पिता शास्त्र-वेत्ता ऋषि बन कर पुनः शाप ग्रस्त होकर शुक बन गया और माता शूकरी बन गयी—इन घटनाओं के सन्निवेश का औचित्य कितना और कहाँ तक है यह एक विज्ञ विचारक के विवेचन का विषय है। कादम्बरी के माता-पिता यथावत् अपने-अपने कार्य में निरत रहे। शोक का आवेग उनके जीवन में बुद्बुद मात्र बन कर रह गया। शापान्त के अनन्तर कादम्बरी और चन्द्रापीड के मिलन होने पर वे दोनों आकर अपने उत्तरदायित्व का पूरी तरह निर्वाह करते हैं। पुत्री का योग्य पति के साथ विवाह कर अपना सर्वस्व, राज्य

आदि देकर वे समस्त भार से मुक्त हो जाते हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति और परम्परा के अनुसार उनका यह आचरण एक समृद्धिशाली एवं सम्भ्रान्त कुल के आदर्श व्यक्ति का जैसा उचित प्रतिभासित होता है।

बृहत्कथा में मकरन्दिका का पिता शाप ग्रस्त होकर शुक-योनि में जन्म ग्रहण करता है, तथा राजा सुमना की सभा में अपनी कथा कहकर शापमुक्त हो जाता है। इसके विपरीत कादम्बरी में वैशम्पायन ही जन्मान्तर ग्रहण करने के लिए शुक-योनि में जन्म ग्रहण करता है। यद्यपि उसकी यह अवस्था स्वयकृत अपराध से महाश्वेता के द्वारा अनजाने में की गयी थी तथापि यह जन्म उसके प्रथम-प्राप्त शाप का ही परिपाक है। दोनों नायकों का शापग्रस्त होकर जन्म ग्रहण करना ही अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। वैसे भी विप्रलम्भ से परिपक्व हुआ प्रेम अधिक सरस एवं आनन्द दायक होता है। विरह के कारण अग्नि में तपकर निखरे हुए सुवर्ण के समान महाश्वेता एवं कादम्बरी का प्रेम जिस रूप को ग्रहण करता है वह वस्तुतः काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

बृहत्कथा में मकरन्दिका के सोमप्रभ से वियोग का कारण उसकी उद्विग्नता एवं अधीरता से क्रुद्ध पिता का शाप है। वह अपनी जाति को भूल कर चाण्डालों के आवास में रहती है। विरह का जो कारण कादम्बरी में प्रस्तुत हुआ है वह अधिक मनोरम एवं समीचीन है। वैसे यह अस्वाभाविक भी प्रतीत होता है कि पुत्री के वियोग की अवस्था में उसकी अधीरता से उसके जन्मदाता इतने क्रुद्ध हो जायें कि शाप देकर उसके जीवन को और भी दुःखी बना दें। सन्तति का सुख जन्मदाताओं के लिए सर्वस्व होता है। वे उसकी केवल मंगल कामना करते हैं और फिर प्रिय के वियोग में व्याकुल रहना कोई महान् अपराध भी नहीं जिस पर कुपित होकर उसके माता-पिता शाप ही दे डालें। उधर कादम्बरी में चन्द्रापीड की मृत्यु का कारण उसका शाप है। प्रेम की चरम सीमा पर पहुँचने पर भी प्रिया समागम के पूर्व ही जन्म-जन्म में मृत्यु पाना शाप का एक अंग है दूसरे कादम्बरी द्वारा मृत प्रियतम के शरीर की परिचर्या करना तथा उसके मिलन के लिए शंकर की आराधना करना भारतीय परम्परा के अनुकूल है। प्रकृत वियोग दृढ पृष्ठभूमि पर आधारित है, जिस पर कादम्बरी का प्रेम पुष्पित एवं पल्लवित हुआ है। शिव के लिए पार्वती का एवं राम के लिए सीता का तपश्चरण भारतीय परम्परा का प्रमुख अंग है। इस प्रकार मकरन्दिका को पाने के लिए सोमप्रभ द्वारा तपस्या किये जाने के स्थान पर कादम्बरी द्वारा तपस्या किया जाना अधिक युक्ति युक्त एवं परम्परागत प्रतीत होता है।

शापमुक्ति का चित्रण भी कादम्बरी में अधिक मनोरम हुआ है।

बृहत्कथा में सोमप्रभ की परिचर्या एवं आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर उसे राजा सुमना की राज्य सभा में उपस्थित होने का आदेश देता हैं, जहाँ चाण्डाल कन्या शुक को लेकर उपस्थित है, वहाँ दूसरी ओर कादम्बरी में शाप की मुक्ति के अनन्तर मिलन का प्रक्रम और भी अधिक मनोहारी है। वसन्त-समीरण से उद्दीप्त कामावेग के वशीभूत होकर कादम्बरी ज्यों ही चन्द्रापीड के शरीर का स्पर्श कर उसे गले लगाती है त्यों ही कादम्बरी के कर कमल के स्पर्श से चन्द्रापीड का मृत शरीर उच्छ्वसित हो उठता है। चेतना के लौटने पर दोनों ही एक दूसरे के गले से लगे हुए ही चन्द्रापीड के पुनरुज्जीवित होने पर प्रत्युज्जीवित हो उठते हैं, कितना मनोरम है उनका मिलन ?

इसी प्रकार मनोरथ प्रभा की तपस्या से प्रसन्न आशुतोष भगवान् शंकर उसे भी सुमना के दरबार में उपस्थित होने का आदेश देते हैं। मनोरथ प्रभा को देखकर सुमना को भी उसकी स्मृति लौट आती है और वह उसे स्वीकार करता है। परन्तु महाश्वेता की तपस्या का जो रूप कादम्बरी में निखरा है वह अद्भुत एव अनुपम हैं। उसे कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। इसका प्रियतम अपने मित्र कपिंजल के कर का अवलम्बन लेकर आकाश से उत्तर कर आता है।

बृहत्कथा के कथाकार ने रश्मिवान् के दूसरे जन्म की कथा का निर्वाह किया है। रश्मिवान् ही सुमना राजा के रूप में अवतरित होता है। कादम्बरी में चन्द्र के चन्द्रापीड एवं शूद्रक, तथा पुण्डरीक के वैशम्पायन एवं शुक वैशम्पायन के रूप में तीन जन्म की घटना का समुचित निर्वाह किया गया है। सम्भवतः महाकवि बाण ने पुण्डरीक को ऋषि कुमार होने से कथा में नायक के रूप में द्वितीय स्थान दिया है। प्रथम स्थान दिया गया है चन्द्र, या चन्द्रापीड या शूद्रक को। कथा का नाम भी कादम्बरी है और वह इस कथा की नायिका के नाम पर आधारित है। अतएव चन्द्रापीड को कथा में प्रमुख स्थान दिया गया है। यह तभी सम्भव है जब दोनों ही नायक शापग्रस्त होकर प्राण-परित्याग करते हैं। नायिकाएं तपश्चरण के लिए रह जाती हैं और नायक अपना दूसरा जन्म ग्रहण कर कर्मों का फल भोगते हैं। बृहत्कथा में एक नायक सोमप्रभ एवं एक नायिका मनोरथ प्रभा तप करने के लिए रह जाते हैं अतः कादम्बरी के घटना चक्र में महाकवि ने जो परिवर्तन किये वे अंशतः भी कहीं त्रुटिपूर्ण नहीं है। उनसे काव्य में जो उत्कृष्टता एवं वैशिष्ट्य का समावेश हुआ है वह कथा-शिल्प का उत्कृष्ट उदाहरण है।

निष्कर्ष

इस प्रकार इन दोनों कथाओं के समन्वय एवं तात्त्विक विवेचन से यह

निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बाण भट्ट ने अपने समय में अतिप्रसिद्ध बृहत्कथा को अपनी कथा का आधार बनाया। बृहत्कथा में जहां कवि की नीरसता दृष्टिपथ में आई वहां बाण भट्ट ने उसको सरस बना कर उसमें जीवन का संचार कर दिया।

प्रधानतया भेद उन पात्रों में दृष्टिगोचर होता है, जिनको शाप दिया गया है। यह वाण भट्ट की विलक्षण बुद्धि के कल्पना-नैपुण्य की विशिष्टता है कि कथा की मुख्य नायिका कादम्बरी या उसके माता-पिता को पुनः जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ा है, जब कि बृहत्कथा के अनुवाद कथासरित्सागर में उनके पुर्नजन्म का चित्रण हुआ है।

कादम्बरी का विरह वर्णन बृहत्कथा की नायिका मकरन्दिका के विरह-वर्णन से उत्कट एवं प्रकृष्ट रूप में किया गया है। न विप्रलम्भेन बिना शृंगारः पुष्टिमश्नुते" वाली उक्ति कादम्बरी के सन्दर्भ में चरितार्थ होती है। अतः यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया जा सकता है कि गुणाढ्य रचित बृहत्कथा पर आधारित होने पर भी कादम्बरी में अपनी मौलिकला, कल्पना की प्रचुरता एव प्रतिभा की गहनता पूर्णरूप से विद्यमान है। कथा-शिल्प एवं रचना शैली की दृष्टि से यह काव्य गद्य-काव्यों में सर्वातिशायी है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

——

सन्दर्भ

1. हर्ष चरित–1, 3
2. कथेव भारती यस्य व्याप्नोति जगत्त्रयम्। हर्ष० 1/9
3. कवीनामगलद्दर्पोनूनं वासवदत्तया। हर्ष चरित 1/11
4. एम० कृष्णमाचारियार—
5. किंबहुना, देवः प्रमाणम्, अचिन्तयच्च, आसीच्चास्य मनसि।
6. राघव पाण्डवीय–1/41
7. वासवदत्ता
8.
9. हर्षचरित–1/11
10. कल्पस्थान–6 अध्याय
11. दी आरियेण्टल नेम ऑफ दी गाथा सप्तशती–नागपुर ओरियेण्टल कान्फ्रेंस (1946) पृ० 370–374।

12. कालिदास पृ० 42
13. हर्षचरितम् भूमिका 1/15
14. History of literature (1914) p. 14
15. समुद्दीपित कन्दर्पा कृत गौरी प्रसाधना ।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा । हर्ष० 1/17
16. कादम्बरी–19
17. हर्षचरितम् 1/18
18. हर्षचरितम् 1/19
19. परमेष्ठी विकासिनि पद्मविष्टरे समुपविष्टः शुनासीर प्रमुखैर्गीर्वाणैः परिवृतो ब्रह्मोद्याः कथाः कुर्वन् अन्याश्च निरवद्य विद्या गोष्ठीः भावयन कदाचिदासांचक्रे — हर्ष चरित पृ० 10
20. इतश्च गव्यूतिमात्रमिव पारेशोणं तस्य भगवतश्च्यवनस्य स्वनाम्ना निर्मितव्यपदेशं च्यावनं नाम काननम् । हर्ष चरित पृ० 41
21. विवर्जित जन पंक्तयः । हर्ष चरित–पृ० 63
22. वर्णत्रय व्यावृति विशुद्धन्धसः । हर्षचरितम्-पृ० 63
23. बाल मित्र मण्डलस्य मध्यगतः मोक्षसुखमिवान्वभवम्–हर्षचरित –पृ० 69
24. वालतया निध्नतामुपगतः । (निध्नताम्–अस्वातन्त्र्यम्) हर्षचरित–पृ० 67
25. आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंशतया स्मृताः । काव्यादर्श
26. पुस्तकर्मणां पार्थिव विग्रहाः ।
27. हर्षचरितम्–पृ० 41
28. हर्षचरितम् पृ० 30
29. इण्डियन हिस्टोरिक क्वार्टरली भाग 22, पृ० 129 तथा विश्वभारती क्वार्टरली अगस्त 1946 पृ० 116–121 तथा कौल-ज्ञान निर्णय की भूमिका में चन्द्रपर्वत सम्बन्धी सामग्री ।
30. उत्तररामचरित 4 अंक श्लोक 1 के अनन्तर ।
31. हर्षचरितम्-पृ० 31
32. प्रजविना तुरगेण ततार शोणम् । हर्ष चरित–पृ० 58
33. चकार च कृतदारपरिग्रहस्यास्य तस्मिन्नेव प्रदेशे प्रीत्या प्रीतिकूटनामानं निवासम् । –हर्ष चरित–पृ० 62
34. सत्सु अपि पितृपितामहोपात्तेषु ब्राह्मण जनोचितेषु विभवेषु ।
—हर्ष चरित–67

35. सति च अविच्छिन्ने विद्या प्रसंगे। —हर्ष चरित पृ० 67
36. अगाच्च निरवग्रहो ग्रहवानिव नवयौवनेन स्वैरिणा मनसा महताम् उप-हास्यताम् -- हर्ष चरित–पृ० 67
37. हर्ष चरित–पृ० 129
38. मूढः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः। मालविकाग्निमित्र
39. हर्षचरित–पृ० 129
40. हर्षचरित–पृ० 129
41. हर्षचरित–पृ० 130
42. कष्टा च सेवा। विषमं भृत्यत्वम्। अतिगम्भीरं च राजकुलम्।
—हर्षचरित–पृ० 89
43. अमर कोश 1/5–6
44. काव्यालंकार 1,25–29
45. गद्यं तु गदितं द्वेधा कथा चाख्यायिकेति च।
कथा कल्पित वृत्तान्ता सत्यार्थाख्यायिका मता
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यान जातयः।
— काव्यादर्श–1,28
46. काव्यादर्श 1, 24–30
47. आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पञ्चधा।
—अग्निपुराण 1, 12
48. कर्तृवंश प्रशंसास्याद्यत्र गद्येन विस्तरात्।
कन्याहरण संग्राम विप्रलम्भ विपत्तयः।
भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रति वृत्ति प्रवृत्तयः।
उच्छ्वासैश्च परिच्छेदो यत्र सा चूर्णिकोत्तरा।
वक्त्रञ्चापरवक्त्रञ्च यत्र साख्यायिका मता।
श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात्कविर्यत्र प्रशंसति।
मुख्यस्यार्थावताराय भवेद्यत्र कथान्तरम्।
परिच्छेदो न यत्र स्याद् भवेद्वा लम्बकैः क्वचित्।
सा कथा नाम तद् गर्भे निवध्नीयाश्चतुष्पदीम्।
—अग्निपुराण-अ० 337, 13–17
49. अग्निपुराण 1, 12-20
50. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1, 2, 21
51. ध्वन्यालोक–उद्योत 3, कारिका 7–8 को वृत्ति।

52. काव्यानुशासन–अध्याय 8
53. शृंगार प्रकाश खण्ड, 2 पृ० 412
54. साहित्य दर्पण परिच्छेद 6, श्लो, 332–36
55. साहित्य दर्पण परिच्छेद 6 श्लोक 330–32
56. काव्यादर्श–1/23–29
57. श्लोकैर्महाकथायामिष्टान् देवान् गुरुं नमस्कृत्य
संक्षेपेण निजं कुलमभिदध्यात् स्वं च कर्तृतया
सानुप्रासेन ततो लघ्वक्षरेण गद्येन रचयेत् । कथा शरीर
पुरं व पुरवर्णकप्रभृतीन्, आदौ कथान्तरं व तस्यां न्यस्येत्
प्राग्ञ्चितं सम्यक् लघुतावत् सन्धानं प्रकान्त कथावताराय
कन्यालाभ फलं वा सम्यक् विन्यस्य सफल शृंगारकम्
इति संस्कृतेन कुर्यात् कथामगद्येन चान्येन ।
काव्यालंकार–रुद्रट–16, 20–23
58. कादम्बरी पृ० 57
59. कादम्बरी पृ० 167
60. कादम्बरी पृ० 123–24
61. कादम्बरी पृ० 38
62. कादम्बरी पृ० 312

——

कादम्बरी की काव्य-शैली

द्वितीय-परिच्छेद

काव्य-शैली के अन्तर्गत विवेच्य विषय हैं – भाषा, शैली, बाण की कला के विशिष्ट तत्त्व एवं उनकी मौलिकता।

भाषा

काव्य के लिए जिन अनिवार्य उपकरणों की अपेक्षा रहती है उनमें भाषा को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। भाषा के आधार पर ही काव्य की प्रतिमा साकार हो उठती है तथा उसके बिना काव्य कल्पना मात्र बन कर रह जाता है, उसका रूपग्रहण भाषा के द्वारा ही हो सकता है। वह विश्व की हृत्तन्त्री की नादमय झंकृति है, जिसके स्वर में मानव भावना का विस्तार एवं सफल अभिव्यक्ति होती है। भाषा में भावों की सम्प्रेषणीयता अन्तर्निहित रहती है वही एक ऐसा माध्यम है जिससे मानव मानव से एवं निकटवर्ती समाज से सम्पर्क स्थापित करता है। उसके विचार विनिमय एवं चिन्तन हेतु भाषा का उपयोग मानव के विकास की आधार शिला है अत एव भाषा का मानव जीवन के लिए महत्त्व निर्विवाद सिद्ध है। वह भावों एवं विचारों की सम्प्रेषणीयता ही उसकी सफलता का मानदण्ड है। काव्य में उसका महत्त्व इसलिए और बढ जाता है कि काव्यकार का उद्देश्य अपने भावों एवं विचारों को सहृदय पाठकों तक पहुँचाना होता है, साथ ही उसे अपने विषय के अनुकूल काव्य शैली के गौरव का निर्वाह भी करना पड़ता है। अतः इस प्रकार उसकी भाषा एक ओर जन समुदाय तक पहुँचने वाली होती है तथा दूसरी ओर उसमें काव्योचित पाण्डित्य एवं सरसता का सुखद समन्वय होता है। कवि की दक्षता इसी में है कि वह भाषा के लोकतत्त्व, शास्त्रतत्त्व एवं कलातत्त्व में कितना सामञ्जस्य स्थापित कर पाता है।

भाषा का मूल्यांकन

लोकतत्त्व का अभिप्राय यह है कि उस कवि की भाषा जन-साधारण की भाषा के समीप हो। उसमें न तो व्याकरण की अत्यधिक जटिलता हो और न चमत्कार प्रदर्शन का अनावश्यक एवं अस्वाभाविक प्रयत्न। साथ ही उसमें समकालीन प्रचलित जनभाषाओं का भी स्थान हो।

कादम्बरी की भाषा विद्वन् मण्डल की भाषा है। सर्व सामान्य भाषा और शिष्टों की भाषा में अन्तर अवश्य रहता है। यह विवाद ग्रस्त है कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा रही थी या नही परन्तु इसके प्रमाण मिलते हैं कि जनता में उसका व्यापक प्रचार था, परन्तु शिष्टों एवं सामान्य जनता के स्तर में अन्तर होने से संस्कृत भाषा के अनेक रूप रहे होगें।

कादम्बरी की भाषा शिष्ट विद्वत्समाज की भाषा होते हुए भी जन साधारण के लिए भी बोध गम्य है। गद्य कवियों का निकष माना गया है अत एव उसमें गहनता, प्रौढता, परिमार्जितता तथा कलातत्त्व की गुरुता ही नितान्त अपेक्षित है। बाण भट्ट ने पण्डित वर्ग को आनन्द युक्त करने तथा उनकी बुद्धि की उस निकष पर परीक्षा करने के उद्देश्य से इस काव्य की रचना की। कलातत्त्व की उदात्तता तथा विशिष्टता का समावेश करने के कारण कादम्बरी जितना वैदुष्यपूर्ण सहृदय का हृदयावर्जन करती है उतना जन सामान्य का नहीं। बाण के समय तक भाषा में प्रौढ़ता, परिपक्वता तथा दुरूह शब्द-योजना का प्रचलन आरम्भ हो गया था। कवि अपने समय की परम्परा की अवहेलना नहीं कर पाता अत एव उस पाण्डित्य पूर्ण भाषा का प्रयोग बाण की रचना में स्वतः आ गया है। किन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं कि बाण की काव्य-रचना सामान्य जन समुदाय की ज्ञान सीमा से बाहर है। उसमें अनेक स्थल इस प्रकार के हैं कि जहां भावसरणि इतनी सहज एवं सरल है कि सामान्य मानव भी उसका रसास्वाद करने में सशक्त है। अतः इस विवेचन से यह प्रकट होता है कि कादम्बरी की भाषा तत्कालीन जनता के निकट की भाषा है और उसकी लोकप्रियता एवं प्रचार के कारणों में उस भाषा की स्वाभाविकता, सहजता, स्वच्छन्दता तथा सरसता है। यही करण है कि कादम्बरी के परवर्ती काव्यों की भाषा, भाव एवं शैली में कादम्बरी का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। बाण भट्ट का भाषा पर पूर्ण आधिपत्य है शब्द उसका आदेश यहां तक स्वीकार करते हैं कि वे यथेष्ट भावों की सफल अभिव्यक्ति करने में समर्थ होते है। महाश्वेता के मुख से उसके यौवनागमन के चित्रण के अवलोकन से कादम्बरी की भाषा की सरसता, लोकप्रियता, सरलता तथा

आडम्बरहीनता का आभास प्राप्त हो जाता है—

"क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नव पल्लवेन, नव पल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन नव यौवनेन पदम् ।"

वसन्त ऋतु में जिस प्रकार चैत्रमास, चैत्रमास में नवपल्लव, नव पल्लव में पुष्प समृद्धि, पुष्पसम्पदा पर मधुकर श्रेणी, एवं मधुकरों में मदोन्मत्तता उसी प्रकार महाश्वेता के शरीर में नवयौवन मुकुलित होने लगा। प्रसाद गुण युक्त अत्यक्ष्प कलेवर वाक्यों की छटा इस काव्य की सुबोधता एवं सुगमता की परिचायिका हैं—

"धैर्यधना हि साधवः। किं यः कश्चित् प्राकृत इव विक्लवीभवन्तमात्मानं न रुणत्सि। कुतस्तवापूर्वोऽयमद्येन्द्रियोपप्लवो येनास्येवं कृतः। क्व ते धैर्यम्, क्वासाविन्द्रिय जयः।····निरुपकारको गुरूपदेश विवेकः, निष्प्रयोजना प्रबुद्धता, निष्कारणं ज्ञानम् यदत्र भवादृशा अपि रागाभिषङ्गैः कलुषीक्रियन्ते प्रमादैश्चाभिभूयन्ते।"[1]

छोटे–छोटे वाक्य, व्याकरण की जटिलता का प्रायः अभाव, सरल एव सरस पदावली और साथ में उपालम्भ देने की हृदयावर्जक शैली साधारण जन मानस का भी स्पर्श कर उसे आनन्द सागर में मग्न कर सकती है यह बाण की उपर्युक्त वाक्य रचना से सप्रमाण सिद्ध हो जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भाषा का मूल्यांकन

साहित्यिक दृष्टि से कादम्बरी की भाषा का मूल्यांकन करने से पहले शास्त्रीय दृष्टि से भी उसका परीक्षण करना समीचीन है। शास्त्रीय दृष्टि से यहां व्याकरण सम्मतता अभिप्रेत है।

गद्य लेखकों में बाण भट्ट की भाषा एवं शैली आदर्श भूत है। यह महाकवि प्रभावशाली गद्य के लेखन में नितान्त प्रवीण है, यह निर्विवाद सत्य है। जो कतिपय आलोचक बाण के गद्य को सघन विपिन के समान भयावह, हिंसक पशु के समान अप्रसिद्ध एवं कठिन शब्दावली से मण्डित मान कर इसकी श्रेष्ठता पर सन्देह करते हैं, वे वस्तुतः यथार्थता से अत्यन्त दूर एवं काव्य की मर्मज्ञता से अपरिचित ही प्रतीत होते हैं। चित्रण की सजीवता के लिए तथा प्रभावशालिता की उत्पत्ति के लिए महाकवि ने स्थान-स्थान पर ओजोगुण मण्डित, समास बहुला शैली का आश्रय अवश्य ग्रहण किया किन्तु यत्र-तन्त्र

लघुवाक्यों का प्रयोग करके उन्होंने अपनी शैली को सशक्त एवं प्रभावोत्पादिनी बनाया है। कवि किसी एक ही प्रकार की रचना का पक्षपाती न होकर अपने विषयों का अनुरूप शैली में परिवर्तन करता है। भाषा का प्रवाह उसी प्रकार सरल अथवा जटिलता से आबद्ध होता है। विन्ध्याटवी या सन्ध्या के वर्णन में जहाँ दीर्घ समासों की छटा दृष्टिगोचर होती है तो विरह वर्णन के अवसर में महाकवि ने लघु कलेवर प्रासादिक वाक्यावली की शोभा प्रस्तुत की है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि कपिंजल द्वारा की गयी पुण्डरीक की भर्त्सना में उसकी भाषा कितनी प्रभावशालिनी है।

बाण की रचना में पाणिनि सम्मत सभी व्याकरण के नियमों का यथावत् पालन हुआ है। इतने बड़े विपुल काय इस गद्य-ग्रन्थ में व्याकरण सम्बन्धी दोष कहीं भी दिखाई नहीं पड़त। व्याकरण के बिना भाषा का उद्देश्य ही पूरा नहीं हो पाता, अतः जन साधारण की भाषा भी एक सीमातक अवश्य व्याकरण बद्ध होती है और लिखित रूप में रचना के कलेवर के ग्रहण करने पर तो उसे व्याकरण का बन्धन और भी अधिक स्वीकार करना पड़ता है। बाण भट्ट के समय से बहुत पूर्व ही संस्कृत एक परिनिष्ठित एवं शास्त्र सम्मत भाषा का रूप ग्रहण कर चुकी थी। पाणिनि व्याकरण का साम्राज्य सर्वत्र संस्कृत साहित्य में व्यापक रूप से व्याप्त हो गया था। इसके अतिरिक्त महाकवि वाण का व्यक्तित्व अप्रतिम वैदुष्य एवं अभूतपूर्व प्रतिभा से आप्लावित था। भाषा की प्रौढता, परिमार्जितता, स्पष्टता एवं वाक्य रचना की निर्दुष्टता महाकवि के व्यक्तित्व का प्रमुख अंग रही है। उनकी वाक्य रचना कहीं शैशिल्य नहीं है तथा भाषा गहन, गूढ एवं गुम्फित है। ध्वनियों एवं शब्दों की अनेक–रूपता तथा विषय की गम्भीरता से आशय समझने में कहीं दुरूहता भले ही आ जाय परन्तु उसमें दुर्बोधता हो ऐसा कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जहां तक भाषा के बाह्य रूप का प्रश्न है वह काव्य-रचना की विषय गत सीमाओं को ध्यान में रखते हुए अर्थ—प्रकाशन की दृष्टि से अव्यवस्थित एवं अस्पष्ट नहीं है।

अतः इस विवेचन से यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया जा सकता है कि भाषा के शास्त्रीय पक्ष के आधार पर कादम्बरी की भाषा को आदर्श रूप में स्वीकार किया जा सकता है। हर्षचरित की प्रस्तावना में उन्होंने अपने काव्य के सभी पक्षों के विषय में अपनी मान्यताएं एवं उद्देश्य स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिये हैं। वाल्मीकि, कालीदास के अनन्तर भारवि, माघ श्री हर्ष आदि के काव्यों में संस्कृत भाषा उत्तरोत्तर शास्त्र सम्मत जटिल एवं अलंकृत

बनती गयी। क्रमशः उसमें कलात्मक तत्त्वों का समावेश बढता गया। बाण भट्ट को यह परम्परा उन पूर्व कवियों से मिली जिसकी श्री वृद्धि बाण ने अपने अक्षुण ज्ञान भण्डार एवं प्रखर प्रतिभा से की। वे भाषा के विधायक थे, उसके सम्राट् थे, भाषा की क्रान्तदर्शिनी शक्ति को भली प्रकार समझते थे और साहित्य-जगत् में साहित्यकार के दायित्व का भी उचित प्रकार के अनुभव करते थे। उनकी भाषा का आदर्श, उसका परिष्कार, पाण्डित्य, सरसता, रीति, वृत्ति एव शब्द शक्तियों का संयोजन अपूर्व है, अभ्दुत है एवं विस्मयावह है।

साहित्य शास्त्रीय दृष्टि से कादम्बरी की भाषा का मूल्यांकन

भाषागत कलातत्त्व की समीक्षा करना यहां अभिप्रेत है, अर्थात् बाण भट्ट की भाषा की परीक्षा साहित्यिक दृष्टि से करना प्रस्तुत सन्दर्भ में अपेक्षित है। साहित्यिक भाषा में भावावेग एवं भाव गरिमा की प्रमुखता रहती है। जिससे उसमें कहीं-कहीं दुरूहता और जटिलता भी आ जाती है परन्तु उसका प्रभाव गहन होता है। वह श्रोता या पाठक के अन्तःकरण में झंकृत होने लगती है। सामान्यतया भाषा में तीन शक्तियों को स्वीकार किया गया है—अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना। कवि पात्र और परिस्थिति के अनुरूप इन तीनों का प्रयोग करता है। इसी प्रकार इस दृष्टि से भाषा के तीन गुण भी माने गये हैं—ओज, माधुर्य एवं प्रसाद। इन गुणों के आधार पर यथेष्ट रस-व्यञ्जना के लिए पदों की जो विशिष्ट रचना होती है, उसे रीति कहा जाता है। इसी रीति को मार्ग या वृत्ति कहा गया है। वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली—ये तीन रीतियां गानी गयी हैं तथा वृत्तियां है—उपनागरिका, परुषा और कोमला। रसानुगुण भाषा में इनका समुचित प्रयोग होता है। यह गूढ शास्त्रीय विवेचन भामह से लेकर विश्वनाथ के साहित्य दर्पण तक होता रहा और परवर्ती आचार्यों ने भी कुछ परिवर्तन एवं संशोधन किये।

काव्य-ग्रन्थों में अभिधा का प्रयोग कथा-तत्त्व के लिए किया जाता है अर्थात् कवि इतिवृत्त के लिए सरल एवं सहज भाषा का प्रयोग करता है। कथा के मार्मिक प्रसंगों में लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियों का प्रयोग होता है। सम्वादों का सौन्दर्य भी लक्षणा एवं व्यञ्जना के प्रयोग पर निर्भर रहता है। अतः भाषा के समीक्षण के लिए शब्द शक्तियों का विवेचन यहां असमीचीन एवं असंगत नहीं होगा।

शब्द शक्तियां और कादम्बरी

संस्कृत साहित्य में शब्द–सम्बन्धी विवेचन साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण, न्याय एवं मीमांसा–इन तीनों शास्त्रों में सुव्यवस्थित रूप से हुआ है।

शब्द शक्ति का अनुशीलन पूर्व मीमांसा के शावर भाष्य एवं कुमारिल के तन्त्र-वार्तिक नामक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। कालान्तर में न्याय शास्त्र एवं व्याकरण शास्त्र में इसके सम्बन्ध में विशेष रूप से ऊहापोह किया गया। साहित्य शास्त्र का शब्द शक्ति विवेचन प्रायः इन्हीं तीन स्रोतों से अपनी सामग्री ग्रहण करता है तथापि इनमें भी उसकी मान्यताएं मुख्य रूप से व्याकरण से ही अधिक प्रभावित हुई हैं। जहां कहीं भी साहित्य शास्त्र में कोई विवादास्पद प्रसंग आता है तो उसके समाधान के लिए साहित्य शास्त्र व्याकरण के विवेचन को ही अपना आदर्श स्वीकार करता है। भरत से लेकर नागेश भट्ट तक के ग्रन्थों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य शास्त्र पर व्याकरण का ऋण असन्दिग्ध है। आचार्यों ने व्याकरण को सर्वशास्त्रों का मूल कहा है।[1] इन्हीं का अनुगमन करते हुए मम्मट ने भी व्याकरण शास्त्र की प्रशस्ति का गान किया है—

> "इदमिति काव्यं बुधैः वैयाकरणैः..................
>
> ....शब्दार्थ युगलस्य" ।[2]

यह होते हुए भी काव्य शास्त्र सर्वथा व्याकरण के आश्रित नहीं रहा। व्याकरण के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों एवं स्वतंत्र रूप से भी उसने अपना कार्य निर्धारित किया व्याकरण के लिए-जहां एक ओर काव्य शास्त्र ने अभिधा के लिए व्याकरण शास्त्र का आश्रय लिया वहां दूसरी ओर व्याकरण को लक्षणा स्वीकार न होने से उसने मीमांसा शास्त्र का आश्रय ग्रहण किया। मीमांसा एवं न्याय को व्यञ्जना स्वीकार नहीं है अतः व्यञ्जना की सिद्धि के लिए उसने अपने स्वतन्त्र मार्ग का अवलम्बन लिया। व्याकरण की प्रारम्भिक स्थिति में व्यञ्जना के दर्शन नहीं होते किन्तु काव्य शास्त्र के व्यञ्जना सिद्धि करने पर व्याकरण को भी उसे स्वीकार करना पडा।

साहित्य में शब्दों का अतिशयित महत्त्व है। शब्द विचारों के वाहक होते हैं, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने मन की बातों को सहृदय संवेद्य बनाता है। साहित्यकार शब्द के द्वारा ही हृदय की अनुभूतियों को साकार करता है।

शब्दों के सम्बन्ध में विचार करने वाले तत्त्वों को शब्द शक्ति कहते हैं। यह अर्थ बोधक व्यापार का मूल कारण भी कही जाती है। शक्तियां तीन प्रकार की होती है—

अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना। तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ का बोध कराने के लिए ही इनके तीन विभाग किये गये हैं। शब्द भी वाचक, लक्षक

और व्यञ्जक–भेद से तीन प्रकार के होते हैं। उन तीन प्रकार के शब्दों से तीन प्रकार के अर्थ निकलते हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ। वाचक शब्द के अर्थ को वाच्यार्थ, लक्षक शब्द के अर्थ को लक्ष्यार्थ एवं व्यञ्जक शब्द के अर्थ को व्यंग्यार्थ कहा जाता है। प्रत्येक अर्थ को व्यक्त करने के लिए पृथक् पृथक् शक्तियां मानी गयी हैं। इसलिए शक्ति को शब्दार्थसम्बन्धः शक्तिः[3] कहा गया है।

जिस शक्ति या व्यापार द्वारा अर्थ का बोध होता है, उसे शक्ति की संज्ञा दी जाती है। वाक्य अर्थ कथित या अभिहित होता है, लक्ष्य अर्थ लक्षित होता है एवं व्यंग्य अर्थ व्यञ्जित, ध्वनित, सूचित या प्रतीत होता है।

जैसा पहले कहा जा चुका है शब्द तीन प्रकार के होते हैं। उनमें पहला शब्द है–वाचक शब्द। साक्षात् संकेतित अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को वाचक शब्द कहते हैं। अर्थात् जहां शब्द के श्रवण मात्र से ही अर्थ की प्रतीति अथवा ज्ञान होता है, उसे वाचक शब्द की संज्ञा से बोध्य कहा जाता है। विश्व में जितने भी शब्द हैं, उन्हें वाचक शब्द कहा गया है। वाचक शब्द का अर्थ–ग्रहण संकेतग्रहण अथवा वस्तुओं के सम्बन्ध ज्ञान से होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वाचक शब्द का अर्थ वस्तुओं के सम्बन्ध ज्ञान पर निर्भर रहता है।

संकेत ग्रह आठ प्रकार से होता है—व्याकरण, उपमान कोष, आप्त-वाक्य, प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, वाक्य शेष एवं विवृति। संकेत–ग्रहण के ये आठ कारण बताये गये हैं।

वाचक शब्द चार प्रकार के होते हैं–जाति वाचक, गुण वाचक, क्रिया वाचक एवं यदृच्छा वाचक। जाति वाचक–जो शब्द अपनी समस्त जाति का बोध कराता है, उसे जाति वाचक कहते हैं। इस शब्द के अर्थ का क्षेत्र विस्तृत रहता है, क्योंकि इसके द्वारा समस्त अर्थ का बोध होता है। उदाहरणार्थ जैसे 'गो', 'महिष' आदि। गुणवाचक–जिस शब्द के द्वारा किसी वस्तु की विशेषता का बोध होता है, उसे गुण वाचक शब्द कहते हैं। यह शब्द विशेषण होता है। जैसे 'कृष्णा शाटी' इस वाक्य में कृष्णा शब्द शाटी की विशेषता को बताता है। क्रिया वाचक–जो शब्द क्रिया के निमित्तकारण बन कर प्रवृत्त हों, उन्हें क्रिया बाचक कहते हैं। उदाहरण हेतु जैसे 'पाचक' शब्द। यहां पाचक शब्द का अर्थ है पाक करने वाला। यहां 'पाक' क्रिया के निमित्त से पाचक शब्द का प्रयोग किया गया है।

यदृच्छा वाचक—जहां व्यक्ति अपनी इच्छा से किसी का नाम रख देता

है उसे यदृच्छा वाचक कहते हैं। इस शब्द से किसी एक व्यक्ति का बोध होता है। जैसे राम, कृष्ण आदि शब्द।

आचार्य मम्मट के अनुसार जो शब्द साक्षात् संकेतिक अर्थ को द्योतित करता है वह वाचक शब्द है

'साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ।[4]

उनकी दृष्टि में इस जगत् में जिस शब्द का संकेतग्रह नहीं हुआ तो उस अर्थ की प्रतीति भी नहीं हो सकती। अतः जिस शब्द का जिस अर्थ में बिना व्यवधान के संकेतग्रहण होता है वह वाचक शब्द होता है। जिस अर्थ में संकेत ग्रहण किया जाता है वे शब्द चार प्रकार के होते हैं :-

संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।[5]

संकेत-ग्रह का विषय

शक्ति—ग्रह एवं संकेत-ग्रह का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस विषय में वैयाकरणों, नैयायिकों एवं मीमांसकों ने भिन्न-भिन्न रूप से अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। आचार्य मम्मट ने कहा है कि संकेतित अर्थ जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा रूप से चार प्रकार का माना जाता है। अथवा वह मीमांसकों के अनुसार केवल जाति में ही होता है। वैयाकरणों के अनुसार संकेत ग्रह जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य-चारों में होता है। अतः वे इसके चार प्रकार मानते हैं। मीमांसक इसका एक ही भेद स्वीकार करते हैं और वह है-'जाति'। नैयायिकों के अनुसार संकेत जाति विशिष्ट व्यक्ति में सन्निहित है। बौद्धों ने अपोह में संकेत स्वीकार किया है। साहित्य शास्त्र के विवेचकों ने वैयाकरणों का ही मत स्वीकार किया है।

आचार्य मम्मट ने पूर्व पक्ष में इस प्रश्न को उठाते हुए कहा है कि कोई जाति में संकेत मानता है, कोई व्यक्ति में संकेतग्रह स्वीकार करता है तथा किसी की दृष्टि में जाति विशिष्ट व्यक्ति में संकेत निहित है। साधारणतः किसी व्यक्ति में ही जीवन के व्यवहार के सिद्ध होने से संकेतग्रह व्यक्ति में ही होता है। यदि व्यक्ति में संकेतग्रह माना जाय तो उसमें दो प्रकार के दोषों की सम्भावना रहती है—आनन्त्य एवं व्यभिचार।

जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेतग्रह होता है, उस शब्द से उसी अर्थ की प्रतीति होती है। अतः यदि व्यक्ति में संकेतग्रह हुआ तो उस शब्द से केवल उसी व्यक्ति विशेष का बोध होगा तथा अन्य व्यक्तियों के लिए पृथक्-पृथक् संकेतग्रह मानने की आवश्यकता होगी और इससे अनन्त शक्तियों के मानने से आनन्त्य दोष होगा।

अतः इस दोष से मुक्त होने के लिए व्यभिचार दोष को माना जाता है। व्यभिचार का अर्थ नियम का उल्लंघन होता है, जिसके अनुसार कुछ व्यक्तियों में व्यवहार के द्वारा ही संकेत–ग्रह हो जाता है और जो अवशिष्ट व्यक्ति रहते हैं उनका ज्ञान संकेत-ग्रह के नहीं होने पर भी होता है। इस प्रकार यदि 'गो' शब्द के द्वारा बहुत से 'गो' व्यक्तियों का ज्ञान बिना संकेत के होने लगे तो वहां नियम का अतिक्रमण मान लिया जाता है—अर्थात् नियम भंग हो जाता है। क्योंकि नियमानुसार शब्द के अर्थ का ज्ञान संकेत ग्रह के द्वारा ही होता है इस प्रकार इसमें व्यभिचार दोष उपस्थित होता है। ये दोनों–आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानने के कारण आ सकते हैं, यदि व्यक्ति में संकेतग्रह न माना जाय तो इन दोषों की सम्भावना नहीं हो सकती। अतः व्यक्ति से संकेत–ग्रह नहीं मानना चाहिये।

वैयाकरणों एवं मीमांसकों ने यह स्वीकार किया है कि व्यक्ति में शब्द का संकेत नहीं होता। तो फिर शब्द का संकेत किसमें होता है इस प्रश्न पर वैयाकरणों एवं मीमांसकों में मतवैषम्य है। मीमांसक शब्द को केवल जाति का संकेत करने वाला मानते हैं। तो वैयाकरणों ने उपाधि में संकेत स्वीकार किया है। वैयाकरण उपाधिवादी है और मीमांसक जाति वादी। उपाधि शब्द से वैयाकरणों का अभिप्राय वस्तुओं के ऐसे सामान्य धर्म से है, जो उन्हें अन्य वस्तुओं से पृथक् कर देते हैं।

मीमांसकों ने केवल जाति में ही संकेत ग्रह माना है। प्रत्येक पदार्थ जाति या सामान्य का ही वाचक होता है। गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दों में भी जाति का अनुसन्धान किया जा सकता है। उनके अनुसार हिम, पय एवं शंख में विद्यमान शुक्ल आदि गुण भिन्न भिन्न होते हैं। विभिन्न वस्तुओं में रहने वाले गुणों–शुक्लत्व आदि को जाति ही मानना चाहिये। उसी शुक्लत्व जाति में संकेतग्रह सम्भव है।

नैयाकिकों के मतानुसार संकेतग्रह न तो जाति में होता है और न व्यक्ति में ही प्रत्युत वह जाति विशिष्ट व्यक्ति में होता है। न्याय सूत्र के अनुसार पद का अर्थ व्यक्ति, आकृति एवं जाति सभी में हैं, अतः केवल व्यक्ति अथवा केवल जाति में संकेतग्रह न मानकर जाति एवं आकृति से विशिष्ट व्यक्ति में माना जा सकता है।[6] उनके अनुसार केवल व्यक्ति में शक्ति ग्रह मानने से आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष आयेंगे और जाति में संकेतग्रह करने पर व्यक्ति की पतीति नहीं हो सकती। अतः जाति विशिष्ट व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानना समीचीन होगा।

संकेत-ग्रह के सम्बन्ध में बौद्ध दर्शनिकों का अपोहवाद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अपोह का अर्थ है–अतद् व्यावृत्ति या तद्भिन्न भिन्नत्त्व। इसको इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–जैसे किसी व्यक्ति के द्वारा गाय शब्द कहने पर संसार की सभी वस्तुओं का, केवल गाय को छोड़कर, निराकरण कर दिया जाता है। जिसमें उस वस्तु का निराकरण न कर उससे भिन्न सभी वस्तुओं निराकरण कर दिया जाता है उसे अतद् व्यावृत्ति कहते हैं। बौद्ध दर्शन क्षणभंगुर वादी है। अतः क्षणिकवादी सिद्धान्त के विपरीत होने से वे जाति या सामान्य को स्वीकार नहीं करते। इसलिए वे जाति में संकेत ग्रह न मान कर अपोह में ही अंगीकार करते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य शास्त्रियों को न तो मीमांसा का सिद्धान्त मान्य है और न न्याय का। केवल वैयाकरणों के ही विचार को अंगीकार करते हुए वे जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा-इन चारों में ही शाब्द बोध को स्वीकार करते हैं।

अभिधा

साक्षात् संकेतित अर्थ को बताने वाली शब्द की प्रथमा शक्ति को अभिधाशक्ति कहा गया है।[7] अर्थात् भाषा की जिस शक्ति से शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ का बोध होता है वह अभिधा शक्ति के नामसे कही जाती है। आचार्य मम्मट की दृष्टि में साक्षात् संकेतित अर्थ ही मुख्य अर्थ होता है, और उसका बोध कराने वाले शब्द के व्यापार को अभिधा कहते है।

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।[8]

सभी अर्थो का मुख होने के कारण इसे मुख्य अर्थ कहते हैं। मुकुल भट्ट के मतानुसार जिस प्रकार शरीर के सभी अवयवों में सर्वप्रथम मुख दिखाई देता है उसी प्रकार सभी प्रकार के अर्थो से पहले इसी अर्थ का बोध होता है। अतः मुख्य होने से इसे अन्य सभी प्रतीत अर्थों का मुख कहते हैं।[9]

अभिधा शक्ति के द्वारा शब्द के प्रसंग प्राप्त अर्थ का ज्ञान होता है। शब्द के श्रवण मात्र से ही जो उसका अर्थ प्रकट होता है, वही मुख्य अर्थ होता है, वही संकेतित अर्थ है और उसी को प्रसंग प्राप्त अर्थ भी कहते हैं।

अभिधा शक्ति के द्वारा जिन वाचक शब्दों का बोध होता है वे तीन प्रकार के माने गये हैं—रूढि, यौगिक एवं योगरूढि। इनको पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल समुदाय शक्ति, केवलावयव शक्ति एवं समुदायावयव शक्ति संकर कहा है।[10]

रूढि –जहां शब्द समुदाय रूप में अर्थ की प्रतीति कराता है वहां रूढि होती है इसमें शब्द अखण्ड शक्ति से अर्थ को द्योतित करते हैं। रूढि में शब्दों के खण्डों के अलग-अलग अर्थ नहीं होते। जैसे–पेड, घोड़ा आदि।

यौगिक—शब्द के अवयव शक्ति द्वारा अर्थ की प्रतीति होने पर यौगिक होता है।[11] इन शब्दों का अर्थ उनके अवयवों से ज्ञात होता है। जैसे–भूपति, सुधाँशु आदि। यहां भूपति में भू का अर्थ है पृथ्वी और पति का अर्थ है स्वामी। इन दोनों के एक साथ मिला देने पर इसका अर्थ होता है पृथ्वी का स्वामी। राजा के लिए यह शब्द–पृथ्वी का स्वामी यौगिक हुआ।

योग रूढि—जब एक ही अर्थ के प्रतिपादन के लिए समुदाय शक्ति एवं अवयव शक्ति की आवश्यकता होती है तो उसे योगरूढि कहते है। उदाहरण के लिए जैसे-गणनायक शब्द केवल गणेश का अर्थ बोधक है, किसी गण के नेता को गणेश नहीं कहा जा सकता।

अभिधा को परिभाषित करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है कि शब्द एवं अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को अभिधा कहते हैं। इस सम्बन्ध को शब्द का मानकर अर्थ में रहने वाला और अर्थ का मानकर शब्द में रहने वाला भी कहा जा सकता है—

"शब्दाख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्ध विशेषोऽभिधा"[12]

बाण भट्ट श्रेष्ठ महाकवि हैं। अतः उत्तम काव्य के अनुरूप लक्षणा एवं व्यञ्जना का अतुल भण्डार उनके काव्य में विद्यमान है। साथ ही वे कथाकार भी हैं। कथा को सुन्दर रूप में प्रस्तुत करना उनका उद्देश्य है। अतः उनकी भाषा में अभिधा का भी प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। कथा–तत्त्व को अभिधा के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। कथा मुख के अन्तर्गत राजा शूद्रक का वर्णन अभिधा का मनोरम उदाहरण है—

"आसीदशेष नरपतिशिरःसमभ्यर्चितशासनः पाक-शासन-इवापरः चतुरुदधिमालामेखलाया भुवो भर्ता, प्रतापानुरागावनतसमस्त सामन्तचक्रः, चक्रवर्तिलक्षणोपेतः, चक्रधर इव कर कमलोपलक्ष्यमाण शंखचक्रलाञ्छनः, हरइव जितमन्मथः, गुह इवाप्रतिहत शक्तिः, कमल योनिरिव विमानीकृत राजहंसः, जलधिरिव लक्ष्मीप्रसूतिः, गंगा प्रवाह इव भगीरथपथप्रवृतः, रविरिव प्रतिदिवसोपजायमानोदयः, मेरुरिव सकलोपजीव्यमान

पादच्छायः, दिग्गज इव अनवरतप्रवृत्त दानार्द्रीकृतकरः, कर्ता-महाश्चर्याणाम्, आहर्ता क्रतूनाम्, आदर्शः सर्वशास्त्राणाम्, उत्पत्तिः कलानाम्, कुलभवनं गुणानाम्, आगमः काव्यामृत-रसानाम्, उदय शैलोमित्रमण्डलस्य, उत्पतिकेतुरहित जनस्य, प्रवर्तयिता गोष्ठी बन्धानाम्, आश्रयो रसिकानाम्, प्रत्यादेशो धनुष्मताम्, धौरेयः साहसिकानाम्, अग्रणी विदग्धानाम्, वैनतेव इव विनतानन्दजननः, वैन्य इव चापकोटि समुत्सारित सकला-रातिकुलाचलो राजा शूद्रको नाम।"[13]

कथारम्भ में राजा शूद्रक का वर्णन अभिधात्मक एवं अत्यन्त सरल भाषा के प्रवाह से ओतप्रोत है। यही कारण है कि उनकी रचना इतनी लोक-प्रिय हुई कि परवर्ती समस्त संस्कृत वाङ्मय स्वयं को उनका उपकृत अनुभव करता है। बाण के काव्य-कल्पतरु में अभिधा के मूल पर लक्षणा की शाखाओं में व्यञ्जना के पुष्प विकसित होते हुई दृष्टिगोचर होते हैं।

लक्षणा—

मुख्यार्थ का बाध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा उसी से सम्बन्धित अन्य अर्थ का ग्रहण किया जाय तो वहाँ लक्षणा शक्ति होती है। लाक्षणिक अर्थ को बताने वाली शक्ति को लक्षणा कहते हैं तथा जिन शब्दों से लाक्षणिक अर्थ का बोध होता है वे लक्षक कहे जाते हैं। मम्मट ने उसे इस प्रकार परिभाषित किया है—

"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।"[14]

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जहाँ मुख्य अर्थ के बाध होने पर और उस मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध होने पर रूढि अर्थात् प्रसिद्धि से या प्रयोजन से जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह शब्द में आरोपित अर्थात् कल्पित वृत्ति या व्यापार लक्षणा कहलाती है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार मुख्य अर्थ का बाध होने पर अर्थात् वाक्य में मुख्य अर्थ का अन्वय अनुपपन्न होने पर रूढि अर्थात् प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन को सूचित करने के लिए मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का ज्ञान, जिस शक्ति के द्वारा होता है, उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं —

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता।[15]

इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी विशेष प्रसंग में मुख्य अर्थ का समुचित बोध न होने पर मुख्यार्थ से ही सम्बन्धित अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है। इस अन्य अर्थ के ग्रहण के दो कारण हो सकते हैं–या तो कोई लौकिक प्रयोग होता है अथवा कोई विशेष प्रयोजन होता है। यही लक्षणापद-वाच्या शक्ति है।

इस प्रकार लक्षणाशक्ति में तीन बातें आवश्यक होती है—

1– मुख्यार्थ का बाध

2– मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का योग

3– रूढि और प्रयोजन।

मुख्यार्थ का बाध—जब मुख्य अर्थ की प्रतीति में बाधा उपस्थित हो अथवा प्रत्यक्ष विरोध दृष्टिगोचर हो, अर्थात् जहां वक्ता जिस अभिप्राय को प्रकट करना चाहता हो, वह मुख्यार्थ के द्वारा प्रकट नहीं होता हो, उसे मुख्यार्थ का बाध कहते हैं।

मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ का योग–मुख्यार्थ के बाध होने पर जब अन्य अर्थ का ग्रहण किया जाता है तो उसका मुख्य अर्थ के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक हो जाता है इसी को मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का योग कहते हैं।

रूढि या प्रयोजन—रूढि का अर्थ है प्रसिद्धि अर्थात् किसी वस्तु का विशेष प्रकार से कहने का प्रचलन। प्रयोजन का अर्थ है फल विशेष। अर्थात् किसी अभिप्राय विशेष के कारण वक्ता का लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करना। इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध और मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का योग लक्षणा के लिए आवश्यक है। किन्तु रूढि अथवा प्रयोजन में से किसी एक का रहना अनिवार्य है।

उदाहरण जैसे कहा जाय कि 'गंगा में गांव है।' तो यहां 'गंगा' शब्द के द्वारा वक्ता का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। गंगा में गांव या अहीरों की बस्ती का होना सम्भव नहीं। मुख्य अर्थ तो गंगा की धारा है। गंगा शब्द सुनते ही उसका मुख्य अर्थ प्रकट नहीं होता, इस प्रकार मुख्य अर्थ में बाधा आ जाती है। ऐसी स्थिति में गंगा शब्द गंगा से सम्बन्धित निकटता या सामीप्य के कारण तटरूप अन्य अर्थ लिया गया है। अर्थात् यहां वक्ता का अभिप्राय गंगा को गंगा तट कहता है। गंगा के किनारे गांव है–इसमें मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का योग हुआ। वक्ता 'गंगा में गांव' किसी विशेष प्रयोजन के कारण कहता है। उसका अभिप्राय गांव की शीतलता और पवित्रता बताना हैं। अतः लक्षणा के तीनों तत्त्व विद्यमान है।

1– गंगा में गाँव है-मुख्यार्थ का बाध

2– गंगा के किनारे गाँव–मुख्यार्थ का योग

3– गाँव की शीतलता और पवित्रता प्रकट करना–प्रयोजन
अतः यह प्रयोजनवती लक्षणा हुई।
इस प्रकार लक्षणा के दो भेद हुए—
रूढि लक्षणा एवं प्रयोजनवती लक्षणा।

रूढि लक्षणा जब रूढि या प्रचलित परम्परा के कारण मुख्यार्थ को छोड़ कर अन्य अर्थ की प्रतीति हो, तो उसे रूढि लक्षणा कहते हैं। अर्थात् जब मुख्य अर्थ में रूढि के कारण बाधा उपस्थित हो, जिससे मुख्य अर्थ का ठीक ठीक ज्ञान न हो सके तो उससे ही सम्बन्धित दूसरा अर्थ ग्रहण किया जाय, तो रूढि लक्षणा होगी।

जैसे 'कलिङ्गः साहसिकः' में कलिङ्ग शब्द की कलिङ्गवासी' में लक्षणा है। कलिङ्ग कोई व्यक्ति नहीं है जिसे साहसिक कहा जाय। अतः लक्षणा शक्ति से मुख्यार्थ से ही सम्बन्धित 'कलिङ्ग का निवासी' अर्थ लिया गया। कलिङ्ग की 'कलिङ्ग का रहने वाला' अर्थ में प्रसिद्धि है अतः यहां रूढि लक्षणा हुई।

प्रयोजनवती लक्षणा—जब किसी विशेष प्रयोजन या फल के कारण लक्षणा की जाय तो वहां प्रयोजनवती लक्षणा होती है। प्रयोजनवती लक्षणा को फल लक्षणा भी कहते हैं। इसका उदाहरण 'गंगायां घोषः' है।

आचार्य मम्मट ने प्रयोजनवती लक्षणा के 6 भेद किये हैं, जिनमें प्रथम दो भेद हैं- शुद्धा और गौणी।

गौणी लक्षणा—जहां सादृश्य अर्थात् समान गुण या धर्म के कारण लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो, वहां गौणी लक्षणा होती है। जैसे 'मुख-कमल'।

यहां मुख कमल नहीं हो सकता क्योंकि दोनों वस्तुएं भिन्न हैं। अतः इस वाक्य में मुख्य अर्थ का बाध हुआ। किन्तु गौणी लक्षणा के द्वारा मुख एवं कमल के गुणों पर विचार कर मुख को कमल कहा गया है। कमल के गुण सुन्दरता, कोमलता आदि मुख में भी विद्यमान है अतः समान गुण के कारण मुख कमल के समान है, ऐसा अर्थ ग्रहण किया गया। यहां लाक्षणिक अर्थ का ज्ञान सादृश्य सम्बन्ध के द्वारा हुआ अतः यहां गौणी लक्षणा हुई।

शुद्धा लक्षणा—यहां सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो वहां शुद्धा लक्षणा होती है। शुद्धा लक्षणा में अर्थ

प्रतीति कई प्रकार के सम्बन्धों से होती है। आधाराधेय भाव सम्बन्ध तात्कर्म्य सम्बन्ध, सामीप्य सम्बन्ध आदि। सामीप्य सम्बन्ध का उदाहरण 'गंगायां घोषः' यह वाक्य है। गौणी एवं शुद्धा लक्षणा– गौणी एवं शुद्धा का विभाजन उपचार या सादृश्य के कारण होता है। गौणी में उपचार होता है किन्तु शुद्धा में नहीं। उपचार को विश्वनाथ ने इस प्रकार परिभाषित किया है—

> **"उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशय महिम्ना भेद प्रतीति स्थगनमात्रम्।"**[16]

सारांश यह है कि अत्यन्त भिन्न अर्थात् पृथक् रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए एक दूसरे के साथ अत्यन्त विशकलित दो पदार्थों में सादृश्यातिशय के कारण भेद प्रतीति का हट जाना ही उपचार कहलाता है। शुद्धा में उपचार के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के द्वारा लक्षणा की जाती है।

गौणी में सामान्य गुण को आधार मानाजाता है। यह गुण मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ दोनों में विद्यमान रहता है। सादृश्य सम्बन्ध को आधार बना कर चलने से इसमें समान धर्म अथवा गुण की प्रधानता रहती है। गुण के कारण इसका निर्माण होता है अतः इसे गौणी कहा जाता है। शुद्धा अन्य सम्बन्धों के द्वारा निर्मित होती है। इसमें गुण का आश्रय नहीं लिया जाता। अतः यह शुद्धा कही जाती है।

शुद्धा लक्षणा के भेद किये गये हैं–उपादान लक्षणा एवं लक्षण लक्षणा।

उपादान लक्षणा—जहां प्रयोजन से प्राप्त होने वाले अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ के ग्रहण किये जाने पर मुख्यार्थ बना रहे अर्थात् मुख्यार्थ अपना अर्थ न छोड़े, वहां उपादान लक्षणा होती है।

उपादान का अर्थ है ग्रहण करना। इस लक्षणा में मुख्यार्थ को पूर्णतया नहीं छोड़ा जाता अर्थात् उसे ग्रहण कर लिया जाता है यद्यपि उसका तिरस्कार भी होता है। इस लक्षणा में मुख्यार्थ अपने अर्थ को (अजहत्) नहीं छोड़ते हुए अर्थ का उपादान करता है इसलिए इसे अजहत्स्वार्था भी कहते हैं। जैसे कुन्ताः प्रविशन्ति इस वाक्य में कुन्त अचेतन पदार्थ हैं. उनका प्रवेश करना असम्भव है। अतः यहां मुख्यार्थ का बाध होता है किन्तु कुन्त के साथ उनके धारण करने वालों का योग होने से यहां मुख्यार्थ का योग हुआ। कुन्त शब्द अन्य अर्थ को ग्रहण करते हुए भी अपने अर्थ का परित्याग नहीं करता। अतः कुन्त से भाला चलाने वाला अर्थ ग्रहण करने के कारण यहां उपादान लक्षणा हुई।

लक्षण लक्षणा—जब प्रयोजन युक्त अर्थ की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ

को छोड़कर लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाय तब लक्षण लक्षणा होती है। लक्षण लक्षणा में मुख्यार्थ का पूर्णतः तिरस्कार किया जाता है एवं मुख्यतः लक्ष्यार्थ को ही ग्रहण किया जाता है। अतः इसे जहत्स्वार्था कहते हैं। क्योंकि यह अपने अर्थ को (जहत्) छोड़कर अन्य अर्थ को ग्रहण करती है। अर्थात् मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ को ग्रहण करने से इसे जहत्स्वार्था के नाम से कहा जाता है।

सारोपा लक्षणा—जिस लक्षणा में आरोप्यमाण और आरोप के विषय दोनों का शब्दतः कथन किया जाय वहां सारोपा लक्षणा होती है। अर्थात् जहां आरोप्यमाण एवं आरोप के विषय का भेद छिपाया नहीं जाता उन दोनों का समानाधिकरण रूप से निर्देश किया जाता है वह सारोपा लक्षणा है।[17]

आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि में अनाच्छादित स्वरूप–विषय अर्थात् उपमेय का अन्य उपमान के साथ अभेद ज्ञान कराने वाली लक्षणा ही सारोपा लक्षणा होती है।[13]

साध्यवसाना—जिस लक्षणा में विषय अर्थात् आरोप के विषय का शब्दतः कथन न होकर आरोप्यमाण का ही कथन हो वहां साध्यवसाना लक्षणा होती है। आरोप के विषय का विषयी द्वारा तिरोभूत हो जाना अध्यवसान है। साध्यवसाना के मूल में रूपकातिशयोक्ति अलंकार होता है। साध्यवसाना में विषयी अर्थात् उपमान विषय अर्थात् उपमेय को निगरण कर जाता है अपने में आत्मसात् कर लेता है तो यहाँ साध्यवसाना लक्षणा होगी। यहां सिंहोमाणवकः में विषयी सिंह ने विषय बालक का निगरण कर लिया है।

मम्मट ने इसका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुय किया है कि आरोप्यमाण के द्वारा आरोप के विषय के निगीर्ण किये जाते पर साध्यवसाना लक्षणा होती है।[19]

प्रयोजनवती लक्षणा के दो अन्य भेद भी होते हैं—गूढ व्यंग्या एवं अगूढ व्यंग्या।

गूढ व्यंग्या

क्योंकि प्रयोजन व्यञ्जना के व्यापार द्वारा ही बोध्य होता है, अतः उसके ये दो भेद और किये गये हैं। अभिधा या लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की अभिव्यक्ति नहीं होती है अतः प्रयोजनवती लक्षणा को सर्वत्र व्यंग्य से युक्त माना गया है। जहां व्यंग्य अर्थ इतना गूढ होता है कि उसके अर्थ का आनन्द मार्मिक सहृदय ही ले सके तो वहां गूढ व्यंग्या लक्षणा होती है और जहां व्यंग्य अगूढ या स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगे और जो सब के बोधगम्य हो

तो वहां अगूढ व्यंग्या लक्षणा होती है।

आचार्य मम्मट के अनुसार लक्षणा रूढि होने पर व्यंग्य अर्थ से रहित एवं प्रयोजनवती होने पर व्यंग्य अर्थ से युक्त होती है। यह व्यंग्य दो प्रकार का होता है—

"व्यंग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने।"

तच्च गूढमगूढं वा।[20]

विश्वनाथ ने भी इसी का अनुमोदन किया है।

अगूढ व्यंग्या

इसका उदाहरण काव्य प्रकाश से प्रस्तुत किया जा रहा है—

श्री परिचयाज्जडा अपिभवन्त्यभिज्ञाविदग्ध चरितानाम्।

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि।

प्रस्तुत पद्य में शिक्षा देना चेतन का गुण है, यहां इसे यौवन से प्रदर्शित किया गया है। यौवन मद में उसका होना सम्भव नहीं। इसका अर्थ होगा—'प्रकट होना' अर्थात् यौवन के आगमन से बिना किसी प्रयास के नायिका को रति क्रीडा का ज्ञान प्राप्त होता है यहां व्यंग्य अगूढ अर्थात् स्पष्ट है और यह सर्वजन संवेद्य है। अतः यह अगूढ व्यंग्या लक्षणा का उदाहरण हुआ।

लक्षणा मूला व्यञ्जना

आचार्य मम्मट का कथन है कि प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना के द्वारा ही होती है। अभिधा और लक्षणा के द्वारा प्रयोजन का बोध नहीं होता। लक्षणा का आधार भूत प्रयोजन व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही प्रतीत होता है।

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया
नाभिधा समयाभावाद् हेत्वभावान्न लक्षणा।[21]

जहां शैत्य पावनत्व आदि प्रयोजन की प्रतीति को उत्पन्न करने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है। इस फल की प्रतीति में, जो कि एक मात्र लाक्षणिक शब्द का ही विषय है, व्यञ्जना के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार नहीं। समय अर्थात् संकेत न होने कारण अभिधा नामक शब्द व्यापार समर्थ नहीं है।

यहाँ आचार्य मम्मट का तात्पर्य यह है कि प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना शक्ति से ही होती है,अभिधा शक्ति से प्रयोजन की प्रतीति नहीं होती। अभिधा के द्वारा मुख्य अर्थ का बोध शब्द में संकेत के कारण होता है अर्थात् अभिधा शक्ति से

उसी अर्थ का बोध होता है, जिस शब्द में संकेत होता है। लक्षणा शक्ति के द्वारा लक्ष्यार्थ का ही ज्ञान होता है और प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना से होती है। व्यंजना के अतिरिक्त कोई भी व्यापार प्रयोजन का बोध कराने में असमर्थ है। जैसे—'गंगायां घोषः' पद में गंगायां का अर्थ है गंगा का प्रवाह। गंगा की धारा में घोष का होना सम्भव नहीं अतः यहाँ मुख्यार्थ बाधित होता है। इसलिए सामीप्य सम्बन्ध के द्वारा गंगा का तट अर्थ करना होगा। यह गंगा शब्द का लाक्षणिक अर्थ हुआ। वक्ता ने गंगा तटे घोषः न कह कर जो गंगायां घोषः कहा है तो इस कथन में वक्ता का कोई प्रयोजन अवश्य रहा होगा। यहाँ घोष की शीतलता एवं पवित्रता का प्रतिपादन ही वक्ता का प्रयोजन प्रतीत होता है। इस प्रकार यह प्रयोजनीय अर्थ व्यंजना-व्यापार के द्वारा ही ज्ञात होता है।

यहाँ गंगा का प्रवाह अर्थ का ज्ञान अभिधा से, गंगा तट का ज्ञान लक्षणा से तथा शीतलता एवं पावनता का बोध व्यंजना शक्ति के द्वारा होता है। मम्मट का कथन है कि पवित्रता आदि अर्थ का बोध केवल व्यंजना के द्वारा ही हो सकता है। इसके अनन्तर मम्मट ने इस प्रकार कथन किया कि 'गंगायां घोषः' में तट रूप लक्ष्यार्थ मुख्य अर्थ नहीं है और न उसका यहाँ बाध होता है, और न उसका शैत्य पावनत्व आदि फल से कोई सम्बन्ध है और न इसमें कोई प्रयोजन है। न ही प्रयोजन के विषय में लाक्षणिक शब्द स्खलद् गति है। इस प्रकार भी अनवस्था दोष आ जायेगा, जो मूल का ही नाश करने वाला है।[25] इसलिये यह कहा जा सकता है कि यहाँ पावनत्व आदि प्रयोजन लक्षणा से प्रतीत न होकर व्यंजना से होता है। इसलिए लक्षणा व्यापार के अक्षम होने पर अन्य व्यापार अर्थात् व्यंजना की कल्पना आवश्यक हो जाती है।

लक्षणावादी इस विचार का विरोध करते हुए विशिष्ट लक्षणा की कल्पना करते हैं। उनके अनुसार लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन का बोध विशिष्ट लक्षणा के द्वारा होता है। गंगायां घोषः इस वाक्य में गंगा शब्द का अर्थ केवल गंगा तट न होकर शैत्य पावनत्वादि विशिष्ट तट हो जाता है। अर्थात् गंगातट अर्थ के साथ ही शैत्यपावनत्व आदि से युक्त तट का बोध हो जाता है। जब लक्षणा ही शैत्य पावनत्व आदि से विशिष्ट तट का बोध करा देती है तो फिर अन्य व्यापार की कल्पना करना व्यर्थ है।

आचार्य मम्मट ने विशिष्ट लक्षणा वादियों के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि ज्ञान के विषय और ज्ञान के फल भिन्न-भिन्न होते हैं, दोनों को एक साथ नहीं मिलाया जा सकता है।[26] यहाँ तट लक्षणा जन्य ज्ञान का विषय है और फल है शीतल एवं पावनत्व की प्रतीति। अतः दोनों परस्पर भिन्न है।

उनकी दृष्टि में विषय एवं फल में कार्य कारण भाव सम्बन्ध होता है। ज्ञान का विषय तो ज्ञान का कारण है एवं ज्ञान का फल उसका कार्य है। अतः दोनों की उत्पत्ति एक साथ नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त की पुष्टि में मम्मट ने न्याय एवं मीमांसा दर्शन की प्रक्रिया को प्रस्तुत किया है।

अतः यहाँ विशिष्ट लक्षणा का सिद्धान्त मान्य नहीं है। तात्पर्या वृत्ति का विवेचन भी अभिधा शक्ति से सम्बद्ध है।

तात्पर्या वृत्ति

अभिधा के प्रसंग में यहाँ तात्पर्यावृत्ति की चर्चा कर देना असंगत नहीं होगा। वह वृत्ति भी एक अभिधा वृत्ति का ही रूपान्तर है। अभिधा शक्ति से व्यक्त शब्द का ही साक्षात् संकेतित अर्थ द्योतित होता है। वाक्य का अर्थ–विधान उससे सम्भव नहीं। अतः कतिपय आचार्यों ने वाक्य के अर्थ–विधान के लिए तात्पर्या वृत्ति की कल्पना की। अभिधा के द्वारा अर्थों को एक सूत्र में अन्वित कर उससे जिस एक विशेष वपुरूप अर्थ का बोध कराया जाता है, उसकी बोधिका शक्ति को तात्पर्या शक्ति कहा गया है। तात्पर्या शक्ति से वाक्य के अर्थ–बोध की प्रक्रिया के सम्बन्ध में मतभेद है। इस सम्बन्ध में दो मत विशेषतः उल्लेखनीय है—

(1) अन्विताभिधानवाद
(2) अभिहितान्वयवाद

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर भट्ट का कथन है कि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण अन्वित पदों में वाक्यार्थ होता है। संक्षेप में अन्वित पद ही तात्पर्या वृत्ति द्वारा वाक्यार्थ के विधायक है। दूसरा मत है कुमारिल भट्ट का 'अभिहितान्वयवाद'। उनके मतानुसार पहले पद पदार्थों की प्रतीति कराते हैं। उसके अनन्तर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त होकर तात्पर्या वृत्ति से पदार्थों के संसर्ग रूप वाक्यार्थ का बोध होता है। इनकी दृष्टि में तात्पर्या शक्ति का प्रमुख प्रतिपाद्य पदार्थ संसर्ग रूप वाक्यार्थ ही है। दोनों में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं। अभिहितान्वयवाद में अन्वित अर्थ वाच्य रहता है। तथा अन्विताभिधानवाद में पदार्थान्वित अर्थ तात्पर्य रूप में ग्रहण किया जाता है।

वाक्यार्थ प्रतीति की प्रक्रिया को प्रगट करने वाले उपरि निर्दिष्ट दोनों मतों के अतिरिक्त तीन मत और भी हैं। इनमें एक वैयाकरणों का दूसरा मीमांसकों का और तीसरा प्राचीन नैयायिकों का है 'वैयाकरणों का कथन है कि वाक्य का अखण्डत्व ही वाक्यार्थ का कारण है। वाक्य के पद, वर्ण आदि को

वे अभिधाजन्य ही मानते हैं। दूसरे मतानुसार वाक्यार्थ का बोध अन्तिम वर्ण के ज्ञान से होता है। इस अन्तिम वर्ण का ज्ञान पूर्व पदों के अर्थ–ज्ञान के संस्कार से युक्त रहता है तीसरे मतानुयायियों की धारणा है कि वाक्यार्थ बोध का निमित्त वह वर्णमाला है, जिसकी प्रतिच्छाया दृश्य–जगत् के विभिन्न पदार्थों की अनुभूतियों के साथ मानव के स्मृतिपटल पर अंकित होती है।

इसी प्रसंग में अभिहितान्वयावदी मत के पोषक भट्ट लोल्लट ने 'दीर्घतरोभिधा व्यापार' वाला मत सामने रखा है। उन्होंने कहा है—

"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।

सोऽयमिषोरिव दीर्घ दीर्घतरोऽभिधा व्यापारः।"

उनकी दृष्टि में अभिधा व्यापार की कोई सीमा नहीं है कि वह केवल अर्थ प्रस्तुत करे। जहाँ तक तात्पर्य का पूर्ण बोध नहीं होता अभिधा से क्रिया-जहां तक चलती है, यह दीर्घ से दीर्घतर अर्थ–बोध का व्यापार है। अतः अभिधा से अतिरिक्त और किसी भी नये व्यापार के मानने की आवश्यकता नहीं।

कादम्बरी में लक्षणा के अनेक स्थल दृष्टिगोचर होते हैं। कपिंजल द्वारा किये हुए करुणार्त विलाप को महाश्वेता ने स्वर सुनकर पहचान लिया— "अथ निशीथ प्रभावात् दूरादेव विभाव्यमानस्वरमुन्मुक्तार्तनादम्-" हा हतोऽस्मि, हा दग्धोऽस्मि, हा वंचितोऽस्मि, हा किमिदमापतितम्, किं वृत्तम्, उत्सन्नोऽस्मि।......... ...उत्तिष्ठ देहि मे प्रतिवचनम्, क्व तन्ममोपरि सुहृत्प्रम, क्व सा स्मितपूर्वाभिभाषिता च इत्येतानि चान्यानि च विलपन्तं कपिंजलमश्रौषम्"।

प्रस्तुत वाक्य में 'अश्रौषम्' शब्द का 'निजपरिचयादनुमानेन अज्ञासिषम्' अर्थ किया गया है। यहाँ श्रवणार्थक 'श्रु' धातु का अनुमान से जान लिया अर्थ कैसे हुआ? नैयायिक 'श्रु' धातु के इस अर्थ बोध में ही शक्ति को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः 'श्रु' धातु से परिचित स्वर से कहा गया 'हा हतोस्मि' यह पद कपिंजल विषयक बोध कारक है अर्थात् उक्त शाब्द बोध में लक्षणा वृति मानी जाती है। सार यह हुआ कि लक्षणा शक्ति से 'अश्रौषम्' शब्द से यह कपिंजल का विलाप है यह अनुमान से जान लिया गया।

चन्द्रापीड़ को देखकर उसके सौन्दर्य से मुग्ध कादम्बरी के भावावेश के वर्णन में लक्षणा दृष्टिगोचर होती है –

"त्वरितमभिप्रस्थितस्य धूलिरिव स्मितज्योत्स्ना विससार"।[28]

अर्थात् कादम्बरी का हृदय चन्द्रापीड़ के प्रति शीघ्रता से आगे दौड़

गया अतएव उसके हृदय में चरण धूलि के समान अमृत तुल्य शुभ्रवर्ण ईषद् हास्य की प्रभा फैल गयी ।

यहाँ स्मित ज्योत्स्ना नहीं हो सकता क्योंकि दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं अतः वाक्य में मुख्य अर्थ का बाध हुआ । किन्तु गौणी लक्षणा के द्वारा स्मित एवं ज्योत्स्ना के गुणों पर विचार कर स्मित को ज्योत्स्ना कहा गया है स्मित के गुण आह्लादकता, सुन्दरता आदि ज्योत्स्ना में भी विद्यमान हैं अतः समान गुण के कारण स्मित ज्योत्स्ना के समान है—ऐसा अर्थ ग्रहण किया गया । यहाँ लाक्षणिक अर्थ का बोध सादृश्य सम्बन्ध से हुआ अतः यहाँ गौणी लक्षणा का स्थल है । साथ ही विससार क्रिया का 'कृतवती' अर्थात् मन्दहास्य किया यह अर्थ भी वाच्य अर्थ नहीं है । इसका तो विस्तार किया, यह अर्थ हुआ । अतः लक्षणा शक्ति के द्वारा यहाँ यह अर्थबोध हुआ ।

चद्रापीड़ को कादम्बरी के द्वारा दिये गये हार के वर्णनप्रसंग में लक्षणा शक्ति से अर्थ-बोध होता है—'न चापि कादम्बरीमाकारानुकृतिकलया-प्यल्पीयस्या लक्ष्मीरनुगन्तुमलम्' ।[29]

अर्थात् अनुकरण में कादम्बरी की समता लक्ष्मी अल्पमात्र भी नहीं कर सकती ।

प्रस्तुत वाक्य में "लक्ष्मी कादम्बरी का अनुगमन नहीं कर सकती" का शाब्द बोध लक्षणा से यह होगा कि कादम्बरी लक्ष्मी से सौन्दर्य में अधिक श्रेष्ठ है । अनुगमन करने से अभिधेय अर्थ अनुसरण करना होता है । परन्तु यहाँ "समता नहीं कर सकती"-अर्थ लक्षणा से होता है ।

लक्षणा का प्रयोग सूक्तियों में विशेष रूप से देखा गया है । सूक्तियों की भाषा लाक्षणिक होती है । इसके अतिरिक्त भाषा की लक्षणा शक्ति का अलंकारों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । प्रयोजनवती गौणी लक्षणा का सादृश्य मूलक अलंकारों उपमा आदि से निकट सम्बन्ध रहता है । इसके द्वारा उपमेय और उपमान में गुण, क्रिया आदि के साम्य से सामंजस्य स्थापित होता है । अतः उपमाओं पर उपमाओं का प्रयोग करने वाले कविश्रेष्ठ बाण भट्ट की भाषा में लक्षणा शक्ति का प्राचुर्य होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार 'दह्यमाना-कोपेन' प्रयोग में भी लक्षणा शक्ति का चमत्कार स्वीकार किया जायगा । क्योंकि इसमें मुख्यार्थ की बाधा अथवा व्याघात है ।

अभिधा और लक्षणा दोनों शक्तियों का उत्कर्ष जब भाषा की व्यंजना शक्ति में सहयोग प्रदान करता है तब कवि की कवित्व शक्ति पराकाष्ठा पर पहुँचने का प्रयास करती है । इसीलिए ध्वनिकाव्य को उत्तम काव्य माना गया

है। वस्तुतः व्यञ्जना ही काव्य को वाङ्मय की अन्य शाखाओं से पृथक् करती है। शास्त्र आदि की भाषा में केवल अभिधा शक्ति आवश्यक होती है। लक्षणा और व्यञ्जना का प्रयोग न केवल उनके लिए अनावश्यक होता है प्रत्युत उनका अधिक प्रयोग उनकी शैली को विफल भी कर देता है। काव्य में कवि को अभिधा और लक्षणा के सहारे व्यञ्जना तक पहुँचना अनिवार्य होता है तभी वह भावोद्बोधन और रसोद्बोधन करने में समर्थ होता है। कादम्बरी में व्यञ्जना के प्रयोग का विवेचन ध्वनि के साथ किया जायगा। कादम्बरी में इन शक्तियों का व्यापक प्रसार है अतः प्रत्येक दृष्टि से यह उत्कृष्ट काव्य है।

भावावेश के अवसर पर भाषा में प्रौढता आ जाना स्वाभाविक है। भाषा भावों को वहन करने मे असमर्थ सी प्रतीत होती है। महाकवि बाण की भाषा में भावों की गहनता होते हुए भी भाषा अटपटी नहीं हुई है। भाषा की इन तीन शक्तियों के अतिरिक्त तीनों गुणों, रीतियों और वृत्तियों का भी पूरा सम्भार इस महाकवि की वृत्तियों में दृष्टिगोचर होता है परन्तु वह सहज एवं स्वाभाविक है।

अन्त में महा कवि के भाषा पाण्डित्य के विषय में भी कुछ विवेचन प्रस्तुत करना अनावश्यक नहीं। कादम्बरी भाषा का पूरा शब्द कोष है। उसमें प्रयुक्त शब्दावली में भाषा का सर्वाङ्गपूर्ण शब्दकोश निहित है। वह शब्दों की एक चित्र शाला है। परवर्ती साहित्य के लिए वह भाषा की कसौटी कही जा सकती है, जहाँ से शब्दों का चयन कर, उनकी परीक्षा कर कवियों ने अपने अपने काव्यों को संवारा, सजोया और शोभान्वित किया है। विविध भावनाओं की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त जीवन एवं जगत् के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित प्रचुर शब्दावली का संग्रह कादम्बरी में किया गया है। साथ ही गद्यों की विविधता, वर्णनों की विशदता एवं विभिन्नता, विषयों की बहुलता कादम्बरी के रचयिता की प्रशस्ति का डिण्डिम घोष करते हैं। विशेषणों का प्रयोग करते हुए कवि ने उनकी परम्परा उपस्थित करदी है। प्रचलित एवं अप्रचलित कोई शब्द अथवा पर्यायवाची शब्द नहीं छोड़ा गया। क्लिष्ट एवं दुरूह शब्दों का प्रयोग, विपुलकाय समासों की संघटना, विकट गाढ बन्ध–रचना, तथा समास भूयस्त्व महाकवि के अनुपम शब्द भण्डार एवं व्याकरणाधिकार के द्योतक है। इस परम प्रावीण्य एवं उद्भट वैदुष्य के बिना यह सर्वथा सम्भव नहीं। यह महाकवि भाषा शास्त्री एवं भाषा शिल्पी हैं। अनेक दृष्टियों से उन्होंने शब्द विधान किया है। सहजता, सरलता, काव्यमयता एवं भाव व्यञ्जकता उनकी भाषा के प्रधान गुण हैं। उनकी अनुपम शैली का सौन्दर्य उसकी ऋजुता उसकी सुबोधता, उसकी चारुता, प्रवाहमयता, रमणीयता, लालित्य और उसके

प्रवाह में हैं। इन गुणों का कादम्बरी में चरमोत्कर्ष प्राप्त होता है। उनकी शैली की उत्कृष्टता एवं अनुपमता उनकी रचनाओं में अपूर्व लावण्य का आधान करती है।

कादम्बरी की शैली

काव्य मानव की जीवन लीला का सबसे बड़ा आधार प्रस्तुत करता है। वह उसके अभिनय के बाह्य–जगत् और भावलोक दोनों की रंगशाला है। वह अपने विस्तार में मानव जीवन की व्यापक पार्श्वभूमि है। मानव जीवन एवं उसकी भावनाएं काव्य से किस प्रकार सम्बन्धित हैं और इस सम्बन्ध में वे किस प्रकार अभिव्यक्त होती है, यह है यहाँ प्रमुख विवेच्य विषय। आशय यह है कि काव्य में मानव जीवन के भिन्न-भिन्न रूपों का चित्रण किस प्रकार किया जाता है और वह किन माध्यमों से अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करता है। काव्य का माध्यम शब्द है। शब्द अपनी विभिन्न शक्तियों से काव्य में वर्णित रूप और भाव दोनों की व्यञ्जना करता है। शब्दों में जो ध्वनि के साथ प्रत्यक्ष बोध का मानसिक चित्र सन्निहित रहता है उसी के आधार पर यह योजना सम्भव हो सकती है।

इस प्रकार काव्य में मानव जीवन एवं भावनाओं को गोचर एवं भावगम्य करने की विभिन्न रीतियों को शैली की संज्ञा दी जा सकती है। इन रीतियों में शब्दों की विभिन्न शक्तियों, भाषा की अभिव्यञ्जना शक्ति और आलङ्कारिक प्रयोगों के द्वारा काव्यगत वर्णनों को पाठक के मानस में रूप एवं भाव ग्रहण के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इन शैलियों का प्रयोग संस्कृत काव्यों में इस प्रकार हुआ है कि उसके अध्ययन से एक विकास का क्रम सा उपस्थित हो जाता है। प्रारम्भिक काव्यों में शैली में सहज स्वाभाविकता है, मध्यकाल में कलात्मक सौन्दर्यमयी शैली का उपयोग हुआ है तथा परवर्ती काव्यों में क्रमशः शैली आलङ्कारिक तथा ऊहात्मक अधिक हो गयी है। काव्यों की परम्परा में रूढिवादिता की अभिवृद्धि के साथ शैली भी वैचित्र्य की रूढि में आबद्ध होकर अधिक कृत्रिम हो गयी।

इस प्रकार काव्य में विशेषत: गद्य-साहित्य में वर्णनात्मक, चित्रात्मक एवं वैचित्र्य इन तीन शैलियों के द्वारा वर्ण्य–विषय की अभिव्यक्ति की जाती रही है।

वर्णनात्मक

मानव जीवन के विभिन्न तत्त्वों, तथ्यों एवं काव्यों का अंकन वर्णन के द्वारा किया जा सकता है। पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि काव्य में

प्रयुक्त शब्द अपनी ध्वनि के साथ दुरूह एवं भाव चित्रों की व्यञ्जना करता है भाषा के शब्दों में ध्वनि के साथ एक भाव चित्र होता है जो विशिष्ट वस्तु-स्थिति अथवा क्रिया स्थिति का इन्द्रिय प्रत्यक्ष कराता है। साधारण जीवन व्यापार में मानव अपने विचारों में शब्द के प्रासंगिक अर्थ से काम चलाता है परन्तु काव्यगत वर्णन प्रत्यक्षीकरण का विषय है। कवि इसके लिए शब्दों की योजना में वस्तु और क्रिया के रूप एवं भाव-चित्रों के याथातथ्य का अंकन करता है।

वर्णना के अन्तर्गत प्रथम शैली वह है, जिसमें वर्णनीय विषय अपनी वस्तु एवं क्रियाओं की स्थितियों की रेखाओं से चित्रित किया जाता है ऐसे चित्रों में दृश्यात्मक पूर्णता नहीं प्रत्युत उसका आभास काव्य मे प्राप्त होता है। जीवन के जिस रूप को कवि प्रत्यक्ष करता है, उसको विशिष्ट देश काल में या तो आबद्ध ही नहीं करता और या केवल सामान्य विशेषता की रेखाएँ दे पाता है।

इन रेखा चित्रों की शैली से मिलती जुलती वर्णना की दूसरी शैली संश्लिष्ट योजना की है। दृश्य की स्थितियों का विस्तार दोनों में होता है, केवल प्रस्तुत करने के प्रकार में अन्तर है। एक में व्यापक चयन के आधार पर चित्र की रेखाओं को विकसित किया जाता है और दूसरी शैली में स्थितियों की सूक्ष्म संश्लिष्ट योजना से चित्र अपनी पूर्णता एवं विशिष्टता के साथ गोचर हो जाता है। वर्णना शैली के इन दो रूपों के आधार पर अन्य शैलियाँ भी प्रयुक्त होती हैं। चाहे शैली की दृष्टि से आलंकारिक चित्रमयता हो या रूढ़ि-वादिता, चाहे भावात्मक आरोप हो या व्यञ्जना वर्णन के इन दो सामान्य और विशेष रूपों का आधार सदा रहता है।

कथानक के प्रवाह में जब प्रसंग के अनुसार कवि देश–काल की पार्श्वभूमि उपस्थित करना चाहता है और साथ ही अपनी वर्णना में रमता नहीं उस समय वह केवल रेखा चित्रों मे चित्रण करता है। विविध वस्तुओं का उल्लेख वह व्यापक विशेषताओं के चयन से जब करता है तो इन वर्णनों से पाठक के मन पर किसी देश की निश्चित रूपमयता का चित्र अंकित नहीं होता, केवल रूप झलक भर जाता है। प्राचीन काव्यों के कथा विस्तार में इस प्रकार के रेखाचित्रों को अधिक अवसर मिला है। परवर्ती काव्यों मे कथा का ऐसा विस्तार नहीं है और उनमें कथा वस्तु के विकास का इतना आग्रह नहीं। उनमें सौन्दर्य के दृष्टि कोण से वर्णन विस्तार को पर्याप्त अवसर मिला है और कलात्मकता के फलस्वरूप वर्णनों को चित्रमय बनाने का प्रयास किया गया है।

प्रथम शैली एवं संश्लिष्ट योजना में अधिक अन्तर नहीं हैं। वस्तु अथवा क्रिया की विभिन्न स्थितियों की योजना समान है केवल दोनों में विस्तार और चयन का अन्तर है। रेखा चित्र की शैली में दृश्य के प्रमुख उपकरणों के चयन द्वारा व्यापक आभास दिया जाता है अथवा वातावरण प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु संश्लिष्ट योजना में चित्र को पूर्ण एवं प्रत्यक्ष बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है।

गद्य-काव्यों में इस शैली को विशेष अवसर मिल सकता था, परन्तु बाण भट्ट की शैली में सरल संश्लिष्टता के लिए स्थान नहीं है। उनके चित्रों में व्यापक विस्तार है और स्थितियों की योजना भी सघन है पर अलंकृत सौन्दर्य एवं वैचित्र्य की प्रवृत्ति उनमें विशेष है। इन वर्णनों के मध्य में स्वाभाविक वर्णन का विस्तार बिखरा मिलता है। अगस्त्य के आश्रम के निकट पम्पा नामक सरोवर के वर्णन में यह शैली दृष्टिगत होती है –

उत्फुल्ल कुमुद कुवलय कह्लारम्, उन्निद्रारविन्दमधु–बिन्दु निष्यन्द वद्ध चन्द्रकम् अलिकुल पटलान्धकारित सौगन्धिकम्, सारसित समद सारसम्, अम्बुरुहमधुपानमत्तकल हंस कामिनी कृत कोलाहलम्, अनेक जलचर पतंग शत सञ्चलन चलित वाचाल वीचिमालम् अनिलोल्लासित कल्लोल शिखर सीकरारब्ध दुर्दिनम्।"[27]

अर्थात् उसमें कुमुद, कुवलय और कह्लार के पुष्प खिले हुए थे, प्रफुल्लित कमलों से टपकती हुई मधु-बिन्दुओं से उसके जल पर चन्द्राकार बन रहे थे, भ्रमर समूह के बैठने से उसके श्वेत कमलों पर अन्धकार व्याप्त हो रहा था, मदोन्मत्त सारस मधुर कूजन करते थे, कमल का मधु पीने से मत्त कलहंस कामिनी कोलाहल कर रही थी, अनेक प्रकार के जलचर पक्षियों के बार-बार संचरण करने से चंचल तरंग मालाएँ निनाद कर रही थी, पवन से नृत्य करती तरंगों के ऊपर बिन्दुओं के उडने से वर्षा ऋतु सी आरम्भ हो गयी थी।

यह चित्र अपनी स्वाभाविकता में पूर्ण संश्लिष्ट है अर्थात् इसमें वस्तु एवं क्रिया की विभिन्न स्थितियों का सूक्ष्म विवरण उपस्थित किया गया है।

चित्रात्मक शैली

अभी तक शैली के जिन रूपों की चर्चा हुई है, उनमें प्रस्तुत विषय का विषम स्थितियों की योजना द्वारा चित्रांकन किया गया है। काव्यों के कुछ ऐसे वर्णनों में प्रस्तुत से अप्रस्तुत वस्तु या भाव अथवा अलंकार की भी व्यंजना की गयी है। इन काव्यों में स्वभावोक्ति को स्थान कम मिला है और अलंकारों के

प्रयोग के साथ इन वर्णनों में अप्रस्तुत विधान अधिक प्रधान हो गया है। अप्रस्तुत विधान का मौलिक आधार काव्यात्मक सौन्दर्य की उद्भावना है। वर्ण्य वस्तु की वर्णना को अधिक चित्रमय बनाने के लिए प्रस्तुत को अप्रस्तुत के द्वारा अधिक ग्राही और व्यञ्जक बनाया जाता है। प्रस्तुत वर्ण्य विषय पाठक को कल्पना का आधार उपस्थित करता है और इस कल्पना को पूर्ण विकसित एवं उद्भासित करने के लिये कवि अप्रस्तुत सामग्री की योजना करता है। उपमानों की विभिन्न रूप-स्थितियाँ पाठक की कल्पना में भाव-संयोग द्वारा वर्ण्य उपमेय को अधिक बोधगम्य और प्रत्यक्ष कराती है। इस चित्रात्मक शैली में अप्रस्तुतों की उसी सीमा तक योजना होती है जब तक वे वर्ण्य दृश्य के समानान्तर चित्रों को उपमान रूप में प्रस्तुत करें। कवि उपमानों को जगत् से ग्रहण करता है परन्तु अपनी कल्पना से भी उनकी योजना करने के लिए स्वतन्त्र है। जहाँ तक कवि की प्रौढोक्ति वर्ण्य विषय को रम्य बनाने में सहायक होती है, वह इसी शैली के अन्तर्गत आती है। वस्तुओं के वर्णन के साथ अलंकारों में भावात्मक व्यंजना भी समाविष्ट की जाती है। इस प्रकार इस शैली के अन्तर्गत स्वतः सम्भावी एवं प्रौढोक्ति सम्भव कल्पना के साथ भावात्मक व्यञ्जना आ जाती है।

वर्णना के क्षेत्र में काव्य सौन्दर्य के लिए अप्रस्तुत योजना स्वतः सम्भावी कल्पना के आधार पर सर्व श्रेष्ठ होती है। वर्णना में स्वाभाविक चित्रमयता शैली के इसी रूप में आती है। कवि की प्रतिभा एक चित्र को दूसरे समान चित्र से प्रत्यक्ष करने में अधिक मुक्त होती है। इसी से प्रकट होता है कि कवि की वर्ण्य-विषय में कितनी अन्तर्दृष्टि है।

सौन्दर्य बोध की यह प्रवृत्ति महाकवि बाण में दृष्टिगोचर होती है। महाकवि ने स्थान-स्थान पर अपने विस्तृत संश्लिष्ट वर्णनों में चित्र को अधिक मधुर बनाने के लिए इस प्रकार के प्रयोग किये हैं। प्रवाह में एक सूत्रता एवं क्रमिकता के आधिक्य के साथ ही साथ गद्य काव्य अपने कलात्मक काव्य सौन्दर्य के चित्रण में अधिक सतर्क है। बाण वास्तव में गद्य-काव्य के क्षेत्र में प्रमुख है। इनकी शैली में संश्लिष्टात्मक वर्णना से लेकर ऊहात्मक वैचित्र्य तक का संयोग मिलता है। परन्तु अपनी व्यापक प्रवृति में वे चित्रमय योजना के कलाकार है। उनके वैचित्र्य प्रधान अलंकृत वर्णन सघन वातावरण के साथ दृश्य को चित्रमय बनाते हैं। घटना हो, पात्र हो, चरित्र हो अथवा प्रकृति हो, बाण भट्ट उनकी अवतारणा में अद्वितीय है। वर्णन की योजना वे इस प्रकार करते हैं कि जिससे समस्त वस्तु या स्थिति क्रमशः समक्ष उपस्थित होकर प्रत्यक्ष हो जाती है। अपने समग्र वर्णनों में व्यापक आधार-भूमि से चल कर क्रमशः

बाण घटना स्थिति को प्रत्यक्ष करते हैं।

कथा वस्तु में देश काल का आधार प्रस्तुत करने में बाण अद्वितीय हैं। कादम्बरी में विन्ध्याचल की अटवी में दण्डकारण्य स्थित अगस्त्य के आश्रम के समीप के पम्पासर के पश्चिम तट पर पुराने ताल वृक्षों के कुंज के पास एक बड़े जीर्ण से शाल्मली वृक्ष पर तो-तो की स्थिति का वर्णन करने के लिए कवि वर्णना की देश गत विशाल योजना करता है तथा घटना की स्थिति को अधिक प्रत्यक्ष करने के लिए सूर्योदय का काल गत चित्र भी उपस्थित करता है। कवि जावालि के आश्रम की घटना के पूर्व उसका वर्णन करता है और सन्ध्या के दृश्य को उपस्थित कर घटना स्थिति को अधिक साकार कर देता है। कुमार चन्द्रापीड मृगया से थक कर क्रमशः किस प्रकार सरोवर का अनुमान लगाते हुए अच्छोद सरोवर पर पहुँचते हैं और सरोवर के दक्षिण तट पर संगीत की ध्वनि का अनुसरण करते हुए शिव सिद्धायतन में आते है। इस समस्त घटना का आधार व्यापक प्रदेश की वर्णना है।

प्रौढोक्ति सम्भव कल्पनाओं में वस्तु-स्थिति के सम्बन्ध में अथवा कारणों के सम्बन्ध में उत्प्रेक्षा का अधिक प्रयोग होता है। प्रचलित चित्र में प्रस्तुत वर्ण्य को प्रस्तुत करने में नवीन संयोगों की कल्पनाएँ अधिक कलात्मक होती है। परन्तु इनमें सौन्दर्य से वैचित्र्य की ओर बढने का भय रहता है।

धीरे-धीरे परवर्ती कवियों में उक्ति वैचित्र्य तथा ऊहात्मकता कल्पना का स्थान ग्रहण करती प्रतीत होती है। उन कवियों में व्यंजना का वह सौन्दर्य उपलब्ध नहीं होता। आरोप की स्थूलता और वैचित्र्य की प्रवृति भाव की सहज अभिव्यक्ति में यदा-कदा बाधक हुई है।

वैचित्र्य शैली

वैचित्र्य के कलात्मक अर्थ में इस शैली का प्रयोग प्रारम्भ से किया गया है। भारतीय सौन्दर्य बोध सादृश्य की आदर्श कल्पना पर आधारित है। प्रारम्भिक कवियों के समक्ष इस आदर्श का रूप स्पष्ट था और उन्होंने अपनी कल्पना के सादृश्य रूप आधार को नहीं छोड़ा है। उस समय वैचित्र्य का अर्थ आदर्श कल्पना थी, जो सादृश्य के सौन्दर्य के सहारे अग्रसर होती थी। परन्तु क्रमशः कवियों ने सादृश्य के आधार का परित्याग कर दिया और उससे सौन्दर्य बोध का आश्रय भी भंग हो गया। अब वैचित्र्य का अर्थ ऊहात्मक कल्पना एवं उक्ति का चमत्कार लिया जाने लगा।

कादम्बरी में वैचित्र्य शैली

अपने लम्बे संश्लिष्ट वर्णनों का बाण ने अवश्य व्यापक रूप में शैली

के इस रूप को अपनाया है। बाण की वर्णना में चित्रांकन की विभिन्न शैलियों का एक साथ सामंजस्य हो गया है। गद्य-काव्य में वर्णना का प्रवाह ऐसा अविच्छिन्न रहता है कि उसमें विभिन्न शैलियों के चित्र पृथक् रूप से सामने नहीं आते। बाण की रचना संश्लिष्ट योजना के विस्तार में उपस्थित होती है। उनके चित्रों में वर्णनीय वस्तु का रूप वैचित्र्य सौन्दर्य कल्पनाओं के साथ प्रत्यक्ष हो उठता है। अलंकार वादी होने के कारण बाण में उक्ति-वैचित्र्य का आग्रह है पर उनके अधिकांश चित्रणों में यह प्रवृत्ति सामने आकर भी सौन्दर्य बोध के साथ मिलकर एकाकार हो जाती है।

बाण के प्रभात वर्णन में वैचित्र्य की छटा द्रष्टव्य है-

"एकदा तु प्रभात सन्ध्यारागलोहिते गगनतले, कमलिनी मधुरक्त पक्ष पुटे वृद्ध हंस इव मन्दाकिनी पुलिनादपर जलनिधि तटमवतरति चन्द्रमसि, परिणत रकुरोम पाण्डुनि ब्रजति विशालतामाशाचक्रवाले, गजरुधिर रक्त हरिसटा लोम लोहिनीभिः प्रतप्त लाक्षिकतन्तु पाटलाभिरायामिनीभिरशिशिर किरण दीधितिभिः, पद्मराग शलाका संमार्जनीभिरिव समुत्सार्यमाणे गगन-कुट्टिम-कुसुम-प्रकरे तारागणे।"[28]

अर्थात् एक दिन प्रभात सन्ध्या के वर्ण से लाल हुआ चन्द्रमा आकाश रूपी कमलिनी के रस से लाल पंखो वाले वृद्ध हंस के समान मन्दाकिनी के किनारे से पश्चिमीय समुद्र के तट पर उतरा। वृद्ध रंकु मृग के रोम के समान श्वेत दिङ् मण्डल विशाल होता जा रहा था, हाथियों के रुधिर से लाल हुए सिंह के अयाल के समान और लाख के तार के समान लाल सूर्य की लम्बी किरणें आकाश से तारों को दूर कर रही थी मानों पद्मराग मणि की झाडुएं भूमितल पर बिखरे हुए फूलों को झाड कर फैंक रही हों। इसी प्रकार प्रभात का चित्र आगे चलता जाता है और महाकवि बाण स्थितियों, वस्तुओं और क्रियाओं के सुन्दर वैचित्र्य का मनोरम वातावरण निर्माण करते हैं।

वैचित्र्य जब सौन्दर्य के स्तर से हट जाता है, तब उसमें चमत्कार मात्र रह जाता है और जब वह प्रत्यक्ष आधार को छोड़कर केवल कथन की शैली पर आधारित रहता है तब उसमें ऊहात्मक ऊक्ति वैचित्र्य समाहित होता है। चमत्कृत एवं ऊहात्मक शैली के रूपों में यही भेद है कि चमत्कृत योजना में दृश्य का कुछ इन्द्रिय प्रत्यक्ष आधार अवश्य रहता है। कल्पना कितनी ही क्लिष्ट अथवा कृत्रिम हो परन्तु ऊहात्मक शैली में कल्पना का क्षेत्र मस्तिष्क की उक्ति रह जाता है।

सार यह है कि ऊहात्मक उक्तियों के साथ काव्य सौन्दर्य के स्थान पर उक्ति का प्रकार ही प्रधान हो जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है देश हो अथवा काल बाण उसको सम्पूर्ण स्थिति के साथ ही चित्रित करते हैं। उनमें घटना को देश काल से पृथक् नहीं किया जा सकता और न शैली की दृष्टि से वर्णनात्मक, चित्रात्मक तथा ऊहात्मक आदि वर्णनों को पृथक् रूप से देखा जा सकता है। इसी प्रकार उनमें स्वाभाविक आदर्श तथा अलौकिक रूपों का संयोग भी दृष्टिपथ में आता है।

बाण वर्णन के लिए वैचित्र्य मूलक अलंकारों का प्रयोग अवश्य अधिक करते हैं परन्तु उनके वे वर्णन अपनी स्थितियों में सहज एवं स्वाभाविक हैं। अच्छोद सरोवर के वर्णन में पौराणिक कल्पनाओं का सुन्दर समावेश हुआ है—

> **"क्वचिद्वरुण हंसोपात्त कमलवन मकरन्दम्, क्वचिद्दिग्गज मज्जन जर्जरितजरन्मृणाल दण्डम्, क्वचित् त्र्यम्बक वृषभ विषाण कोटिखण्डिततरुशिला खंडम्, क्वचिद् यम महिषशृंग शिखर विक्षिप्त फेन पिण्ड्म् क्वचिदैरावत दशन मुसलखण्डित कुमुदखंडम्"** [29]

अर्थात् उस सरोवर के किसी भाग में वरुण के हंस कमल वन का मकरन्द पान कर रहे थे, किसी किसी स्थल में दिग्गजों के स्नान से पके हुए मृणाल दण्ड जर्जरित हो गये थे, किसी स्थल में शंकर के बैल के सींगों की नोक से तट की शिलाएँ टूट गयी थी। कहीं-कहीं यम के महिष ने सींग की नोक से फेन इधर उधर फैला दिया था, और कहीं-कहीं ऐरावत के दन्त रूपी मुसल से कुमुद खण्ड खण्डशः कर दिये गये थे। इसमें कल्पनामात्र से स्थिति का ऐसा वर्णन किया गया है।

बाण जिस प्रकार देश के चित्रण में प्रत्येक वस्तु एवं स्थिति का सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट विवरण कलात्मक एवं वैचित्र्य शैली में प्रस्तुत करते हैं उसी प्रकार काल की वर्णना में वे परिवर्तित परिस्थितियों एवं घटनात्मक क्रिया स्थितियों का निर्माण भी करते हैं। चित्र की एक एक रेखा उसे सजीव बनाती हुई प्रत्यक्ष होने लगती है। प्रातः, सायं, संध्या, मध्याह्न और रात्रि के सूक्ष्म वर्णों के परिवर्तनों तथा व्यापारों की योजना से बाण पूर्ण परिचित हैं। इनके चित्रण के लिए काल्पनिक अलंकृत योजना भी वे उसी प्रकार करते हैं। किसी भी कथा वस्तु की घटना को इन परिवर्तनों के मध्य प्रत्यक्ष करने में बाण की प्रतिभा अद्वितीय है।

कादम्बरी में प्रभात काल का चित्र कवि की सहज एवं संश्लिष्ट स्थितियों और कार्यों की योजना में अंकित है—

"सशेष निद्रालसैश्चिर प्रसारणा विशदजङ्घाङ्घ्रिभिर्हठाकृष्टदीर्घं पद संचारिभिर्मृगकदम्बकैरुन्मुच्यमानासूषरशय्यासु, इच्छाखण्डितोत्खातपल्वलोपान्तरूढ मुस्ताग्रन्थिस्वरण्य गह्वराभिमुखेषु वराह यूथेषु, निशावसान प्रचार निर्गतै र्गोधनैरितस्ततो धवलाय मानासु ग्राम सीमान्तारण्यस्थलीषु, आलोक्यमान जानपद विनिर्गमेषु प्रसूयमानेष्विव ग्रामेषु यथार्ककिरणावली कोद्गमं चोन्नाम्यमान इव पूर्व दिग्भागे समुत्सार्यमाणास्विवाशासु" ।[30]

जब निन्द्रा के शेष रह जाने से हरिणियों के झुण्ड बहुत देर से फैला रखने के कारण अकड़ी हुई जंघाओं और पैरों को जोरसे खींचकर लम्बे लम्बे पैर रखते हुए तृण रञ्जित भूमि पर उठ कर दौडने लगे, तालावों के किनारों पर उगे हुए नागर मोथे की गाँठों को उखाडकर स्वेच्छा से काटते हुए वराहों के झुण्ड वन की गुफाओं की ओर जाने लगे, जब रात्रि के अन्त में चरने के लिए जाने वाली गायों के झुण्डों से ग्राम की सीमा के अन्त के वनस्थल इधर-उधर सफेद दीखने लगे, बाहर आते जाते लोगों के दीखने के कारण ग्राम प्रान्त मानो नवीन उत्पन्न हुए से प्रतीत होने लगे, सूर्य की किरणों के प्रकाश के साथ साथ जब पूर्व दिग्भाग मानो ऊ चा हो गया, दिशाएं मानो आगे बड़ती गयी ।

वर्णन की इस संश्लिष्टता में दृश्य का चित्र क्रमशः समक्ष प्रसरण शील होता हुआ सा दृष्टिगोचर होता है और इसमें प्रयुक्त उत्प्रेक्षाओं से स्वाभाविक स्थिति का प्रत्यक्षीकरण ही हुआ है ।

वाण की कला के विशिष्ट तत्त्व एवं उनकी मौलिकता

कादम्बरी की शैलियों का विवेचनात्मक विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर अब बाण की कला के विशिष्ट तत्त्वों एवं उनकी मौलिकता का विवेचन करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा । बाण की कला के प्रधान तत्त्वों में उनकी कल्पना की उत्कृष्टता का विशिष्ट महत्त्व है । कल्पना का चमत्कार उनकी काव्य रचना का मूल आधार है कल्पना के आधार पर वे ऐसं भवन का निर्माण करते हैं कि सहृदय पाठक उसे देखकर आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहते ।

कादम्बरी के जिन काम विकासजनित चिन्ता के वर्णन में कवि का कल्पना चातुर्य मनोरम है ।

"तत्संगमकालातिपातासहेव मनोगमागमाय नियुक्तवती, न परिजनम्"।

अर्थात् चन्द्रापीड के समागमन में जो विलम्ब हो रहा था उसे सहन करने में मानो समर्थ न होकर ही यातायात के लिए किसी दासी के नियुक्त करने की अपेक्षा अपने मन को ही नियुक्त किया।

प्रस्तुत वाक्य में मन के सर्वाधिक शीघ्रगामी होने से गमनागमन के लिए उसी का नियुक्त किया जाना और किसी सेविका का नियुक्त न किया जाना कवि की कल्पना की अभूतपूर्वता को द्योतित करता है।

शून्याटवी के मध्य में विराजमान चंडिकायतन के पुजारी द्रविड धार्मिक की उद्भावना[32] महाकवि की अनोखी सूझ है। वृद्ध द्रविड देशवासी चण्डिका के पुजारी का जो चित्र महाकवि ने अंकित किया है वह अपनी कवि कल्पना से ही प्रसूत है तथा निरतिशय कौतूहल को उत्पन्न करने वाला है जो स्वतः ही काव्य रसिकों को अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रहता। कवि की यह मौलिक उद्भावना अत्यन्त अद्भुत है।

निष्कर्ष

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बाण भट्ट गद्य ग्रन्थ कारों में ही नहीं प्रत्युत संस्कृत साहित्य के अन्यकाव्य मनीषियों में अपूर्व स्थान पर अधिष्ठित है। बाण की रचना में अर्थ के अनुरूप ही शब्दों की योजना हुई है। जैसी सरस अर्थ योजना है उसी प्रकार सुकुमार वर्णों का विन्यास हुआ है। उनकी रचना में ललित पद विन्यास के साथ-साथ रचना शैली अति रमणीय है। नव-नव अर्थों का सुमनोहर सन्निवेश बाण की शैली की विशिष्टता है। शब्दों की समृद्धि भी अत्यधिक समुल्लसित होती है। महाकवि ने स्वयं ही श्रेष्ठ कविता की प्रशंसा की है—

कटुक्वणन्तो मलदायका खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृंखला इव ।
मनस्तुसाधु ध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ।[33]

काव्य शास्त्र के नियमों का पालन करने वाले गद्य-काव्य का विकास अकस्मात् एक कवि से ही हुआ, इसमे थोड़ा भी सन्देह नहीं। इनकी रचना में मौलिक अर्थों का निधि है, कहीं भी अर्थों का पिष्टपेषण लक्षित नहीं होता। भौगोलिक स्थलों पर अभिनव अर्थ ही समुल्लसित होते हैं। यह महाकवि न केवल गद्य-काव्यों में मूर्धन्यतम है प्रत्युत महाकवियों का चूडामणि है इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं।

सन्दर्भ

1. कादम्बरी 438–439
2. ध्वन्या लोक—1/13 की वृत्ति
3. काव्य प्रकाश—1/4 की वृत्ति
4. काव्य दर्पण पृ० 23
5. काव्य प्रकाश 2/7
6. काव्य प्रकाश 2/8
7. व्यक्त्याकृति जातयस्तु पदार्थः । न्यायसूत्र 2/2/68
8. तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा-साहित्य दर्पण 2/4
9. काव्य प्रकाश 2/8
10. अभिधा वृत्ति मातृका —1
11. रसगंगाधर–2 आनन
12. अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः । वृत्तिवार्तिक
13. रस गंगाधर—आनन 2
14. कादम्बरी पृ० 10–13
15. काव्य प्रकाश 2/9
16. साहित्य दर्पण 2/5
17. साहित्य दर्पण–विमलाटीका पृ० 53
18. काव्य प्रकाश 2/11
19. काव्य प्रकाश 2/11
20. साहित्य दर्पण 2/9
21. काव्य प्रकाश 2/20
22. काव्य प्रकाश—2/14-15
23. काव्य प्रकाश 2/15-16
24. काव्य प्रकाश 2/15-16
25. कादम्बरी पृ० 483-84
26. कादम्बरी पृ० 554
27. कादम्बरी पृ० 583
28. कादम्बरी पृ० 67-68
29. कादम्बरी पृ० 78
30. कादम्बरी पृ० 374-76
31. कादम्बरी पृ०
32. कादम्बरी पृ० 570
33. कादम्बरी पृ० 642-48
34. कादम्बरी–कथामुख

कादम्बरी में रस–विवेचन

तृतीय–परिच्छेद

रस की परिभाषा

'रस' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है--(1) रस्यते आस्वाद्यते इति रसः, अर्थात् जिसका आस्वाद किया जाय वह रस है। (2) सरते इति रसः, अर्थात् जो प्रवाहित हो, वही रस है। वर्ण-विपर्यय के द्वारा 'सर' से रस शब्द निष्पन्न हुआ।

इन दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर रस की दो विशेषताएं स्पष्ट हो जाती हैं—एक है आस्वादनीयता और दूसरी द्रवशीलता। इन दोनों गुणों के कारण संस्कृत वाङ्मय की विभिन्न विधाओं में भिन्न-भिन्न अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया गया है।

रस का स्वरूप

संस्कृत काव्य-शास्त्र में रस सामग्री अथवा उपकरणों के आधार पर रस-काव्य की व्याख्या की गयी है। रस-सिद्धान्त के प्रथम आचार्य भरत मुनि[1] ने सूत्र रूप में विभाव, अनुभाव एवं संचारिभाव के संयोग के रस-निष्पत्ति को स्वीकृत किया है। सूत्रात्मक शैली के कारण भरत द्वारा प्रतिपादित रस का स्वरूप अस्पष्ट ही रह जाता है। इस सूत्र से संयोग एवं निष्पत्ति इन दोनों शब्दों को लेकर भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त प्रभृति आचार्यों ने विविध प्रकार से रस-सूत्र का विश्लेषण एवं मीमांसा प्रस्तुत की। परिणाम स्वरूप उपकरणात्मक रस-स्वरूप को लेकर एक विशाल रस-शास्त्र की रचना हो गयी। परवर्ती काल में मम्मट, विश्वनाथ और भानुदत्त ने भी उक्त सूत्र के आधार पर रस-स्वरूप का विवेचन किया है।

मम्मट के अनुसार लोक-जीवन में रति आदि स्थायी भावों को, जिन्हें

कारण, कार्य एवं सहकारी कारण कहा जाता है, उन्हें ही काव्य एवं नाट्य में क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव कहा जाता है। उन्हीं उपादानों से व्यक्त स्थायी भाव रस की संज्ञा पाता है। काव्य प्रकाश[2] में प्रतिपादित मम्मट के इस कथन का तात्पर्य यह है कि काव्य के सहृदयों एव नाटक के सामाजिक दर्शकों के हृदय में रत्यादि स्थायी भाव वासना के रूप में पहले से ही विद्यमान रहते हैं। काव्य एवं नाटक निष्ठ विभावादि उपकरणों के द्वारा ये वासनात्मक स्थायी भाव आनन्दमय रस के रूप में उसी प्रकार व्यक्त होते हैं, जैसे मृत्तिका में अन्तर्निहित गन्ध वर्षा की बूदों के संयोग से व्यक्त हो जाती है।

मम्मट के इस विवेचन से तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

(1) स्थायी भाव के रूप में रस की सत्ता पूर्वतः ही रहती है। वह स्थायी भाव ही रस रूपता को प्राप्त करता है तथा आस्वाद के क्षण में ही उसके रस-रूप की सृष्टि होती है।

(2) रस-परिपाक के क्षण में विभाव आदि प्रत्येक उपकरण का पृथक्-पृथक् आस्वाद नहीं होता है। 'पानक-रस-न्याय' से उन सभी उपकरणों का सम्मिलित आस्वादन होता है।

(3) रस अलौकिक चमत्कारकारी, ब्रह्मानन्द की तरह प्रतीय मान, ब्रह्मानन्द सहोदर हृदय में प्रवेश करता हुआ सा तथा सर्वाङ्ग को आप्यायित करता हुआ सा अनुभूत होता है।[3]

आचार्य विश्वनाथ ने विभाव, अनुभाव, संचारिभाव के द्वारा व्यक्त स्थायी भाव की रस रूपता को स्वीकार किया है। विश्वनाथ की दृष्टि में स्थायी भाव ही आस्वाद को धारण कर लेता है।[4] इसको स्पष्ट करने के लिए विश्वनाथ ने एक सर्वथा नवीन उदाहरण प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार तक्र की सहायता से दुग्ध दधिरूप में परिणत हो जाता है उसी प्रकार विभाव आदि का साहाय्य प्राप्त कर स्थायी भाव रस-दशा में परिवर्तित हो जाता है। दीप-प्रकाशित घट की तरह रस का पूर्वतः अस्तित्व नहीं रहता है। इसका अभिप्राय यह हुआ की सहानुभूति के क्षण में ही स्थायी भाव रस-रूपता को प्राप्त करता है।[5] लोक जीवन में जिन्हें कारण, कार्य और सहकारी कारण कहा जाता है, वे काव्य और नाटक में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तो कहलाते ही हैं, पर रसानुभूति को दृष्टि से वे सभी उपकरण सामान्यतः कारण ही हैं। रस-प्रतीति को विश्वनाथ भी समूहालम्बनात्मक ही स्वीकार करते हैं। विभाव आदि प्रत्येक उपकरण रस का कारण तो हैं, पर अनुभूति

इन सभी तत्त्वों के समन्वित रूप से ही होती है। जिस प्रकार प्रपाणक रस में अनेक तत्त्वों के रहते हुए भी उनके सम्मिलित रूप का आस्वाद प्राप्त होता है, उसी प्रकार रस-चर्वणा की अवस्थिति में विभाव आदि की पृथक्-पृथक् प्रतीति न होकर सामूहिक ही होती है और तभी उस आस्वाद में विलक्षणता भी आ पाती है।[6] यदि काव्य अथवा नाटक में ये समस्त उपकरण उपलब्ध न हों और केवल एक या दो ही उपलब्ध हों तो अन्य सामग्रियों की प्रसङ्गानुकूल योजना की जा सकती है और इस प्रकार की हुई योजना से रसानुभूति में किसी प्रकार की बाधा प्रस्तुत नहीं होती।[7]

इस कथन का अभिप्राय यह होता है कि विभाव के रहने पर अनुभाव और संचारी भाव की, अनुभाव के रहने पर विभाव एवं संचारीभाव की एवं संचारीभाव के रहने पर विभाव और अनुभाव की प्रसंगानुकूल योजना की जा सकती है। इस प्रसंग में विशेषतः ध्यान देने योग्य विषय यह है कि जिन उपकरणों के आधार पर अन्य तत्त्वों का आक्षेप किया जाय उन्हें अनेक रस-निष्ठ नहीं होना चाहिये अर्थात् वे एकान्तिक एवं एक रस-निष्ठ हों।

आचार्य भानुदत्त ने इन्हीं तीन उपकरणों के आधार पर रस के तीन लक्षण प्रतिपादित किये हैं।

(1) विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव एवं संचारीभाव के द्वारा उपनीयमान एवं परिपूर्ण स्थायी भाव ही रस्यमान होने पर रस-रूपता को प्राप्त करता है।[8] इसका अभिप्राय यह हुआ कि आलम्बन से उत्पादित, उद्दीपन से उद्दीप्त, अनुभाव से प्रतीति-योग्य तथा व्यभिचारी भाव से पुष्ट होने पर स्थायी भाव ही रस रूपत्व को धारण करता है। परिपूर्ण शब्द के द्वारा यह अर्थ स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। रस मूलतः तो अनुकार्य राम आदि में स्थित रहता है किन्तु सादृश्य के अनुसन्धान के बल से अनुकर्ता नटों में भी आरोप्यमाण होता है। उपनीयमान शब्द का यह अभिप्राय है। रस अस्वादनीय स्थायी भाव से अभिन्न हैं, अर्थात् स्थायी भाव ही चर्वणावस्था को प्राप्त होकर रस की संज्ञा से उद्‌बोधित होता है। 'रस्यमान' शब्द का यह आशय है।

इस प्रकार भानुदत्त के मत का विवेचन करने पर यह परिलक्षित होता है कि यह लक्षण अन्य दृष्टियों से तो समीचीन है। किन्तु रस की दृष्टि से आरोपवादी भट्ट लोल्लट की मान्यता के समकक्ष होने से त्रुटि पूर्ण एवं दोष दुष्ट है। वस्तुत रसों की अवस्थिति सामाजिकों और सहृदयों में स्वीकार की जाती है। प्रस्तुत लक्षण में सात्त्विक पद का पृथक् उल्लेख अनुभाव एवं संचारी से इसकी विशिष्टता प्रतिपादित करने के लिए किया गया है।

(2) भाव अर्थात् स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव एवं संचारीभाव के द्वारा सहृदय सामाजिक जहां मन का विश्राम कर आनन्दातिरेक की प्राप्ति करते हैं वहीं रस है।[9] प्रस्तुत लक्षण के द्वारा भानुदत्त ने रस की आनन्द रूपता को प्रकाशित किया है।

रस तरङ्गिणी के टीकाकार प० जीवनाथ झा ने इस लक्षण में भोगवादियों के भोज्य-भोजकत्व सम्बन्ध का स्वारस्य दृष्टिगत किया है। किन्तु शब्दों की खींचतान के द्वारा भानुदत्त के लक्षण पर किसी अर्थ विशेष को लादना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

(3) वासनात्मक स्थायी भाव ही प्रबुद्ध होने पर रस रूप में परिणत हो जाता है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इसके प्रबोधक हैं। इस लक्षण से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं:—

(1) स्थायी भाव की स्थिति सहृदय सामाजिकों के हृदय में वासना के रूप में पूर्वतः ही रहती है।

(2) स्थायी भाव ही आस्वाद्य-दशा में पहुँच कर रस-रूपत्व को प्राप्त करता है।

भानुदत्त ने रस को लौकिक एवं अलौकिक दोनों माना है। किन्तु काव्यगत रस को अलौकिक ही स्वीकार किया है। अलौकिक औपनायिक प्रभेद के अन्तर्गत ही उन्होंने शृङ्गारादि सभी परम्परागत रसों का निरूपण किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अभिनवगुप्ताचार्य एवं मम्मट के मत को उद्धृत करके अपनी दृष्टि को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि वस्तुतः तैतिरीय उपनिषद् की—

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"।

इन श्रुतियों के अनुसार रति आदि भावों से युक्त आवरण-रहित चैतन्य के आवरण का निवृत्त हो जाना अर्थात् अज्ञान का हट जाना ही रस की चर्वणा अर्थात् आस्वाद है। अथवा यों भी कहा जा सकता कि अन्तः करण की चित्तवृत्ति का आनन्दमय हो जाना ही चर्वणा है।

आचार्य भरत

भारतीय काव्य-शास्त्र के आद्य आचार्य भरत ने रस सूत्र में सर्व प्रथम रस को परिभाषित करने का प्रयास किया है। भरत का वह सूत्र[11] ही सम्पूर्ण रस-सिद्धान्त का मूल आधार है। यद्यपि इस सूत्र में रस-निष्पत्ति का आख्यान किया गया है तथापि इसके द्वारा रस का स्वरूप भी प्रकाशित होता है।

भरत ने रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यञ्जनों तथा औषधि आदि के सयोग से रस की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अनेक भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। आस्वाद्य होने के कारण उसे रस कहा जाता है। रसास्वादन का प्रकार बताते हुए भरत कहते हैं कि जिस प्रकार नाना भांति के व्यञ्जनों मे संस्कृत अन्न को खाकर रसास्वादन करते हुए सहृदय हर्ष को प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों एवं अभिनयों द्वारा किये गये वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का सहृदय प्रेक्षक आस्वाद करते हैं और आनन्द प्राप्त करते हैं।

भरत मुनि के रस सम्बन्धी विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार है—

(1) रस आस्वाद्य होता है अर्थात् वह अनुभूति न होकर अभुभूति का विषय होता है।

(2) रस एक समन्वित पदार्थ है, जिसमें भावों के विभिन्न अंश अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी उसमें विलीन हो जाते हैं और उनका संश्लिष्ट रूप ही रस रूप में दृष्टिगोचर होता है।

(3) विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों तथा त्रिविध अभिनयों के द्वारा संयुक्त होकर ही स्थायीभाव की रस–रूप में अभिव्यक्ति होती है।

(4) जिस प्रकार अनेक व्यंजकों एवं औषधियों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अनेक भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

(5) जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न को खा कर रसास्वादन करते हुए पुरुष हर्षित होता है उसी प्रकार अनेक भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यक्त त्रिविध अभिनयों से युक्त स्थायीभाव का आस्वादन प्रेक्षक को होता है। इस प्रकार भरत की दृष्टि में रसानुभूति सुखमय है एवं रसास्वाद आनन्दमय है।

भरत के पश्चात् रस–सिद्धान्त की परिभाषा करने का प्रयास किया है मम्मट ने। उनकी दृष्टि में विभाव आदि द्वारा व्यक्त किया गया स्थायीभाव रस कहा जाता है।

सहृदयजनों के हृदय में रति आदि भाव वासना रूप मे सदा विद्यमान रहते हैं। आलम्बन विभाव के द्वारा वह स्थायीभाव आविर्भूत और उद्दीपन

विभाव द्वारा प्रदीप्त हो जाता है। अनुभाव उसे प्रतीति योग्य बना देते है तथा व्यभिचारी भाव उनको परिपुष्ट कर देते हैं। इस प्रकार उन सब के संयोग से स्थायीभाव व्यंजना वृत्ति के द्वारा व्यक्त हो जाता है अर्थात् आस्वादन योग्य बन जाता है।

रस की तृतीय लोक प्रिय परिभाषा आचार्य विश्वनाथ की है। यहाँ आचार्य विश्वनाथ ने भावों के परिपाक को ही रस माना है। उनके अनुसार जब विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के द्वारा सहृदयों के हृदय में वासना रूप से स्थित स्थायीभाव पूर्ण परिपक्वावस्था को प्राप्त करता है, तब उसे रस-संज्ञा दी जाती है। भारतीय साहित्य शास्त्र में इसका प्रयोग आनन्दमयी चेतना के रूप में भी हुआ है। रस से उस स्थिति का बोध होता है, जहाँ दुःख का लेशमात्र भी नहीं रहता और सदा आनन्दाभिव्यक्ति ही होती रहती है।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने पूर्ववती आचार्यों-अभिनव गुप्त एवं मम्मट-की रस सम्बन्धी मान्यताओं का संग्रह करते हुए रस के स्वरूप पर विचार किया है।[12] उनकी दृष्टि में अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर सतोगुण के सुन्दर, स्वच्छ प्रकाश होने से रस का साक्षात्कार होता है। अखण्ड, अद्वितीय स्वय प्रकाश स्वरूप, आनन्दमय, और चिन्मय अर्थात् चमत्कार स्वरूप होना ही रस का लक्षण है। रस के साक्षात्कार के समय वैद्यान्तर का स्पर्श तक नहीं होता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि रसास्वाद के समय विषयान्तर का ज्ञान तक विलुप्त हो जाता है। अतएव उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। अलौकिक चमत्कार सार से युक्त उस रस का कोई ज्ञाता, जिसमे पूर्वजन्म के पुण्य से वासना रूप संसार है, अपने आकार की तरह अभिन्नरूप से आस्वादन करता है।[13]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि रस काव्य का आस्वाद है और यह आस्वाद आनन्दमय होता है। इस आनन्दमयी चेतना में इन्द्रियों के सुख का अभाव रहता है। इस आनन्द चेतना में मृण्मय अर्थात् ऐन्द्रिय भोग आदि का प्रायः अभाव तथा चेतन्य आत्मानन्द का सद्भाव रहता है। लौकिक भाव काव्य में निबद्ध होकर स्थूल अर्थात् ऐन्द्रिय रूप त्याग कर सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं, शास्त्रीय शब्दावली में ये देश, काल की सीमा से मुक्त होकर साधारणीकृत हो जाते हैं। रस-बोध की अवस्था में आत्मा पूर्णतः तन्मय हो जाती है। अर्थात् रसानुभूति की स्थिति में प्रमाता स्व एवं पर की भावना से मुक्त होकर प्रस्तुत प्रसग के साथ इस प्रकार तन्मय हो जाता है कि उसे आत्मज्ञान का बोध नहीं होता। वह समय एवं काल की सीमा में न बँधकर

पूर्णतः आत्मलीन हो जाता है। देश एवं काल की सीमाएँ उसे प्रभावित नहीं करती।

काव्य में रस का स्थान

रस के स्वरूप का विवेचन करने के अनन्तर उसका काव्य में स्थान निर्धारित करने की अपेक्षा बनी रहती है। अर्थात् काव्य में रस को कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये—यह प्रश्न भी समाधान की अपेक्षा करता है अब यहाँ द्रष्टव्य यह है कि काव्य में काव्यत्व की स्थिति के आधारभूत उपकरण क्या हैं ? इसमें किसी आचार्य का मतभेद हो ही नहीं सकता कि काव्यत्व चमत्कार पर ही निर्भर है। प्राचीन आचार्यों ने काव्यत्व के लिए रस, गुण अलंकार–इन तीनों को ही काव्य में चमत्कारक पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है।

यों तो रस का महत्त्व अनादि काल को प्रतिपादित है। तैत्तिरीय उपनिषद् की यह उक्ति रस की अवस्थिति का पूर्णतया आभास प्रस्तुत करती है—

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"।[14]

काव्य शास्त्र के प्राचीनतम ग्रन्थ नाट्य शास्त्र में भरत मुनि ने काव्य में सर्वोपरि चमत्कारक पदार्थ रस को ही माना है। यद्यपि नाट्य शास्त्र में रस के अतिरिक्त गुणों एवं अलंकारों का विवेचन भी किया गया है तथापि उनका, काव्य में, महत्त्व रस के समकक्ष नहीं। रस के महत्त्व के विषय में भरत मुनि ने कहा है—

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः।
नहि रसादृते कश्चित् पदार्थः प्रवर्तते।[15]

अर्थात् रस के बिना किसी अन्य पदार्थ की स्थिति ही नहीं है।

इसी प्रकार महर्षि वेद व्यास ने अलंकार शास्त्र में रस को सर्वोपरि पदार्थ स्वीकार करते हुए, उसे जीवन ही प्रतिपादित किया है—

वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।[16]

साहित्याचार्यों में सर्व प्रथम ध्वनिकार एवं आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वनि सिद्धान्त का मूल–तत्त्व रस को ही मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। उन्होंने वाल्मीकि रामायण का यह श्लोक—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।[17]

उद्धृत कर इसमें जो करुण रस ध्वनित होता है उसे ही काव्य की ग्रात्मा माना है ।[18] इसके ग्रतिरिक्त उन्होंने स्पष्ट रूप से यह भी कहा है कि रस के बिना कवि व्यापार ही शोभित नहीं होते—

यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्य विरहे व्यापार एव न शोभते ।[19]

श्री मंखक ने ग्रपने काव्य में शतशः ग्रलंकारों से ग्रवतंसित, पदसौष्ठव से युक्त काव्य को भी रस के बिना काव्याधिराज पदवी के योग्य नहीं माना है ।

तैस्तैरलंकृतिशतैरवतंसितोऽपि रूढौ महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोपि ।
नूनं विना घनरसप्रसराभिषेकं काव्याधिराज पदमर्हति न प्रबन्धः ।[20]

उपर्युक्त विवेचन से काव्य में रस की ग्रवस्थिति एवं महत्त्व का बोध होता है । काव्य में रस का स्थान सर्वोपरि है ।

काव्य की ग्रात्मा रस

काव्य में रस का स्थान निर्धारण करने पर ग्राचार्यो ने रस को काव्य की ग्रात्मा के रूप में स्वीकार कर उसका स्थान बहुत ऊँचा कर दिया है ।

शब्द ग्रौर ग्रर्थ को काव्य का शरीर कहा गया है । ये दोनों ग्रभिन्न हैं । ग्रतएव शब्द ग्रौर ग्रर्थ की एकता को पार्वती परमेश्वर की एकता का उपमान बनाकर कविकुल गुरु कालिदास ने 'रघुवंश'[21] के प्रथम श्लोक के द्वारा इस ग्रटूट सम्बन्ध को महत्ता प्रदान की ।

जिस प्रकार बिना शरीर के ग्रात्मा के ग्रस्तित्व का प्रमाणित करना सम्भव नहीं उसी प्रकार ग्रात्मा के बिना शृंगार की ग्रालम्बन स्वरूपा ललित लावण्यमयी ग्रंगनाग्रों के कोमल कान्त कलेवर भी हेय, त्याज्य एवं घृणा के विषय बन जाते हैं । ग्रतः भारतीय काव्य शास्त्रियों ने काव्य की ग्रात्मा को विशेष रूप से ग्रपनी मनीषा का विषय बनाया है ।

ग्रात्मा सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर पर काव्य का स्वरूप एवं उसकी परिभाषा निर्भर है । क्योंकि काव्य की ग्रालोचना के मान भी उसके ग्रादर्श पर निर्भर करते हैं. ग्रतः काव्य की ग्रालोचना भी इनसे बहुत ग्रंशों में प्रभावित होती है । काव्य के विभिन्न ग्रंगों में से किसी एक पर बल देने ग्रौर महत्त्व प्रदान करने के ग्राधार पर ही पाँच सम्प्रदाय ग्रस्तित्व में ग्राये हैं । प्रायः सभी ग्राचार्यो ने रस को ही काव्य की ग्रात्मा माना है ग्रौर इसके ही ग्रालोक में रस का मूल्यांकन करना यहां युक्ति युक्त होगा ।

सर्व प्रथम भरत ने रस–सूत्र के द्वारा रस की परिभाषा प्रस्तुत कर रस की महत्ता को प्रतिपादित किया है। इस व्याख्या सापेक्ष सूत्र की काव्य शास्त्र के मनीषियों ने अनेक रूप में व्याख्या की है। रस सम्प्रदाय का साहित्य में व्यापक प्रभाव रहा है।

भरत के पश्चात् आनन्दवर्धन ने रसध्वनि को प्रधानता देकर अलंकारों पर रस को प्रमुखता प्रदान की।

अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका लोचन तथा नाट्य शास्त्र की टीका अभिनव भारती लिखकर बहुत सी रस सम्बन्धीं समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया और आगे विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा घोषित कर रस को पूरा-पूरा महत्त्व दिया।

ध्वनि का विभाजन करते हुए आचार्यों ने ध्वनि के तीनों भेदों में रस-ध्वनि को अधिक महत्त्व दिया है। रस ध्वनि को विशिष्टता देना रस-सिद्धान्त की ही स्वीकृति है। ध्वनिकार ने कहा है कि व्यंग्य व्यंजक भाव के विविध रूपों में, जो रसमय रूप है उस एक मात्र रूप में कवि को सावधानी के साथ प्रयत्नशील होना चाहिये।[22] ध्वनिकार ने पुनः प्रतिपादित किया है कि जैसे बसन्त में वृक्ष नये और हरे-भरे दिखाई पड़ते हैं वैसे ही रस का आश्रय लेने से पहले देखे हुए अर्थ भी नवीन रूप धारण कर लेते हैं—

दृष्टपूर्वा अपिह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः।[23]

आचार्य मम्मट ने भी, जिन्होंने ध्वनि के सिद्धान्त को मान कर रस का वर्णन ध्वनि के अन्तर्गत किया है, कवि की भारती की वन्दना करते हुए उसे "ह्लादैकमयी" और "नवरसरुचिरा" कहा है। इतना ही नहीं उन्होंने तो दोष, गुण, अलंकारों की परिभाषा भी रस का ही आश्रय लेकर दी है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार आत्मा के शौर्यादि गुण है उसी प्रकार काव्य के अङ्गी रस में सदैव रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचल स्थितयो गुणाः। [24]

मम्मट ने अलंकारों को रस का उपकारी माना है और दोषों की व्याख्या भी रस के सम्बन्ध में की है। उन्होंने कहा है कि दोष मुख्यार्थ का नाश करने वाले हैं और मुख्य तो रस ही है, उसी के सम्बन्ध से वाच्यार्थ भी मुख्य कहलाता है। और उसी रस के अपकर्ष के कारण ये दोष की श्रेणी में परिगणित होते हैं—

मुख्यार्थ हतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।[25]

उपरिनिर्दिष्ट निरूपणों में रस की अत्यन्त स्पष्ट स्वीकृति है। मम्मट रसवादी है। यहाँ तक कि रससिद्धान्त के पोषक और अभिभावक आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट का ही अनुसरण किया है।

रसवादी विश्वनाथ ने यद्यपि मम्मट की परिभाषा का खण्डन किया है और रस की स्वतन्त्र व्याख्या की है तथापि रस को व्यंग्य ही माना है।

वस्तुतः रस में कर्ता अर्थात् कवि, कृति अर्थात् काव्य और भोक्ता अर्थात् पाठक तीनों को ही समान महत्त्व मिलता है। उसमें प्रभाव है, गति है और जीवन की तरलता है। वह कवि के हिमगिरि से विशाल, रत्नाकर से विस्तृत एवं गम्भीर हृदय स्रोत से निःसृत होकर काव्य के रूप में प्रवावित होता हुआ पाठक के हृदय को आप्लावित करता है। इसी से वह जल के अर्थ में अपना नाम रस सार्थक करता है। आस्वाद्य होने के कारण वह रसना के रस की भी समानधर्मता सम्पादित करने में सामर्थ रहता है। म्लान एवं म्रियमाण हृदयों को संजीवनी शक्ति प्रदान कर रसायन के गुणों को वह ग्रहण करता है। काव्य का सार होने के कारण उसमें फलों के रस की भी अभिव्यक्ति है। रस अर्थात् आनन्द उसका अपना रूप है। वह रमणीयता का चरम लक्ष्य है और अर्थ की अर्थ स्वरूपा ध्वनि का भी विश्राम स्थल है। इसलिए वह परमार्थ है, स्वयं प्रकाश्य, चिन्मय, अखण्ड एवं ब्रह्मानन्द सहोदर है और वही काव्य की आत्मा है–'रसो वै सः'।

इस पकार यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि रस का काव्य में अतिशयित महत्त्व है। अन्य सम्प्रदायवादी आचार्यों ने यद्यपि अपने-अपने मतों का प्रतिपादन किया है तथापि रस की कहीं अवहेलना हुई हो, ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है।

इस प्रकार रस जीवन का आधार भी है। रमणीयता काव्य का विशिष्ट गुण है जिसका जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान है। रमणीयता का आधान करने वाले उपकरणों में सर्वोपरि एवं सर्वोत्कृष्ट होने से रस को जीवनाधायक माना जाता है। सर्वातिशायी रूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में रस को प्रामुख्य दिये बिना नहीं रह सकता।

रस एवं मनोविज्ञान

रस और मनोविज्ञान पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि दोनों की आधार भूमि के समान होते हुए भी दोनों के लक्ष्य में

महान् अन्तर है। रस की भाँति मनोविज्ञान जीवन के वस्तुवाद में प्रवेश तो करता है पर वह अपने स्थान पर घूमता ही रहता है, वहाँ से आगे बढ़ने की उसमें क्षमता नहीं है, किन्तु रस मनोविज्ञान को उसकी सीमित परिधि से निकाल कर लोक-कल्याण की दृष्टि से लोक में प्रवाहित करता है, और उसे आनन्द-सिन्धु में लीन करा देता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मनोविज्ञान विश्लेषणात्मक है एवं रस संश्लेषणात्मक। रस की सत्ता विराट् जीवन से हृदय के तादात्म्य में सम्भव होती है और मनोविज्ञान व्यक्तियों को लेकर इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले कार्य-व्यापारों के निरूपण में होता है।

यह निर्विवाद है कि रस के अन्तर्गत स्थायी भावों, विभावों, अनुभावों एवं संचारी भावों में मनोविज्ञान योग प्रदान करता है, किन्तु इस योग को सम्यक् रूप से गति प्रदान करने की क्षमता रस में ही सम्भव होती है। विकास वाद की दृष्टि से यह अवश्य माना जा सकता है कि जीवन के उषः काल में मनोविज्ञान अपने मनोविकारों की इकाइयों में साहित्य-निर्माण के लिए अग्रसर हुआ। आगे चल कर मनोविकार रस में परिणत हुए होंगे। यह भी सम्भव हो सकता है कि किसी विशेष परिस्थिति में निष्पन्न रसानुभूति अपने अभिव्यक्ती-करण के लिए मनोविकारों के आधार पर ही चली हो। आरम्भ की स्थिति में इसे मनोविज्ञान की अपेक्षा मनोविकार ही कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

रस

भारतीय वाङ्मय रस के द्वारा ही अधिक अनुप्राणित हुआ है। भारतीय जीवन की दृष्टि समष्टिगत थी। उसका उद्देश्य सामान्य रूप से वस्तु-वादी अथवा व्यक्तिवादी नहीं था। इस जीवन का केवल मानव-जगत् से ही सम्बन्ध नहीं प्रत्युत मानवेतर एवं जड़-जगत् भी उसकी परिधि में है। ऐसी स्थिति में मानवेतर तथा जड-जगत् में मनोविज्ञान की अवस्थिति के सम्भव न होने के कारण मानव मनोविज्ञान का आरोप ही उस जगत् पर हुआ और यह मनोवैज्ञानिक प्रतिष्ठा जीवन के समष्टि रूप को हृदयङ्गम करने का एक माध्यम बनी। समष्टि के प्रति जीवन की संवेदना साधारणीकरण की मघुमती भूमिका बनी। रूप और गति की इकाइयों को मिटाकर बाह्य-जगत् अन्तजर्गत् बना तो उसमें प्रकृति का कल्याणकारी रूप ही दृष्टिगोचर हुआ। इसी कल्याणकारी रूप में आनन्द के दर्शन हुए। इसीलिए रस की चर्वणा की अवस्थिति लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति का रूप ग्रहण कर सकी। यह आनन्द वस्तु की सीमाओं को पार कर असीम हो जाता है और एक व्यक्ति का व्यापार न होकर समष्टि की सम्पत्ति बन जाता है।

व्यक्ति की सीमा के पार करने पर इसमें अध्यात्मवाद की किरणें प्रस्फुटित होने लगती है। इस किरण को जब संसार के जीवन में प्रतिबिम्बित किया जाता है, तो उसी का नाम रस होता है। इस प्रकार रस में आनन्द की किरण है, जो लोकव्यापी होते हुए भी लोकोत्तर है। यह रस जब जीवन में प्रवेश करता है तो वह काव्य का रूप ग्रहण करता है। जब वह अध्यात्म में प्रवेश करता है तो दर्शन के रूप में विकसित होता है। इस प्रकार काव्य और दर्शन एक ही वृन्त के दो पुष्प है और उस वृन्त की संज्ञा है रस, जिसके क्रोड में आनन्द का सागर सचित है। इस प्रकार ब्रह्म की संज्ञा भी रस है—रसो वै सः।

आधुनिक युग में पश्चिम के प्रभाव से काव्य का लक्ष्य ही परिवर्तित हो गया है। जीवन के मूल्यांकन में साहित्यकारों का अधिक विश्वास हो गया है और मनोविज्ञान की गहनताओं में प्रविष्ट होकर सत्य की समीक्षा ही साहित्य का लक्ष्य बन गयी है। यथार्थवाद ही साहित्य का वास्तविक मापदण्ड है और स्वाभाविकता का प्रत्यक्षीकरण ही साहित्य का सौन्दर्य है। अति-मानवीयता एवं अतिरंजना साहित्य में दोष दृष्टि से देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में काव्य में रस-निष्पत्ति का कोई महत्त्व नहीं रहा। रस-सिद्धान्त के बहिष्कार के प्रमुख कारण दिये जाते हैं --

(1) मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने काव्य को विचार प्रधान बना दिया है और कल्पना ने अनुभूति की अपेक्षा चिन्तन को अधिक प्रश्रय दिया है।

(2) जीवन की समीक्षा में व्यक्ति प्रधान हो गया है और इस प्रकार व्यक्ति-गत भावनाओं को अधिक प्रश्रय मिला है। व्यक्ति एवं वस्तु का बोध अधिक होने के कारण रस के साधारणीकरण की भावना का लोप सा हो गया है।

(3) अध्यात्मवाद का ब्रह्मानन्द ही जब काव्य की परिधि से बहिष्कृत हो गया तो ब्रह्मानन्द सहोदर रस भी वहां से अदृश्य होता गया।

वस्तुतः रस अमर है। वह काव्य का महत्त्वपूर्ण अंग अब भी है और जब तक काव्य रहेगा रस की सृष्टि निरन्तर होती रहेगी अथवा रस अपनी अभिव्यक्ति के लिए काव्य का शरीर अवश्य ग्रहण करेगा। रस शाश्वत है, यह बात दूसरी है कि रस अपने अभिव्यक्तीकरण के लिए और किसी शैली का आश्रय ले।

साहित्य जीवन से ही अनुप्राणित हुआ है। जीवन का विकास मनो-

विकारों पर ही आधारित है और मनोविकारों का मूल आधार मनोविज्ञान में निहित है। मनोविज्ञान की स्थिति जीवन की अनेकानेक अभिव्यक्तियों में है, और इस प्रकार मनोविज्ञान एवं साहित्य में साधन और साध्य का सम्बन्ध है। यह साधना प्राचीन काल से ही विविध मनोविकारों में प्रस्फुटित हुई है और उसी में साहित्य जीवन का पर्याय बन कर विकासोन्मुख रहा है। पाश्चात्य समालोचकों ने मनोविज्ञान का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन कर उसमें जीवन की प्रेरणाओं का इतिहास स्पष्ट किया है।

"भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्"

इस वाक्य में जन्मान्तर वाद का रहस्य निहित है। संचित कर्म ही भाग्य का निर्माण करते हैं और उन्हीं के अनुसार जीवन का क्रम निर्धारित रहता है। इसलिए भारतीय वाङ्मय में भाग्यवाद को ग्रहण किया गया है। इस भाग्यवाद ने भारतीय जीवन में आस्तिकता की सृष्टि की है और इस प्रकार साहित्य की आध्यात्मिक परम्परा सभी कालों में सुरक्षित रही है।

यदि लौकिक जीवन के स्वाभाविक धरातल पर अवतरण किया जाय तो इस जिज्ञासा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि जीवन की परिस्थितियां किन कारणों से निर्मित होती हैं ? यहीं से मनोविज्ञान का क्षेत्र आरम्भ होता है और स्वतः ही जीवन की स्वाभाविकता की ओर आकृष्ट होना पड़ता है। जिसमें कारण और कार्य का सम्बन्ध है। मनुष्य में जब जीवन का स्पन्दन आरम्भ होता है तो उसमें कुछ संस्कार स्वयमेव आ जाते हैं। शिशु द्वारा स्तन्य-पान उसी संस्कार का प्रत्यक्ष रूप है। इसे आत्मरक्षा का संस्कार कहा जाता है। इस संस्कार के साथ हर्ष, दुःख और भय का निकट सम्बन्ध है। ये मूल-भाव भी संस्कारों का रूप ग्रहण करते हैं। इन संस्कारों से प्रवृत्तियां विकसित होती हैं, इन प्रवृत्तियों में आवेग प्रादुर्भूत होता है, जो प्रकारान्तर से इन्द्रिया-वेग कहा जा सकता है। इसी इन्द्रियावेग में संवेदनात्मक शक्ति का उदय होता है। संवेदनात्मक शक्ति भावना को जन्म देती है और भावना भावातिरेक में विकसित होती है। इस प्रकार मनोविकार संस्कार से चलकर सात स्थितियों को पार करता हुआ भावातिरेक में साहित्य की भावभूमि प्रस्तुत करता है। इस भाव भूमि का आरम्भ तो संवेदना शक्ति से ही हो जाता है जिसमें संस्कार, प्रवृत्ति और आवेग प्रच्छन्न रूप से वर्तमान रहते हैं।

भावना, जब विशिष्ट परिस्थितियों में घनीभूत होकर अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करती हुई आवेग की सहचारिणी हो जाती है, तो वह भावातिरेक की संज्ञा ग्रहण करती है।

यदि इन दोनों दृष्टिकोणों की तुलना की जाय तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि जहां भारतीय आचार्यों ने काव्य की सवेदना, भावना और भावातिरेक के आश्रय से लोकोत्तर जीवन को आनन्दानुभूति में परिणत किया है वहां पाश्चात्य विचारकों ने उपर्युक्त तीनों भावों को लौकिक जीवन के विश्लेषण में हर्ष और शोक में विभाजित कर दिया है। भारतीय आचार्य इन भावों को समष्टि के अवयवों के रूप में मानते हैं और पश्चिम में इनको व्यष्टिगत प्राधान्य दिया गया है।

जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति चाहे वह हर्षमय हो या शोकमय अथवा जीवन के किसी आवेग से वह सम्बद्ध हो, सदैव अपने गन्तव्य आनन्द की ओर अग्रसर होती है, क्योंकि प्रवृति में लगे हुए भी भारतीय संसार के सुख-दुःख से ऊपर उठकर अपने आत्मगत संस्कारों का परिष्कार करना चाहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान जीवन की लौकिक उद्भावनाओं से सम्पुष्ट है।

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि साहित्य के मूल में रस को महत्त्व देने से लौकिक जीवन की वस्तुवादी व्याख्या का दर्शन न्यूनमात्रा में होगा, क्योंकि रस इस वस्तुवादी जीवन के परे एक विशिष्ट आदर्श में विश्वास रखता है। जीवन में प्रतिदिन घटित होने वाली परिस्थितियां तो लहर की तरह बार बार बनती बिगडती हैं। उनका कोई स्थायी महत्त्व नहीं है। स्थायी महत्त्व तो सरिता की तरह प्रचण्ड धारा के समान बहने वाले जीवन गत लक्ष्य का है। उसमें मानवता अभीष्ट है। पाश्चात्य लेखक बुद्‌बुद् की तरह उठने वाली घटनाओं को प्रवाह से अधिक महत्त्व देता है और जीवन की नगण्य अनुभूति को वह स्वाभाविकता के आग्रह से अप्रस्तुत करने में सचेष्ट एवं प्रयत्नशील रहता है। भारतीय लेखक स्वाभाविकता का इतना आग्रह नहीं करता क्योंकि वह लौकिक जीवन को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देता फलतः किन्हीं विशिष्ट नैतिक आदर्शो में वह जीवन को प्रगतिशील करना चाहता है और ऐसे वातावरण में सांस लेना चाहता है, जिसमें साहित्य समस्त समाज का कल्याण-विधायक हो।

शृंगार रस

शृंगार रस का अर्थ है कामोद्रेक अथवा काम की प्राप्ति।[26] यह शब्द ,शृंग' और 'आर' इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न होता है। शृंग का अर्थ है कामोद्रेक या काम की वृद्धि और आर का अर्थ है गति या प्राप्ति। शृंगेन अर्यने इति शृंगारः इस व्युत्पत्ति से ऋ गतौ धातु से यह शब्द निष्पन्न

हुआ है। कामिजनों के हृदय में रति स्थायी भाव रस अवस्था को प्राप्त होकर काम की वृद्धि करता है, इसी से इसका नाम शृंगार है।[27]

भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र के छठे अध्याय में शृंगार रस का विवेचन करते हुए प्रतिपादित किया है कि रति स्थायी भाव से उत्पन्न होने वाला एवं उज्वल वेशात्मक शृंगार रस होता है। संसार में जो कुछ भी शुचि, पवित्र, उज्वल एवं दर्शनीय होता है उसकी उपमा शृंगार के साथ दी जाती है। उज्वल वेश धारण करने वाला व्यक्ति ही शृंगारवान् कहलाता है। जिस प्रकार गोत्र, कुल एवं आचार आदि से उत्पन्न एव आप्तोपदेश से सिद्ध पुरुषों के नाम होते हैं उसी प्रकार इन रसों, भावों और नाट्याश्रित अर्थों के आचार से उत्पन्न तथा आप्तोपदेश से सिद्ध नाम होते हैं।

इस प्रकार यह रस मनोहर एवं उज्वल वेशात्मक होने के कारण व्यवहार सिद्ध शृंगार रस होता है। यह स्त्री एवं पुरुष के द्वारा उत्पन्न होता है एवं यौवन की प्रकृति के अनुकूल रहता है।

दशरूपककार धनंजय के अनुसार परस्पर अनुरक्त युवा नायक-नायिका के हृदय में रम्य देश, काल, कला, वेश, भोग इत्यादि के सेवन से आत्मा का प्रमुदित होना रति है। जब यही रति स्थायी भाव नायक या नायिका के अंगों की सुमधुर चेष्टाओं के द्वारा पुष्ट होता है तो शृंगार रस की उत्पत्ति होती है—

रम्य देश कला काल वेष भोगादि सेवनैः।
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्य रक्तयोः।
प्रहृष्यमाणः शृंगारो मधुराग विचेष्टितैः।[28]

विश्वनाथ की दृष्टि में कामदेव के उद्भेद या अंकुरित होने को शृंग कहा जाता है। उसकी उत्पत्ति का कारणभूत रस शृंगार कहलाता है। परस्त्री तथा अनुराग शून्य वेश्याओं का छोड़कर अन्य नायिकाएं तथा दक्षिण आदि नायक इस रस के आलम्बन विभाव माने जाते हैं। चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर आदि इसके उद्दीपन विभाव होते हैं। अनुरागपूर्ण भ्रूकुटि-भंग और कटाक्ष आदि इसके अनुभाव कहे जाते हैं। उग्रता, मरण, आलस्य एवं जुगुप्सा को छोड़ कर अन्य निर्वेद आदि इसके संचारी भाव होते हैं। इसका स्थायीभाव रति है, वर्ण श्याम है और इसके देवता विष्णु भगवान् हैं :—

शृङ्गो हि मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुकः।
उत्तमं प्रकृतिः प्रायो रसः शृंगार इष्यते।
परोढां वर्जयित्वा तु वेश्याञ्चाननुरागिणीम्।

आलम्बनं नायिकाः स्युः दक्षिणाद्याश्च नायकाः ।
चन्द्र चन्दन रोलम्व रुताद्यु द्दीपनं मतम् ।
भ्रू विक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः ।
त्यक्त्वोग्यमरणालस्य जुगुप्सा व्यभिचारिणः ।[29]
स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णु दैवतः ।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शृंगार रस को रसों में सर्वोपरि स्थान दिया गया है । उज्वल वेश, सुरुचि, पवित्र, रम्य स्थल आदि से इस रस की उदात्तता प्रकट होती है । पुरुषार्थ चतुष्टय में काम को प्रमुख स्थान दिया गया है और यह काम को उद्दीप्त कर अनुरक्त युवा नायिका एवं नायक के हृदयों में प्रसन्नता एवं आनन्द की लहर दौड़ाता है । एक दूसरे के प्रति उत्पन्न अनुराग का आकर्षण उन्हें चित्तवृत्ति की उदात्त अवस्था में प्रतिष्ठापित करता है ।

शृंगार के भेद

शृंगार रस के स्वरूप एवं परिभाषा के अनन्तर उसके भेदोपभेदों पर विवेचना अपेक्षित है । शृंगार के, नायक एवं नायिका के मिलन एवं वियोग के आधार पर, काव्य शास्त्र के आचार्यों ने दो भेद किये हैं ।

(1) संयोग या संभोग
(2) वियोग या विप्रलम्भ

आचार्य भरत ने ही इन दो भेदों की कल्पना की थी, जो अद्यावधि मान्य है—

"तस्य द्वे अधिष्ठाने संभोगो विप्रलम्भश्च" ।

दशरूपककार धनञ्जय ने शृंगार रस के तीन भेदो को स्वीकार किया है—

(1) अयोग
(2) विप्रयोग
(3) सम्भोग

अयोग

अयोग शृंगार वहां माना जाता है, जहां नायक एवं नायिका एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हुए भी परतन्त्रता अथवा दैवेयोग से परस्पर मिल नहीं सकते किन्हीं कारणों से नायक एवं नायिका के संयोग का न होना अयोग कहलाता है–

"अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा ।

तत्रायोगोऽनुरागेऽपि न तयोरेकचित्तयोः ।

पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसंगमः" ।[30]

इस प्रकार जब नायक एवं नायिका किसी कारणवश परस्पर अनुराग पाश में आवद्ध होते हुए भी दूर देश गमन अथवा किसी अन्य ऐसे ही कारणों से परस्पर मिलन में असमर्थ रहते हैं तो उसे वियोग या विप्रलम्भ शृंगार कहा जाता है।

संयोग

जब नायक एवं नायिका संयोग की स्थिति में दर्शन, स्पर्श एवं प्रेमालाप आदि सुखों का आनन्द लेते हैं तो उस स्थिति को संयोग शृंगार कहा जाता है। परस्पर अलिंगन, स्पर्श आदि इसके असंख्य भेद माने गये हैं।

रस तरंगिणीकार भानुदत्त की दृष्टि में युवक एवं युवति का परिपूर्ण प्रमोद या आनन्द ही शृंगार रस है। इसका रति रूप स्थायी भाव होता है। नायक एवं नायिका का परस्पर प्रेमानुकूल दर्शन, स्पर्श एवं अलिंगन आदि का अनुभूयमान सुख ही संयोग शृंगार है। यहां संयोग बाह्येन्द्रिय सम्बन्ध से होता है। यह सम्बन्ध शृंगार के अन्तर्गत तभी माना जा सकता है जब वह उभय पक्ष से स्वीकृत हो अर्थात् नायक एवं नायिका दोनों ही अनुकूल हों। एक पक्ष में रति का अधिक्य अथवा बलात्कार के समान अनुचित संयोग या रति का न्यूनाधिक वर्णन शृंगार रसाभास के अन्तर्गत आता है।

"तत्र दर्शन स्पर्श संलापादिभिरितरेतरमनुभूयमानं

सुखं परस्पर संयोगेनोत्पद्यमान आनन्दो वा संयोगः ।[31]

संयोगो बहिरिन्द्रिय सम्बन्धः ।

"यूनोरन्योन्यं मुदितानां पञ्चेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावोऽभीष्टावाप्तिर्वा विप्रलम्भः" ।[32]

वियोग काल में परस्पर स्त्री पुरुष में प्रेम का होना विप्रलम्भ शृंगार कहलाता है। इसमें मिलन का अभाव रहता है। विश्वनाथ की दृष्टि में उत्कट अनुराग होने पर भी प्रिय समागम का अभाव विप्रलम्भ शृंगार है—

"यत्र तु रतिः प्रकृष्टानाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ ।

सच पूर्वराग प्रवास मान करुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्" ।[33]

उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयोग शृंगार में नायक एवं नायिका एक साथ रह कर संयोग सुख का अनुभव करते हैं किन्तु

वियोग में वे पृथक् रह कर व्याकुलता पूर्वक काल-यापन करते हैं। संयोग में उनकी प्रवृत्तियां बहिर्मुखी होती हैं तो वियोग में अन्तर्मुखी। संयोग में प्रेम का उपयोग होता है तो वियोग में वह राशीभूत हो जाता है। इसलिए वियोग को प्रेम का निकष कहा है। वस्तुतः प्रेम की परीक्षा वियोग के समय होती है वियोगाग्नि में तप्त होकर प्रेमी कांचन के समान उज्वल एवं देदीप्यमान बनता है। वियोग को शृंगार रस का शृंगार कहा गया है।

विप्रलम्भ शृंगार को चार भेदों में विभक्त किया गया है--

(1) पूर्वराग
(2) मान
(3) प्रवास
(4) करुणात्मक

पूर्वानुराग या पूर्वराग—चित्र दर्शन, गुण श्रवण, स्वप्न दर्शन एवं प्रत्यक्ष दर्शन के द्वारा इसका उदय होता है। समागम के पूर्व नायक एवं नायिका के हृदय में मिलन की उत्कण्ठा के कारण उत्पन्न होने वाली व्याकुलता को पूर्वराग की संज्ञा दी जाती है।

विश्वनाथ के मत से सौन्दर्य आदि गुणों के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की समागम से पहली दशा का नाम पूर्व-राग है।

मान—मान का अर्थ है कोप करना। दम्पती में किसी एक के अपराध के कारण इसका उदय होता है। संयोग की स्थिति में मिलन के अभाव को मान कहा गया है। उसके दो भेद है—

(1) प्रणय मान
(2) ईर्ष्यामान

प्रेमाधिक्य के कारण जो मान होता है उसे प्रणय मान कहते हैं। यह केवल वियोग का आनन्द लेने एवं प्रेम की तीव्रता प्रदान करने के लिए होता है।

नायक के अन्य स्त्री के साथ प्रेम करने के कारण कोप करना ईर्ष्या-मान कहलाता है। यह मान पत्नी द्वारा पति के परनायिकाकर्षण के देखे जाने, अनुमान करने एवं श्रवण करने से उत्पन्न होता है। विश्वनाथ ने उत्स्वप्नायित जन्य, भोगांकजन्य एवं गोत्रस्खलन जन्य–ये तीन प्रकार स्वीकार किये हैं।

साहित्य शास्त्र में साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा एवं रसान्तर–ये 6 उपाय मानमोचन के उपचार के रूप में प्रस्तुत किये हैं।

प्रवास—कार्यवश, शापवश अथवा भयवश नायक के अन्य देश में चले जाने को प्रवास विप्रलम्भ कहते हैं। यह भावी, वर्तमान एवं भूत–तीन प्रकार का होता है।

करुणात्मक—नायक एवं नायिका का परस्पर किसी कारण से मिलन नहीं होना करुणात्मक विप्रलम्भ है। इसमें मिलन की आशा के न होने पर भी दोनों के हृदय में रतिभाव बना रहता है, किन्तु दोनों में से एक की मृत्यु हो जाने पर वह शुद्ध करुण हो जाता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में करुणात्मक विप्रलम्भ शृंगार एवं करुण रस में अन्तर स्पष्ट करना असंगत नहीं होगा। करुण तथा विप्रलम्भ शृंगार की स्थिति के बिषय में कभी-कभी भ्रम हो जाता है। उनकी सीमा अलग-अलग है। भ्रम की सम्भावना मुख्यतः प्रेमियों के वियोग की अवस्थाओं में रहती है। प्रेमियों का वियोग दो प्रकार का हो सकता है—(1) स्थायी वियोग (2) अस्थायी वियोग। दोनों प्रेमियों के जीवन काल में, जो वियोग किसी कारण से होता है वह अस्थायी वियोग होता है और वह विप्रलम्भ शृंगार की परिधि में आता है। किन्तु दोनों प्रेमियों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर जो वियोग होता है उसमें पुनः मिलने को कोई आशा या सम्भावना नहीं रहती है। इसलिये वह स्थायी वियोग होता है। वह करुण रस की सीमा के अन्तर्गत माना जाता है। इस प्रकार जहाँ तक प्रेमियों के वियोग का सम्बन्ध है उसमें करुण विप्रलम्भ शृंगार तथा करुण रस की सीमा रेखा मृत्यु है। मृत्यु से पूर्व तक विप्रलम्भ शृंगार एवं मृत्यु के अनन्तर करुण रस का क्षेत्र आता है।

कतिपय काव्य शास्त्रियों ने मृत्यु के बाद फिर समागम की स्थिति में करुण विप्रलम्भ नाम से विप्रलम्भ के एक अलग भेद की कल्पना की है। साहित्य दर्पणकार की दृष्टि में—

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदेकस्तदा भवेत् करुण विप्रलम्भः।[34]

करुण विप्रलम्भ का स्थायी भाव रति है और करुण का स्थायी भाव है शोक। करुण विप्रलम्भ में मिलन असम्भव होने पर भी रति भाव वर्तमान रहता है किन्तु करुण रस में मृत्यु हो जाने के कारण रति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। करुणात्मक विप्रलम्भ वियोग की चरम परणिति है। इसका सम्बन्ध जीवन के साथ होता है एवं जीवन की समाप्ति के साथ यह भी समाप्त हो जाता है।

प्राचीन साहित्य शास्त्र-मनीषियों ने काम की दस दशाओं का निरूपण किया है। विप्रलम्भ शृंगार में वियोग जन्य ये काम दशाएँ वियोगिनी के जीवन में क्रमशः घटित होती हैं। इनको इस प्रकार परिगणित किया गया है—

(1) अभिलाषा
(2) चिन्ता
(3) स्मरण
(4) गुण कथन
(5) उद्वेग
(6) प्रलय
(7) उन्माद
(8) व्याधि
(9) जडता
(10) मरण

(1) अभिलाषा—वियोग अवस्था में मिलन की उत्कण्ठा को 'अभिलाषा' कहते हैं।

(2) चिन्ता— प्रियतम की प्राप्ति के उपाय के चिन्तन को 'चिन्ता' की संज्ञा दी गयी है।

(3) स्मरण— वियोगावस्था मे प्रियतम के सम्भोग सुखों एवं अन्य प्रेम युक्त बातों का स्मरण करना 'स्मरण' दशा होती है।

(4) गुण-कथन—वियोग के समय प्रियतम के गुणों के संकीर्तन को 'गुण-कथन' कहा जाता है।

(5) उद्वेग— प्रिय के वियोग में व्याकुल होकर किसी विषय में किसी प्रकार चित्त का नहीं लगना 'उद्वेग' है।

(6) प्रलाप— प्रियतम के विरह जन्य दुःख से व्यथित होकर विरही जनों का निरर्थक बातें करना 'प्रलाप' की संज्ञा में आता है।

(7) उन्माद वियोगजन्य व्यथा से व्यथित होकर विरही द्वारा जड एवं चेतन के विवेक की खो देना और उन्मत्त की भाँति कार्य करना 'उन्माद' कहा जाता है।

(8) जडता-- वियोग की तीव्रता के कारण शरीर का निश्चेष्ट हो जाना 'जडता' कही जाती है।

(9) व्याधि— विरह जनित पीडा के कारण शरीर का रोगग्रस्त होकर दीर्घश्वास लेना, पीला पडना एवं दुर्बल हो जाना 'व्याधि' के नाम से कहा जाता है।

(10) मरण— प्राण-त्याग को 'मरण' कहा गया है। परन्तु काव्य शास्त्र में मरण का चित्रण नहीं होता, केवल मृत्यु-जन्य पीडा का वर्णन किया जाता है।

उपरिनिर्दिष्ट काम दशाओं का चित्रण प्रायः सभी आचार्यो ने किया है। ये दशाएँ नायक या नायिका के विरही जीवन में समावेश प्राप्त कर सकती है। परन्तु प्रायः कवियों को नायिका के विरह-वर्णन में अधिक रस मिलता है और इसीलिए नायिका के जीवन में इन सभी दशाओं का क्रमशः वर्णन किया है।

शृंगार रस का विभावानुभावादि रूप में इस प्रकार निरूपण किया गया है--

(1) स्थायी भाव--शृंगार का स्थायी भाव 'रति' माना गया है।

(2) विभाव — आश्रय–नायक या नायिका इसके आश्रय होते हैं। जिसके हृदय में रस का परिपाक हो उसे 'आश्रय' कहा गया है। विभाव के प्रायः दो भेद किये गये हैं—आलम्बन और उद्दीपन।

जहाँ भाव टिकता है या स्थिर रहता है उसे आलम्बन कहते हैं। भाव को उद्दीप्त करने वाले को उद्दीपन कहते हैं। आलम्बन की चेष्टाएँ भी उद्दीपन होती है। इस प्रकार उद्दीपन भी दो प्रकार का हुआ—

(1) आलम्बन की चेष्टाएँ।

(2) बाह्य परिस्थिति एवं वातावरण।

विभाव रस के कारण होते हैं। इसका अर्थ है विशेष प्रकार का भाव। यह निमित्त कारण अथवा हेतु शब्द का वाचक है। लौकिक हेतु निमित्त या कारण के लिए रस शास्त्र में विभाव शब्द का प्रयोग होता है।

भरत के अनुसार विभाव शब्द का अर्थ है विज्ञान।[35] इसके द्वारा स्थायी एवं व्यभिचारी भावों का विशेष प्रकार से बोध होता है और ये अभि-नयों के द्वारा विभावित होते हैं।

विश्वनाथ की दृष्टि में ये रति आदि स्थायी भावों के उद्बोधक या उनकी उत्पत्ति के कारण होते हैं।[36]

रसज्ञापन के कारण विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। पण्डितराज जगन्नाथ ने वित्तवृत्ति विशेष के विषय को आलम्बन कहा है

यस्याः चित्तवृत्तेः यो विषयः स तस्या आलम्बनम्।[37]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[38] का कहना है कि काव्य में विभाव ही मुख्य है। भावों के प्रकृत आकार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथावत् प्रत्यक्षीकरण कवि का सर्वप्रथम एवं सब से आवश्यक कार्य है। इसके अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं—

(1) आलम्बन (भाव का विषय)

(2) आश्रय (भाव का अनुभव करने वाला)

इनमें से प्रथम तो मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है किन्तु दूसरा हृदय सम्पन्न मनुष्य ही होता है।

आलम्बन विभाव दो प्रकार का होता है—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन इत्यादि भावों को जाग्रत करने के कारण हैं एवं उन्हीं का अवलम्बन कर स्थायी भाव जाग्रत होते हैं—

आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्।[39]

विश्वनाथ की दृष्टि में काव्य-नाट्य में वर्णित नायक आदि को आलम्बन कहा जाता है क्योंकि इन्हीं के सहारे सहृदयों के हृदय में रस का संचार होता है। जिन व्यक्ति या व्यक्तियों में भाव की उत्पत्ति होती है उन्हें 'आश्रय' कहते हैं। अर्थात् जिसमें रस की उत्पत्ति हो वह आश्रय है।[10] भाव प्रकाशन में आलम्बन को ही वास्तविक रसभूमि कहा गया है।

आचार्य शुक्ल ने रस की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए उसे कल्पना का प्रमुख क्षेत्र माना है। 'रस के संयोजक जो विभावादि हैं वे ही कल्पना के प्रधान क्षेत्र हैं। कवि की कल्पना का पूर्ण विकास इन्हीं में देखना चाहिये।[41]

उद्दीपन—रस को तीव्र या उद्दीप्त करने वाले विभाव को उद्दीपन विभाव की आख्या दी जाती है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार नायक नायिकादि की विविध चेष्टाएं आभूषण, वस्त्र एवं देश-काल आदि उद्दीपन के अन्तर्गत आते है—

उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।

आलम्बनस्य चेष्टाद्याः देशकालादयस्तथा।[42]

(1) आलम्बन के गुण–आलम्बन के गुणों के अन्तर्गत उसका सौन्दर्य, यौवन आदि माने जाते हैं।

(2) चेष्टाएं–आलम्बन की चेष्टाओं में हावभाव आदि का समावेश होता है।

(3) अलंकरण–अलंकरण में आलम्बन के आभूषण एवं अंगराग आदि समाविष्ट होते हैं।

(4) तटस्थ–तटस्थ में चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर मलयानिल आदि परिगणित किये जाते हैं।

रस के इन सभी उपकरणों को दो भागों में विभक्त किया गया है–

(1) भाव

(2) विभाव

विभाव के अन्तर्गत समस्त विश्व समाहित है। मानव एवं मानवेतर प्रकृति इसमें निहित हैं।

भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी और अस्थायी। स्थायी भाव रस में आदि से अन्त तक विद्यमान रहते हैं। उन्हें रस का मूल कहा गया है। अस्थायी भाव के अन्तर्गत संचारी अथवा व्यभिचारी भाव आते हैं, जिनकी स्थिति क्षणिक होती है। वे लहर की भांति उठकर अल्पकाल में ही अपना काम सम्पन्न कर विलीन हो जाते हैं। इनका उद्देश्य स्थायीभाव को गतिशील करना है। अतः ये उसके सहायक होते हैं।

आन्तरिक भावों की बाह्यस्थिति या अभिव्यक्ति को अनुभाव कहा जाता है। उनके द्वारा रस का बोध या प्रतीति होती है। अनुभाव रस के कार्य हैं तथा भावों के सूचक भी। अनु अर्थात् पीछे-भावों के पीछे अर्थात्-विभाव के बाद उत्पन्न होने के कारण इन्हें अनुभाव कहा जाता है। भरत ने कहा है कि अनुभावों के द्वारा वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय अनुभावित होते हैं। अतः इनको अनुभाव कहते हैं।[43]

दशरूपककार[44] धनञ्जय ने अनुभावों को भावों की सूचना देने वाला या भावों का भावन करने वाला विकार कहा है। अनुभावों के द्वारा आश्रय के हृदयस्थित भावों को प्रकट कर सहृदयों को साक्षात्कार कराया जाता है। रस को अनुभव गोचर करना ही अनुभावों का प्रधान कार्य है। कटाक्ष एवं भुजाक्षेप आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

विश्वनाथ के अनुसार हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले अङ्गादि व्यापार अनुभाव हैं। लौकिक अङ्गादि व्यापार

जो कार्य समझे जाते हैं वे काव्य में अनुभाव की अलौकिक संज्ञा से कहे जाते हैं ।[45] अनुभावों के द्वारा हृदयस्थ रत्यादि भावों का अनुभव होता है एवं आन्तरिक भावों की बाह्य अभिव्यक्ति होती है । ये मनोगत भावों के साक्षात् अभिव्यञ्जक उपादान है । अनुभाव शारीरिक विकार है इनके द्वारा रस की पुष्टि होती है ।

अनुभावों को भरत ने[46] तीन प्रकार का बताया है—

(1) वाचिक
(2) आङ्गिक
(3) सात्त्विक

भानुदत्त का नामकरण इससे पृथक् है । उन्होंने इसके चार प्रकार माने हैं– कायिक मानसिक, आहार्य एवं सात्त्विक । भुजक्षेप आदि को कायिक, प्रमोद आदि को मानसिक, नाटक में चतुर्भुजत्व का ज्ञान होना आहार्य तथा रोमाञ्च आदि को सात्त्विक अनुभाव माना गया है ।

भावों का वर्णन करते हुए भरत ने आठ सात्त्विक भावों की पृथक् रूप से चर्चा की है । भरत की दृष्टि में इन्हें सत्त्व मन से उत्पन्न अर्थात् सम्भव होने वाला स्वीकार किया है । उसकी उत्पत्ति समाहित मन से की गयी हैं । मन की एकाग्रता में सत्त्व की निष्पत्ति होती है । उसका भावों के अनुरूप रोमाञ्च अश्रु, वैवर्ण्य आदि लक्षण वाला जो स्वभाव है, उसका अन्यमनस्क भाव से अनुकरण नहीं किया जा सकता । भरत ने सात्त्विक भावों को आठ भागों में विभक्त किया है –

स्वेद स्तम्भोऽथ रोमाञ्च स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ।[48]

विश्वनाथ ने सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न मनोविकार को सात्त्विक भाव माना है ।[49] सत्त्व को आन्तर धर्म कहा गया है अतएव सत्त्व से उत्पन्न भाव भी आन्तर भाव कहलाते हैं । सात्त्विक भाव भी रस के प्रकाशक होते है अतएव विश्वनाथ ने गोबलीवर्द न्याय से इसका पृथक् वर्णन किया है । सात्त्विक भाव अनुभावों की ही श्रेणी में आते हैं तथापि अनुभावों से वैशिट्य प्रदर्शित करने के लिए ही इसका वर्णन पृथक् किया गया है ।[50]

इस प्रकार सात्त्विक भावों से स्वतः स्फुटित होने वाले शारीरिक अङ्ग-विकार आते हैं । इसका उद्बोधन स्वाभाविक रूप से होता है । अनायास ही शरीर में सम्भूत होने के कारण इन्हें सत्त्व सम्भूत माना गया है ।

व्यभिचारी भाव

व्यभिचारी भाव का अपर नाम संचारी भाव भी है । इसकी व्युत्पत्ति

वि अभि चर के रूप से होती है। इसमें 'वि' विविधता का द्योतक है एवं अभि और चर क्रमशः आभिमुख्य एवं संचरण के बोधक हैं। यहां वि और अभि दोनों उपसर्ग है तथा चर गत्यर्थक धातु हैं। ये विविध प्रकार से रसों की ओर उन्मुख होकर संचरणशील होते हैं अतः उन्हें संचारी कहते है। विविध रूपों में रसों की ओर अनुकूल होकर संचरण करना ही इनकी महत्त्व पूर्ण विशेषता है। यह संचरण, वाक्, अंग एवं सत्त्व आदि के द्वारा होता है। धनञ्जय ने समुद्र में लहरों की भांति उठते और डूबते भावों को संचारी भाव कहा है।[51] इनका अविर्भाव एवं तिरोभाव स्थायी के ही अनुकूल होता रहता है। इस प्रकार ये स्थायी भाव के सहायक सिद्ध होते हैं।

सारांश यह हुआ कि रस के उपकारक होकर तरङ्गों की भांति उठने और गिरने वाली चित्त की अस्थिर मनोवृत्तियों को संचारी भाव की संज्ञा दी जाती है। संचारी संचरण या फैलने का द्योतक है।

रसार्णव सुधाकर[52] में व्यभिचारी भाव की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या की गयी है, जिससे पूर्व निर्दिष्ट सभी मतों का समन्वय हो जाता है। संस्कृत रसशास्त्रियों ने संचारी भाव की, मुख्यतः भरत एवं धनञ्जय की परिभाषा को स्वीकार किया है। संचारी भाव की तीन विशेषताएं हैं—

(1) स्थायी भाव का उपकारक होकर उनको दीपित करना तथा स्थायी भाव को रस दशा तक पहुँचाना।

(2) स्थायी भाव के साथ इनका सम्बन्ध समुद्र और लहर के समान होता है। वे डूबते उतराते रहते हैं।

(3) ये क्षणिक भाव हैं अथवा मन की अस्थिर वृत्तियां हैं, जिन्हें अनवस्थित जन्मवाला कहा जाता है। स्थिर नहीं रहना ही इनकी अपनी विशेषता है।

संचारियों की संख्या तेतीस है तथापि आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि संचारी भावों की संख्या का सीमा-निर्धारण नहीं हो सकता—

'निर्वेदग्लानिशङ्काख्या स्तथासूया मदश्रमाः।
आलस्यञ्चैव दैन्यञ्च चिन्ता मोहः स्मृति धृतिः।
क्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च।
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थातथोग्रता
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च।

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः।

विरोध एवं अविरोध के विचार से आचार्य शुक्ल[53] ने संचारियों के चार भेद किये हैं :–

(1) सुखात्मक-गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, सन्तोष, चपलता, मृदुलता धैर्य।

(2) दु.खात्मक-लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिन्ता, नैराश्य, उग्रता, मोह, आलस्य, उन्माद, असन्तोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण तथा व्याधि।

(3) उभयात्मक-आवेश, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जडता, स्वप्न, चित्त की चपलता।

(4) उदासीन-वितर्क, मति, श्रम, निद्रा, एवं विबोध।

स्थायी भाव

संचारियों के विवेचन में भरत का दृष्टिकोण मुख्यतः अभिनयात्मक रहा है। उसका मनोवैज्ञानिक रूप गौण है। रस की प्रक्रिया में जब आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव को रस का बाह्य कारण समझा गया है तो रसानुभूति का आन्तरिक एव मुख्य कारण स्थायी भाव है। स्थायी भाव मन में स्थिर रूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है, जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उद्बोधक सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त हो उठता है। तथा हृदय में एक अपूर्व आनन्द का संचार करता है। इस स्थायी भाव की अभिव्यक्ति ही रसा-स्वादजनक अथवा रस्यमान होने से रस शब्द से बोध्य होती है। इसीलिए मम्मट ने कहा है—

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायि भावो रसः स्मृतः।

साराँश यह है कि हृदय में वासना रूप में वर्तमान भाव जो रस में प्रारम्भ से अन्त तक रहता है और जिसे अनुकूल अथवा प्रतिकूल भाव न तो अपने में छिपा सकते हैं और न दबा ही सकते हैं, उसे स्थायी भाव की संज्ञा दी जाती है। यह रस का मूल भाव होता है। विश्वनाथ की दृष्टि में यह चित्त का स्थिर मनोविकार है, जो विरोधी अथवा अविरोधी, प्रतिकूल अथवा अनुकूल दोनों प्रकार की स्थितियों में निरन्तर विद्यमान रहता है। यह विरोधी एवं अविरोधी भावों को अन्तर्हित कर आत्मभाव प्राप्त कर लेता है, मित्र एवं शत्रु दोनों को परस्पर मिला देता है।[54] स्थायी की वासना रूपता का विचार

सर्व प्रथम अभिनव गुप्त ने प्रस्तुत किया ।[55] इसी की सम्पुष्टि मम्मट ने की । भरत ने अन्य भावों से अधिक महत्त्व देते हुए स्थायी भाव के सम्बन्ध में लिखा कि जिस प्रकार समान शारीरिक अवयव वाले व्यक्ति कुल, शील, विद्या, कर्म एवं शिल्प के विलक्षण होने से राजा बन जाते हैं और अन्य व्यक्ति अल्पज्ञान युक्त होने के कारण उसके अनुचर बन जाते हैं उसी प्रकार विभावादि स्थायी भाव के आश्रित होते है ।[56]

स्थायी भाव की महत्ता रस में इसके अविच्छिन्न प्रवाह के कारण है । यह अन्य भावों को उसी प्रकार आत्मीय बना लेता है, जिस प्रकार विभिन्न सरिताओं के मधुर जल को लवणाकर अपने में मिला कर नमकीन बना देता है—

आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।[57]

पण्डित राज जगन्नाथ के अनुसार आप्रबन्ध स्थित रहने के कारण उसे स्थायी की संज्ञा प्राप्त हुई है ।[58]

रसावस्था तक पहुँचने का श्रेय स्थायी भाव को ही है । अन्य भाव रसत्व को प्राप्त नहीं हो सकते । कोई भी संचारी भाव विभावानुभावादि से सम्पुष्ट हो स्थायी की तरह रस-प्रतीति नहीं करा सकता ।

भरत ने स्थायी भावों की संख्या आठ निर्धारित की है—रति, हास, शोक, क्रोध, बीभत्स, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय । कालान्तर में शान्त रस की कल्पना करने के कारण 'निर्वेद' या 'शम' स्थायी भाव को भी समाविष्ट कर लिया गया । आगे चलकर 'वत्सल' एवं 'देव विषयक रति' को भी स्थायी भावों में स्वीकार कर लिया गया ।

उक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि—

(1) प्रभाता के चित्त में वासना रूप से इसकी उपस्थिति रहती है । कारण के अभाव में भी स्थायी विद्यमान रहता है जब कि संचारी कारण-भाव में नष्ट हो जाते हैं । स्थायी स्थिर मनोदशा है और संचारी अस्थिर ।

(2) व्यावहारिक रूप से स्थायी का संचारी से इसलिए भी महत्त्व अधिक है कि स्थायी जीवन की मूल प्रवृत्तियों से सम्बद्ध रहते हैं । अतः उनका सम्बन्ध पुरुषार्थ चतुष्टय-धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष से स्वाभाविक रूप से स्थापित हो जाता है ।

(3) स्थायी में प्रबलता अधिक होती है तथा एक मात्र वही भाव रसत्व को प्राप्त होता है । इसमें रंजन करने की शक्ति अधिक होती है ।

रति

रति श्रृंगार रस का स्थायी भाव माना जाता है। रति शब्द के तीन अर्थ प्रचलित हैं— (1) काम देव की पत्नी (2) अनुरक्ति अथवा प्रीति (3) रमण क्रीड़ा अथवा स्त्री पुरुष का सम्भोग। ये तीन प्रकार के अर्थ रति शब्द से द्योतित होते हैं। रस ग्रन्थों में 'रति' शब्द श्रृंगार रस के स्थायी भाव का वाचक है। रति अर्थ अनुरक्ति, प्रीति या आकर्षण से लिया जाता है। स्त्री-पुरुष का परस्पर प्रेमानुराग रति शब्द से बोध्य होता है। इसे स्त्री-पुरुष की परस्पर नैसर्गिक आसक्ति भी कहा जाता है। देवता, राजा, मुनि, गुरु आदि के विषय में उत्पन्न होने वाली रति या प्रीति को स्थायी भाव नहीं माना जा सकता। मम्मट के अनुसार कान्ता के प्रति व्यक्त की गयी रति श्रृंगार है और गुरु, नृप, पुत्र, मुनि आदि के प्रति रंजित रति को भाव कहा जाता है—

"रति र्देवादि विषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्त...."।[59]

भरत मुनि के अनुसार रति की उत्पत्ति अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से होती है। उसका आधार आनन्द है। उसकी उत्पत्ति ऋतु, माला, लेप, आभरण, भोजन, सुन्दर भवन एवं अनुकूल भावों के कारण होती है। इसका अभिनय स्मित वदन, मधुरवाणी, भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभावों के द्वारा होता है।

"रतिर्नाम प्रमोदात्मिका ऋतुमाल्यानुलेपनाभरण भोजन वर-
भवनानुभवनाप्रातिकूल्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते।
तामभिनयेत् स्मितवदन मधुरकथन भ्रूक्षेप कटाक्षादिभिरनुभावैः।[60]

भोजराज के अनुसार मनोनुकूल विषयों में सुख का संवेदन अर्थात् अनुभव होना रति है। आचार्य हेमचन्द ने नायक नायिका के परस्पर आस्था बद्ध होने को रति कहा है।[61]

आचार्य मम्मट 'रति' शब्द का व्यापक अर्थ करते हुए उसे भाव की स्थिति में उपस्थित कर देते हैं। उन्होंने कान्ता विषयक रति को श्रृंगार का साध्य माना है। विश्वनाथ प्रिय वस्तु के प्रति मन की उत्कृष्ट अभिलाषा को 'रति' मान कर वस्तु के प्रति आकर्षण प्रकट करते हैं। जगन्नाथ ने नारी एवं पुरुष दोनों के प्रति परस्पर प्रेमात्मक चित्त वृत्ति को रति माना है। संस्कृत काव्य शास्त्रों में कहीं इसका संकुचित अर्थ भी प्रयुक्त हुआ दृष्टिगोचर होता है। सुधा सागर में स्त्री एवं पुरुष की परस्पर रमणेच्छा को जो वासनामय होती है, रति कहा गया है—

'स्मरकरम्बितान्तःकरणयोः स्त्रीपुंसयोः परस्परं रिरंसा रतिःस्मृता,'।

भाव प्रकाशन में शारदातनय ने रति भाव के उत्तरोत्तर विकास की 6 अवस्थाएं बताई हैं- प्रेम, मान, प्रणय, स्नेह, राग एवं अनुराग।

उनकी दृष्टि में स्त्री पुरुष के भेद-रहित भाव बन्धन में प्रेमावस्था होती है। विद्यानाथ ने[62] स्त्री पुरुष के परस्पर आनन्दजनक दर्शन, आलिंगन आदि कर्म को सम्भोग कहा है तथा उसी की इच्छा को रति की संज्ञा दी है—हास-यह हास्य रस का स्थायी भाव है। विकृत वेषभूषा अथवा वचन के विकार से हृदय में उत्पन्न आनन्द के कारण हंसी का आना हास कहलाता है। आचार्य भरत के अनुसार हास की उत्पत्ति अन्य व्यक्तियों की चेष्टा के अनुकरण से होती है।[63] इसका प्रदर्शन स्मित, हास एवं अति हास के रूप में होता है। उन्होंने हास की उत्पत्ति में दूसरे की चेष्टाओं का अनुकरण, असम्बद्ध प्रलाप एवं मूर्खता को कारण माना है। हेमचन्द्र ने चित्त के विकास को हास की संज्ञा से बोधित किया है।[64]

विश्वनाथ ने प्रतिपादित किया है कि वाणी की विकृति के दर्शन से चित्त का विकसित होना हास है।[65]

पण्डितराज जगन्नाथ की दृष्टि में दूसरों के वचन, अङ्ग एवं वेश में विकृति के दर्शन से उत्पन्न होने वाली विकास नामक चित्तवृत्ति का नाम हास है।[66]

हास स्थायी भाव में हास्य की व्यञ्जना ही होती है। उसमें हास्य की पूर्णता नहीं होती। हास्य की पूर्णता होने पर वह स्थायी भाव न रह कर रस बन जाता है। भावों की परिपक्वावस्था ही रस कहलाती है।

शोक—

शोक करुण रस का स्थायी भाव है। प्रिय वस्तु के नाश से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता को शोक की संज्ञा दी जाती है। भरत ने इष्टजन वियोग, धन या विभव का नाश, प्रिय व्यक्ति की मृत्यु एवं प्रिय के कारावास से उत्पन्न दुःख को शोक कहा है—

> **"शोकोनाम इष्टजन वियोग विभवनाश बध-बन्ध दुःखा—**
> **नुभवादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।"**[67]

विश्वनाथ ने इष्टनाश के कारण उत्पन्न चित्त की उद्विग्नता को शोक कहा है।[68] पण्डितराज जगन्नाथ की दृष्टि में इष्टजन के वियोग के अतिरिक्त पुत्रादि की मृत्यु के कारण उत्पन्न होने वाली चित्त की व्याकुलता शोक है।[69]

प्रस्तुत कथनों के आधार पर इष्ट का नाश, प्रिय जन का वियोग, पुत्रादि की मृत्यु अथवा प्रियजनों के कारागार में बन्द हो जाने के दुःख के

कारण शोक का उदय होता है। स्त्री एवं पुरुष के वियोग के कारण उत्पन्न व्याकुलता में विप्रलम्भ श्रृंगार है। प्रेम पात्र की मृत्यु के कारण ही शोक होता है। सारांश यह है कि इष्ट का नाश एवं अनिष्ट की प्राप्ति में ही करुण रस होता है। प्रेम पात्र की मृत्यु का ज्ञान होने पर करुण रस की निष्पति होगी तथा वहां शोक स्थायी भाव होगा।

क्रोध—

क्रोध रौद्ररस का स्थायी भाव है। शत्रुकृत भीषण अपराध अथवा अपमान आदि से हृदय में उत्पन्न हुए उत्तेजना पूर्ण भाव को क्रोध कहा गया है। भरत ने बताया है कि क्रोध, औद्धत्य, अश्लील वाक्य, कलह, विवाद एवं प्रतिकूल भावों या विरोध के कारण उत्पन्न होता है। फूले हुए नासापुट, घूमते हुए नेत्र एवं फडकते हुए ओष्ठ एवं कपोल आदि अनुभावों के द्वारा यह प्रकट होना चाहिये।[70]

भरत ने पाँच प्रकार के क्रोधों का उल्लेख किया है—

(1) शत्रु द्वारा उत्पन्न क्रोध
(2) गुरुजनों द्वारा उत्पन्न क्रोध
(3) प्रेमियों द्वारा उत्पन्न क्रोध
(4) भृत्यों द्वारा उत्पन्न क्रोध
(5) छल-कपट से उत्पन्न क्रोध

उन्होंने क्रोध स्थायी भाव के व्यञ्जक कई अनुभावों का वर्णन किया है, जिनमें ये अनुभाव मुख्य है—

(1) भ्रूकुटी टेढी करना
(2) मुख भयकर बनाना
(3) ओठ चबाना
(4) ताल ठोकना
(5) सिर एवं वक्ष का स्पर्श करना
(6) शस्त्र घुमाना।

गुरुओं के प्रति अनुभाव कुछ-कुछ नियन्त्रित एवं सीमित रहते हैं। जैसे मुँह थोड़ा झुका लेना, आँखों में आँसू भर लाना तथा किसी प्रकार की उद्दण्डता का प्रदर्शन नहीं करना।

भय—

भयानक रस का स्थायी भाव 'भय' होता है। भीषण वस्तु की भयंकरता से उत्पन्न चित्त की विकलता को भय कहते हैं। भरत के[71] अनुसार भय

का सम्बन्ध स्त्रियों एवं निम्न श्रेणी के व्यक्तियों से होता है। इसकी उत्पत्ति गुरुजनों एवं राजा के प्रति किये गये अपराध, भयानक वस्तु का दर्शन एवं भयप्रद घोर ध्वनि के सुनने के कारण होती है।[72] इसके अतिरिक्त भय की उत्पत्ति के कारण भी निर्देशित किये गये है, जैसे बन में भ्रमण करना, गज एवं सर्प दर्शन, शून्य गृह में निवास, अपने से बड़े व्यक्तियों की भर्त्सना, वर्षाकालीन रात्रि, उलूक एव रात्रि में निकलने वाले भयंकर जीवों के दर्शन आदि।

उन्होंने भय के अनुभावों का वर्णन करते हुए निर्देशित किया है कि रङ्गमञ्च पर भय का प्रदर्शन हाथ एवं पैर कंपाकर, हृदय की धड़कन दिखाकर, स्तब्ध होकर, मुख का सूख जाना दिखाकर, पसीने लाकर, वेपथु के द्वारा त्रास दिखाकर, रक्षा की खोज प्रदर्शित कर, डर से दौड़कर एवं जोर से चिल्लाकर करना चाहिये।

आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार रौद्र की शक्ति या भयंकर वस्तु की भीषणता से उत्पन्न चित्त के भाव को भय कहा गया है।[73] पण्डितराज जगन्नाथ की दृष्टि में व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं के दर्शन से अत्यन्त अनर्थ उत्पन्न करने वाली विह्वलता नामक मानसिक स्थिति भय है। भय एवं त्रास का अन्तर स्पष्ट करते हुए जगन्नाथ ने कहा है कि जहाँ भयंकर वस्तुओं के दर्शन से उत्पन्न विह्वलता से परम अनर्थ की सम्भावना न हो तो वहां 'भय' स्थायीभाव न होकर 'त्रास' नामक संचारी भाव होता है कुछ विद्वानों का विचार है कि 'त्रास' संचारी भाव की उत्पत्ति भीषण आँधी या वज्रपात से होती है और भय स्वकीय अपराधों के कारण होता है। इसके संचारी भाव हैं—ग्लानि, शंका, चिन्ता, त्रास, दीनता आदि।

उत्साह—

उत्साह वीर रस का स्थायी भाव है। दान, दया, शूरता आदि के द्वारा उत्पन्न हुई वृत्ति को उत्साह नाम से बोधित किया जाता है।

भरत ने अपने नाट्य शास्त्र[75] में इसका उत्तम प्रकृति वाले व्यक्तियों से सम्बन्ध प्रतिपादित किया है। वीर रस की उत्पत्ति अविषाद, शक्ति, धैर्य, शौर्य आदि विभावों के द्वारा होती है एवं धैर्य, त्याग, दानशीलता आदि अनुभावों के द्वारा इसका प्रदर्शन किया जाता है—

"उत्साहो नाम उत्तम प्रकृतिः।

स चाविषाद शक्ति धर्म शौर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।"

नाट्य दर्पणकार ने धर्म, दान एवं युद्ध आदि कार्यों के प्रति आलस्य के अभाव को उत्साह माना है।[76]

विश्वनाथ की दृष्टि में कार्य के आरम्भ में अत्यन्त स्थिर हृदय का आवेग उत्साह के नाम से बोधित होता है—

"कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते'।[77]

पण्डितराज ने इसे दूसरे के पराक्रम एवं दान आदि के स्मरण से उत्पन्न 'उन्नतता' नामक चित्तवृत्ति बताया है।[78]

इस प्रकार सभी परिभाषाओं के विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उत्साह उस मनः स्थिति का द्योतक है, जिसमें मनुष्य अध्यवसाय करने के लिए प्रयत्नशील रहता है और आरम्भ किये गये कार्य के प्रति उसके मन में उत्तरोत्तर आवेश का विकास होता रहता है तथा उस कार्य को पूर्ण करने में उसकी प्रवृति लगी रहती है। इसके संचारी भाव है—हर्ष, मति, गर्व, धृति, दया, आवेग आदि। इस भाव की व्यंजना शक्ति, शौर्य एवं धैर्य के प्रदर्शन से होती है।

जुगुप्सा

बीभत्स रस के स्थायी भाव का नाम जुगुप्सा है। घृणोत्पादक वस्तुओं के देखने, सुनने एवं स्मरण करने से चित्त में उत्पन्न होने वाली घृणा के भाव को जुगुप्सा कहा जाता है।

भरत ने इसे स्त्री एवं नीच प्रकृति के पात्रों से सम्बद्ध स्वीकार किया है। इसकी उत्पत्ति घृणित, या असुन्दर पदार्थो के दर्शन या श्रवण से होती है। इस रस की अभिव्यंजना सभी अंगों के संकोच के द्वारा मुख को नीचा कर एवं थूकते हुए —अनुभावों के द्वारा की जाती है—

''जुगुप्सा नाम स्त्री नीच प्रकृतिका। स चाहृद्य —
दर्शन- श्रवणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते।''[79]

हेमचन्द्र ने 'सङ्कोचो जुगुप्सा' कहकर संकोच की मनः स्थिति को जुगुप्सा कहा है। इस रस के घृणास्पद वस्तुओं को देखकर इन्द्रियों में संकोच होता है।[80]

विश्वनाथ के मत में दोष युक्त पदार्थ के दर्शन के कारण उत्पन्न घृणा ही जुगुप्सा है।[81] पण्डितराज जगन्नाथ ने घृणित पदार्थ के देखने से उत्पन्न हुई 'घृणा' नामक चित्त वृत्ति को जुगुप्सा की संज्ञा दी है।[82] जुगुप्सा की पुष्टि व्याधि, मोह, जडता, ग्लानि आदि संचारी भावों से होती है।

विस्मय—

अद्भुत रस का स्थायी भाव 'विस्मय' या 'आश्चर्य' है। किसी

आश्चर्यजनक पदार्थ अथवा अलौकिक वस्तु के देखने से, जो विस्मय या आश्चर्य होता है, उसे 'विस्मय' कहते हैं। भरत के अनुसार विस्मय की उत्पत्ति माया, इन्द्रजाल, मनुष्य के असाधारण कर्म, उत्कृष्ट चित्र एवं शिल्प आदि विभावों के द्वारा होती है। इस रस की व्यंजना नेत्रविस्तार, निर्निमेष देखना, भ्रूक्षेप, रोमाञ्च, शिरः कम्प एवं साधुवाद आदि अनुभावों के द्वारा होती है।[83]

"कर्मातिशयनिर्वृत्तो विस्मयो हर्ष सम्भवः।

सिद्धिस्थाने त्वसौ साध्यः प्रहर्ष पुलकादिभिः।[84]

विश्वनाथ का कथन है कि लोक मीमांसा का अतिक्रमण करने वाले एवं अलौकिक सामर्थ्य से युक्त पदार्थों के दर्शन के कारण सम्भूत चित्त के विकार को 'विस्मय' कहते हैं।[85] पण्डितराज जगन्नाथ के मत से अलौकिक पदार्थ के दर्शन अथवा श्रवण के कारण उत्पन्न होने वाली विकास नामक मनोदशा 'विस्मय' के नाम से बोध्य है।[86]

विस्मय के साथ सहकारी भाव के रूप में जडता, दैन्य, चिन्ता, वितर्क, हर्ष, चपलता आदि संचारी भाव होते हैं। विस्मय सुखात्मक भाव है। इसमें आश्चर्यजनक पदार्थों का इस प्रकार से वर्णन होता है, जो लोक-सीमा का अतिक्रमण कर मन को चमत्कृत कर देता है।

निर्वेद—

शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद या शम माना जाता है। संसार की अनित्यता देख कर विश्व की वस्तुओं के प्रति वैराग्य की भावना का होना वैराग्य माना गया है। भरत केवल आठ ही रस मानते हैं अतः उन्होंने इसका वर्णन नहीं किया। शान्त रस का रङ्गमञ्च पर अभिनय न होने के कारण भरत ने इसे नहीं माना है।

रुद्रट ने शान्त रस का वर्णन किया है परन्तु उन्होंने इसका स्थायी भाव सम्यक् ज्ञान माना है।[87] भरत ने नाट्य शास्त्र में स्थायी भावों के निरूपण करने के अनन्तर संचारी भावों का वर्णन किया है, जिनमें सर्व प्रथम 'निर्वेद' का ही उल्लेख किया है। इस आधार पर कुछ लोगों का यह कहना है कि भरत ने निर्वेद को स्थायी एवं व्यभिचारी दोनों भाव माना है। नाट्य शास्त्र के षष्ठ अध्याय में शान्त रस का भी वर्णन आता है किन्तु इसे प्रक्षिप्त माना गया है। इस रस का उन्होंने शम स्थायी भाव माना है। निर्वेद संचारी भाव का स्वरूप निर्देश करते हुए भरत ने कहा है[88] कि निर्वेद की उत्पत्ति दरिद्रता, व्याधि, इष्टजन वियोग, तत्त्व ज्ञान आदि के कारण होती है।

आचार्य मम्मट ने शान्त रस का निर्वेद स्थायी भाव माना है —

निर्वेदः स्थायिभावोऽसौ शान्तोऽपि नवमो रसः ।[89]

कतिपय विद्वानों ने निर्वेद को स्थायी एवं संचारी दोनों में ही परिगणित किया है। आचार्य शार्ङ्गदेव ने तत्त्व ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद को स्थायी भाव एवं दरिद्रता, व्याधि, इष्टजन वियोग आदि के द्वारा उत्पन्न निर्वेद को संचारी भाव अंगीकृत किया है।

कालान्तर में आचार्यों ने निर्वेद को शान्तरस का स्थायी भाव स्वीकार किया। हेमचन्द्र की दृष्टि में तृष्णाक्षय[90] अर्थात् विषय वासना की अभिलाषा की सर्वथा निवृत्ति या क्षय ही शम होता है। विद्यानाथ के अनुसार विषयाभिलाष से रहित वैराग्य आदि के कारण उत्पन्न तृष्णाक्षय का नाम शम हैं—

'शमो वैराग्यादिना निर्विकार चित्तत्वम्' ।[91]

विश्वनाथ की दृष्टि में अभिलाषा रहित दशा में उत्पन्न चित्त की अन्तर्मुखता शम कहलाती है।[92] पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे शम न कह कर निर्वेद कहा है। उनका मत है कि नित्य एवं अनित्य वस्तु के विचार से उत्पन्न विषय के प्रति विरक्ति नामक भाव ही शम है।

कादम्बरी एक अत्यन्त सरस एवं उत्कृष्ट गद्य काव्य है। बाण भट्ट ने कादम्बरी में रस-योजना का प्रकृष्टतम रूप प्रस्फुटित किया है। इस काव्य में रागात्मिका वृति की सुभग व्यञ्जना सहृदयों के रसिक हृदयों को विकसित करती है। रस से ओतप्रोत सहृदयों को मदमत्त बना देने वाली यह सुमधुर कादम्बरी मदिरा है अतः एव उत्तरार्द्ध के प्रणेता पुलिन्द भट्ट की यह उक्ति चरितार्थ हो जाती है—

"कादम्बरी रसभरेण समस्त एव

मत्तो न किंचिदपि चेतयते जनोऽयम् ।"

कादम्बरी की कथा में शृंगार रस प्रधान है। करुण, अद्भुत, वीर आदि रस अङ्गभाव से तथा वीभत्स, शान्त आदि रस आभास मात्र से कहीं-कहीं उन्मेष प्राप्त करते हैं। यहां निर्दोष एवं पवित्र शृंगार रस का चित्रण हुआ है।

महाकवि ने प्रणय का जैसा मनोरम रूप यहां प्रस्तुत किया है वह कहीं अन्यत्र दृष्टिगम्य नहीं होता। यह प्रेम बाह्य चाकचक्य से उत्पन्न रूपलिप्सा और उससे होने वाली अनुरक्ति को ही प्रकट नहीं करता प्रत्युत वह परस्पर मिलन के लिए हृदय में अटूट इच्छा वाले सहृदयों के अन्तस्तल के पारस्परिक बन्धन को जोड़ने वाला और अनन्त जन्म पर्यन्त अपनी अभिव्यक्ति

करने वाला कोई अलौकिक आनन्द देने में समर्थ अपूर्व विकार है। कादम्बरी की प्रणय लीला, यथार्थतः, केवल एक जन्म से ही सम्बन्ध स्थापित नहीं करती। किन्तु तीन जन्म ग्रहण करने पर भी समरसता तथा माधुर्य व्यञ्जकता में किसी प्रकार भी उपहास को अवसर नहीं देती। शरीर परिवर्तनशील है, होता रहे, कर्मवश प्राणी विविध योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं, उनका विभिन्न योनियों में भ्रमण होता रहे परन्तु उनका दृढ़ प्रेम सदैव उनका अनुगमन करता है। यह कथा इस महत्त्व को प्रतिष्ठापित करने में अपूर्व योगदान देती है। कादम्बरी में प्रधान अङ्गी रस शृंगार है। जैसा कि पहले विवेचन किया जा चुका है कि यह रस कादम्बरी का प्राण है उसकी आत्मा है तथा इसको जीवन देने तथा गतिशील बनाने वाली ऊर्जस्विता है।

कामिजनों के हृदय में रति नामक स्थायी भाव जब रस अवस्था को प्राप्त होकर काम की वृद्धि कर के अलौकिक आनन्द का संचार करता है तो शृंगार शब्द से बोधित होता है। काम के उद्रिक्त अथवा अंकुरित होने से इसे शृंग कहा जाता है तथा उसकी उत्पत्ति का कारणभूत रस शृंगार की संज्ञा पाता है।

पुण्डरीक के दर्शन करने पर महाश्वेता की दशा के वर्णन से शृंगार रस का पूर्ण परिपाक लक्षित होता है—

"अशेषतः स्वेदाम्भसा धौतश्चरण युगलादिव हृदयमविशद्रागः" ।[93]

अर्थात् धर्मजल से सम्पूर्ण प्रक्षालित होकर ही राग मानो चरणों मं से हृदय में प्रविष्ट हो गया। राग अर्थात् अनुराग के हृदय में प्रविष्ट होने से यहां रति नामक स्थायी भाव द्योतित होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में पुण्डरीक आलम्बन विभाव है तथा महाश्वेता आश्रय विभाव 1 इसका सुन्दर उदाहरण महाश्वेता के इस कथानक में द्रष्टव्य है —

[94]**"मन्ये च सकल जगन्नयनानन्दकरं शशिबिम्व विरचयता लक्ष्मी लीलावासभवनानि कमलानि सृजता प्रजापतिना एतदाननाकारकरण कौशलाभ्यास एव कृतः। अन्यथा किमिव हि सदृशवस्तु विरचनायाः कारणम्। अलीकञ्चेदं यथा किल सकला कलाः कलावतो बहुलपक्षे क्षीयमाणस्य सुषुम्न नाम्ना रश्मिना रविरापिबति ताःखल्वस्य गभस्तयः समस्ता वपुरिदमाविशन्ति, कुतोऽन्यथा रूपापहारिणि क्लेशबहुले तपसि वर्तमानस्येदं लावण्यम्"** ।

ब्रह्मा ने चन्द्रमा और कमल को बना कर इसे बनाने का अभ्यास

किया। चन्द्रमा की किरणों ने भी इसमें प्रवेश प्राप्त किया है इसलिए पुण्डरीक का इतना उत्कृष्ट लावण्य है।

पुण्डरीक के चन्द्रकमलातिशायो लावण्य को देख कर महाश्वेता अपनापन भूल जाती है। पुण्डरीक को आलम्बित करके महाश्वेता का प्रणय प्रवृद्ध होता है अतः पुण्डरीक यहां आलम्बन विभाव है। साथ ही महाश्वेता का हृदय उस प्रणय का आश्रय है, जहां पुण्डरीक के प्रति काम उद्रिक्त एवं अंकुरित होता है अतः वह आश्रय है। इसी के आगे–'अविचारित गुण दोष विशेषो रूपैकपक्षपाती नवयौवनसुलभः कुसुमायुधः कुसुमासव मद इव मधुकरीं मां परवशामकरोत्'–इस वाक्य से यह द्योतित होता है कि महाश्वेता के हृदय में कुसुमायुध का उद्रेक हुआ कि वह पुष्प मकरन्द से मधुकरी के समान पुण्डरीक के अनुपम लावण्य से परवश हो गयी।

"अथ कृत प्रणामायां मयि दुर्लङ्घ्यशासनतया भगवतो मनोभुवः, मदजननतया च मधुमासस्य, अतिरमणीयतया च तस्य प्रदेशस्य अविनयबहुलतया च अभिनव यौवनस्य, चञ्चल प्रकृतितया चेन्द्रियाणां दुर्निवारतया चाभिलाषाणाम्, चपलतया च मनोवृत्तेः, तथा भवितव्यतया च तस्य तस्य वस्तुनः"।[95]

अर्थात् मेरे प्रणाम करने के अनन्तर भगवान् कामदेव के अनुल्लंघदनीय शासन से, चैत्रमास की मत्ततोत्पादक शक्ति से, उस स्थान की अत्यन्त मनोहरता से, नवयौवन के अधिक अविनयपूर्ण होने से, इन्द्रियों की स्वाभाविक चंचलता से, विषयाकांक्षा की दुर्निवारता से, मनोवृत्ति की चंचलता से और ऐसी-ऐसी घदनाओं की भवितव्यता से मेरा काम विकार देख कर कुमार का भी धैर्य लुप्त हो गया।

प्रस्तुत वाक्य में आश्रय पुण्डरीक है तथा महाश्वेता उसका आलम्बन। आलम्बन की चेष्टाएं–अर्थात् महाश्वेना का प्रणाम करना तथा उसकी चेष्टाओं से विकार का प्रकट होना आदि उद्दीपन है। इसके अतिरिक्त मधुमास की मदजननता, उस प्रदेश की अत्यन्त रमणीयता तथा ऐसी घटनाओं की भवितव्यना आदि भी यहां उद्दीपन विभाव वन कर उपस्थित हुए हैं। रम्य प्रदेश एवं प्रकृति की मादकता नायिका एवं नायक की काम वृद्धि में उद्दीपन का काम करते हैं और यहां भी महाश्वेता की चेष्टाओं तथा प्रदेश की रम्यता को देखकर कुमार का धैर्य-लोप उद्दीपन विभावके कारण ही हुआ।

व्यभिचारी भावों की, रस की चर्वणा में, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति

होती है। महाकवि बाण भट्ट ने रसानुगुण व्यभिचारी भावों का सुन्दर उपयोग किया है।

इसी प्रसंग में कादम्बरी में वितर्क नामक व्यभिचारी भाव का सुखद समावेश हुआ है—

"न विभाव्यते, किन्तद्रूप सम्पदा, कि मनसा, कि मनसिजेन किमभिनवयौवनेन, किमनुरागेण वा उपदिश्यमाना किमन्येनैव वा केनापि प्रकारेण, अहमपि न जानामि कथं कथमिति तमतिचिरं व्यलोकयम् ।[96]

अर्थात् निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसके देखने के लिए क्या उसकी सौन्दर्य–समृद्धि, या मेरा मन या कामदेव अथवा मेरा नवयौवन, अथवा अनुराग या एतदतिरिक्त अन्य कोई अनिर्वचनीय भाव—न जाने किसने मुझे उपदेश दिया था।

प्रस्तुत वाक्य में शृंगार रस के भेद विप्रलम्भ शृंगार का 'वितर्क' नामक व्यभिचारी भाव अंग है। इसमें वह यह निश्चय नहीं कर पायी है कि उसे अपने प्राणप्रिय मुनि कुमार के देखने के हेतु किसने प्रेरित किया था। अतएव यहां प्रेय नामक अलंकार भी है।

इसी प्रकार निम्नांकित वाक्य में धृति रूप व्यभिचारी के दर्शन हो जाते हैं—

"उत्क्षिप्य नीयमानेव तत्समीपमिन्द्रियैः पुरस्तादाकृष्यमाणेव हृदयेन पृष्ठतः प्रेर्यमाणेव पुष्पधन्वना कथमपि मुक्तप्रयत्नमप्यात्मान मधारयम् ।"[97]

अर्थात् मेरी इन्द्रियां उठा कर मुझे उसके समीप ले जाने लगीं, आगे से हृदय मानो आकर्षित करने लगा एवं पीछे से कामदेव मानो प्रेरणा देने लगा। ऐसी अवस्था में मैं किसी प्रकार स्वयं को पूर्वस्थान पर ही रोके रही। धृति संचारी उस चित्तवृत्ति का नाम है जो लोभ, मोह, शोक, भय आदि से उत्पन्न होने वाले विघ्नों को दूर करने वाली होती है। कोई उठाकर ले जा रहा हो, कोई आगे से खेंच रहा हो और कोई पीछे से प्रेरित कर रहा हो यह सब अपूर्व है। इन सभी विघ्नों को दूर करके अपने कर्मफल को भोगने का सन्तोष होने से यहां धृत्ति नामक व्यभिचारी भाव है।

परस्पर अनुराग होने पर भी प्रिय समागम का न होना विप्रलम्भ कहलाता है। पुण्डरीक एवं महाश्वेता का यह पूर्वराग है। जैसा कि पहले

प्रतिपादन किया जा चुका है कि मिलन के पूर्व नायक और नायिका के हृदय में मिलन की इच्छा एवं उत्कण्ठा के कारण उत्पन्न होने वाली व्याकुलता को पूर्वराग कहा गया है। यह यहां प्रत्यक्ष दर्शन से हुआ है।

विप्रलम्भ शृंगार की वियोगजन्य काम दशाओं का भी यहां वर्णन किया गया है। ये काम दशाएँ वियोगिनी के जीवन में क्रमशः घटित होती हैं। उनमें से एक है 'अभिलाषा'। महाश्वेता की इस दशा का महाकवि ने सुन्दरता से चित्रण किया है—

"साभिलाष हृदयमाख्यातुकाममिव स्फुटितमुखमभूत् कुच युगलम्।"[98]

अर्थात् तपस्विकुमार के पाने की इच्छा वाले मेरे मन के प्रिय सम्वाद को कहने के लिए ही मानो स्तन युगल के मुख स्फुरित होने लगे।

इसमें स्तन युगल की सस्पृहता तथा उनका स्पन्दित मुख होना महाश्वेता की साभिलाषता का द्योतक है।

अनुभावों का वर्णन भी बाण ने इस प्रसंग में किया है—

"स्वेद लवलेखाक्षालितेवागलल्लज्जा।"[99]

अर्थात् स्वेद बिन्दुओं से प्रक्षालित होती हुई सी लज्जा गलने लगी।

यहां स्वेद नामक अनुभाव द्योतित होता है।

"तद्रूपातिशयं द्रष्टुमिव कुतूहलादाङ्गिनलालसेभ्योऽङ्गेभ्योनिरगाद्रोमाञ्चजालकम्।"[100]

उसके असाधारण सौन्दर्य को देखने के लिए ही कौतूहल से आलिङ्गन करने के लिए तड़पते हुए अवयवों से रोमाञ्च का जाल निकलने लगा।

प्रस्तुत वाक्य में रोमाञ्च नामक सात्त्विक अनुभाव का वर्णन किया गया है।

'वेपथु' नामक सात्त्विक अनुभाव की छटा इस वाक्य में दर्शनीय है—

"मकरध्वजनिशितशरनिकरनिपातत्रस्तेवाकम्पत गात्रयष्टिः।"[101]

अर्थात् कामदेव के तीक्ष्ण बाण समूह के प्रहार से डर कर ही शरीर कम्पयुक्त हो गया।

इस वाक्य में कम्प नामक सात्त्विक अनुभाव द्योतित होता है। हर्ष, शोक, भय, क्रोध, प्रिय अथवा प्रिया के स्पर्श आदि के कारण जब शरीर में कम्पन आरम्भ होता है तो उसे 'वेपथु' कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त लज्जा त्याग रूप काम की दशा का भी अनुपम लावण्य दृष्टिगोचर होता है—

"स्तम्भितेव, लिखितेव, उत्कीर्णेव, संयतेव, मूर्च्छितेव, केनापि विधृतेव निष्पन्द सकलावयवा तत्कालाविर्भूतेन अवष्टम्भेन अकथित शिक्षितेन अनाख्येयेन स्वसंवेद्येन कथं कथमिति तमचिरमवालोकयम् ।"[102]

अर्थात् उस समय सब अवयव शिथिल हो गये इस प्रकार तत्काल एक प्रकार की निष्पन्दता प्रयोजक जडता उत्पन्न हो गयी तथा इस तरह में उसे अनिर्वचनीय भाव से चिरकाल तक देखती रही ।

प्रस्तुत वाक्य में अवष्टम्भ के द्वारा निश्चेष्टता प्रयोजक सात्त्विक विकार-विशेष का उदय हुआ है और उसे काव्यशास्त्र के आचार्यों ने स्तम्भ नाम से व्यवहृत किया है ।

इसके अतिरिक्त इसमें वियोगाधिक्य के कारण होने वाली जडता नामक अष्टम काम दशा का भी चित्रण हुआ है । परस्पर अनुराग युक्त होने पर भी नायक एवं नायिका का किसी कारण से मिलन नहीं होना परन्तु मिलन की आशा का रहना करुणात्मक विप्रलम्भ की सीमा में समाहित होता है । सार यह है कि करुण विप्रलम्भ में मिलन के असम्भव होने पर भी रति भाव विद्यमान रहता है । करुणात्मक विप्रलम्भ वियोग की चरम परिणति है ।

महाश्वेता के विलाप वर्णन में करुणात्मक विप्रलम्भ का पूर्ण परिपाक हुआ है—

"उद्भूत मूर्च्छान्धकारा च पातालतलमिवावतीर्णा तदा क्वाहमगमम्, किमकरवम्, किं व्यलपम्, इति सर्वमेव नाज्ञासिषम् । असवश्च मे तस्मिन् क्षणे किमतिकठिनतया अस्य मूढहृदयस्य, किमनेक दुःख सहस्र सहिष्णुतया हतशरीरस्य, किं विहिततया दीर्घ शोकस्य, किं भाजनतया जन्मान्तरोपात्तस्य दुष्कृतस्य, किं दुःखदान निपुणतया दग्ध दैवस्य, किमेकान्तवासतया दुरात्मनो मन्मथहतकस्य, केन हेतुना नोद्गगच्छन्ति स्म तदपि न ज्ञातवती ।"[103]

अर्थात् उस स्थिति का अवलोकन करते ही मूर्च्छा से अन्धकार आकर उपस्थित हो गया, पाताल तल में प्रविष्ट होती हुई सी उस समय में कहां गयी मैंने क्या किया, किस प्रकार विलाप किया वह सभी कुछ ज्ञात नहीं । न जाने मेरे मूढ हृदय के अत्यन्त कठिन होने से या इस निन्दित जीवन के दुःख समूह

सहन करने से, अथवा विधाता द्वारा भाग्य में लिखित दीर्घकालीन शोक-विधान से किंवा पूर्वजन्मार्जित पापों की भागिनी होने से अथवा दुर्दैव की दुःख देने की निपुणता से या खल प्रकृति दुरात्मा मदन के अत्यन्त प्रतिकूल होने से अथवा किन्हीं दूसरे कारणों से मेरे प्राण नहीं निकले यह भी में किसी प्रकार नहीं जान सकी।

आकाश वाणी के अनन्तर काव्य मर्मज्ञों ने इसे करुणात्मक विप्रलम्भ का सुन्दर उदाहरण स्वीकार किया है। आकाश वाणी से प्रिय मिलन की आशा बनी हुई है परन्तु प्रिय समागम का अभाव है। यदि पुण्डरीक की मृत्यु ही हो गयी होती तो वह शुद्ध करुण रस बन गया होता परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में नायक एवं नायिका के किसी कारण से मिलन के सम्भव न होते हुये भी उनके मिलन की आशा बनी हुई है।

प्रस्तुत अवतरण में मूर्च्छाजन्य अन्धकार के आ जाने से प्रलय नामक सात्त्विक अनुभाव का चित्रण हुआ है। सुख अथवा दुःख के कारण निश्चेष्टता निष्कम्पता एवं श्वासों का अवरोध प्रलय कहा जाता है। शोकावेग की अतिशयता से मूर्च्छा का आ जाना 'प्रलय' रूप अनुभाव की चरम परिणति है।

यहां वितर्क नामक करुण विप्रलम्भ का संचारी भाव भी सुन्दर रूप से द्योतित होता है। वह यह निश्चय नहीं कर पा रही है कि वह किस कारण से हुआ। अतः वितर्क नामक भाव के करुण विप्रलम्भ का अङ्ग होने से यहां प्रेय नामक अलंकार है।

पुण्डरीक के मर जाने के अनन्तर महाश्वेता और कपिंजल विलाप करते हैं। इसी बीच में कोई दिव्य ज्योति आकर पुण्डरीक के मृत शरीर को उठा ले जाती है और महाश्वेता को आश्वासन दे जाती है कि तुम्हारा इससे पुनः मिलन होगा। इसमें आकाश वाणी के पूर्व का जो विलाप है वह स्पष्ट ही करुण रस है। तदनन्तर मिलन की आशा हो जाने से विप्रलम्भ कहा जा सकता है। अतएव इस के लिए करुण विप्रलम्भ का प्रयोग काव्य मनीषियों ने किया है।

महाश्वेता के विलाप के वर्णन–प्रसंग में यह वाक्य भी द्रष्टव्य है –

"प्रलापाक्षरैरपि दशन मयूखशिखानुगततया साश्रुधारैरिव निष्पतद्भिः शिरोरुहैरप्यविरल विगलित कुसुमतया मुक्तावाष्पजल बिन्दुभिरिवाभरणैरपि प्रसृतविमलमणि किरणाश्रुतया प्ररुदितैरिवोपेता तज्जीवितायेवात्ममरणाय स्पृहयन्ती, मृतस्यापि सर्वात्मना हृदयं

प्रवेष्टुमिवेच्छन्ती..............मुहुर्मुहुः पर्यचुम्बं मुहुर्मुहुः कण्ठे गृहीत्वा व्याक्रोशम् ।''[104]

अर्थात् मेरे पलाप के अक्षर भी दन्तरश्मियों का अनुगमन करते थे इससे ऐसा प्रतीत होता था कि वे अश्रु धारा सहित बाहर निकल रहे हैं। मस्तक के केश कलाप भी अनेक पुष्प गिराते थे मानो वे आंसुओं की बूंदे टपका रहे हों, आभूषण भी निर्मल मणि किरण रूपी अश्रुपात करते थे मानो वे भी रो रहे हों. इनके साथ मैं भी उनके जीवन लाभ के लिए ही मानो अपने मरने की आशा करती थी। उनके कपोल पर, शुष्क चन्दन लेप से शुभ्रवर्ण जटामूल वाले ललाट पर, सरस मृणाल से आच्छादित स्कन्ध पर, चन्दन बिन्दु लाछित कमल पत्र से युक्त हृदय पर हाथ फेरती बार-बार चुम्बन करने लगी और बार-बार उनके कण्ठ से लिपट कर तारस्वर से आक्रोश करने लगी।

प्रस्तुत अवतरण में चेतना शून्य प्रलापाक्षर, केश कलाप, आभूषण समूह आदि के द्वारा शोक व्यक्त करने के कारण यह ध्वनित होता है कि सचेतना स्वकीया नायिका का शोक कितना अधिक और अवर्णनीय रहा होगा। यह शोकाधिक्य करुणात्मक विप्रलम्भ का, आकाश वाणी के अनन्तर, सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है।

विप्रलम्भ कादम्बरी का प्रधान रस है। विप्रलम्भ शृंगार की चर्वणा अपने पूर्ण रूप में इसमें हुई है। शृंगार की पुष्टि विप्रलम्भ के बिना नहीं होती—

''नहि विप्रलम्भं बिना शृंगारः पुष्टिमश्नुते''

महाश्वेता एवं पुण्डरीक के प्रथम साक्षात्कार के अनन्तर ही अनुराग की तीव्रता परिलक्षित होती है। परस्पर सौन्दर्य से आवर्जित हुए प्रणयी युगल एक दूसरे के प्रति प्रेम की पीड़ा का अनुभव करते हैं। उनका वह प्रेम प्रेमोन्माद है। उसमें मानसिक एवं शारीरिक दुर्बलताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। चन्द्रोदय के दर्शन से उद्दीप्त हुआ पुण्डरीक का काम भाव आलम्बन के पहुँचने के पूर्व ही काम की अन्तिम अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् विप्रलम्भ की चरमावस्था आश्रय की मृत्यु होती है। कादम्बरी में पुण्डरीक महाश्वेता को देखकर विह्वल हो जाता है अपनी अभीष्ट वस्तु को न प्राप्त कर उसके वियोग में असार संसार सागर को भी छोड़ देता है।

यथार्थ प्रणय सत्य के समान चिरन्तन एवं आदर्श रूप है। काल की सीमाएं उसे आवृत नहीं कर सकती। स्थान की दूरी उसे शान्त नही कर सकती प्रत्युत वियोग से प्रणय में तीव्रता उत्पन्न होती है। आशा और विश्वास पर

आधारित यह प्रेम की ज्योति जब जाग्रत होती है तो उस साम्राज्य में शारीरिक विषमताएं प्रवेश नहीं कर सकती।

यहां चन्द्रापीड और कादम्बरी के प्रणय मिलन का संकेत मात्र है। संयोग शृंगार की परिणति का केवल एक संकेत मात्र ही प्राप्त होता है। मधुमास के उद्दीपक वातावरण से कामाविष्ट कादम्वरी मृत शरीर को जीवित के समान जव आलिंगन करने लगती है तो उसी क्षण चन्द्रापीड के शरीर में स्पन्दन आरम्भ हो जाता है। हृदय, नेत्र और मुख सहसा उच्छ्वसित हो उठते हैं और उसका आलिगनपाश कादम्बरी को और अधिक जकड़ लेता है—

"एवं च सुप्त प्रतिबुद्ध इव प्रत्यापन्नसर्वांगचेष्टः
चन्द्रापीडस्तथा कण्ठलग्नां कादम्बरीं चिर विरह दुर्बलाभ्यां
दोर्भ्यां गाढतरं कण्ठे गृहीत्वा वाताहतां बालकदलीमिव
भयोत्कम्पमानाङ्ग यष्टिमुद्गाढतरामीलिताक्षीं वक्षस्येव
प्रवेष्टुमीहमानां न मोक्तुं न गृहीतुमात्मना पारयन्तीं श्रोत्र
हृदय ग्राहिणानुभूतपूर्वेण स्वरेणानन्दयन्नवादीत्" ।[105]

दो प्रणयियों के मिलन का कितना अद्भुत संयोग है। मृत पति के शरीर का आलिंगन करती नायिका का तत्क्षण पति के उच्छ्वसित वक्ष से एकाकार हो जाना कितना अनुपम समायोग कवि के विलक्षण कल्पना चातुर्य का द्योतक है। नायिका के अंगों में 'कम्प' नामक सात्त्विक अनुभाव के दर्शन होने लगते है। साध्वस से उसके अंगो में कम्प उत्पन्न हो जाता है तथा लज्जा से उसके नेत्र गाढ रूप से निमीलित हो जाते हैं।

विभावानुभावादि से परिपुष्ट 'रति' नामक स्थायी भाव शृंगार रस की अवस्था में पहुँच कर रसिक सहृदय के अन्तःकरण में रस की निर्झरिणी प्रवाहित कर आनन्द का संचार करता है।

इसी प्रकार चन्द्रापीड और कादम्बरी के प्रथम मिलन का वर्णन भी शृंगार रस का उत्कृष्ट उदाहरण है—

"अत्रान्तरे जन्मद्वयाकांक्षितं कालप्रभोश्चन्द्रमसः
कादम्बरी सम्भोगसुखमिवोपपादयितुमपससार वासरः।
अनुराग पताकेवोल्लसदपर सन्ध्यावधूत्रपावरणायैव
वितस्तार वासतेयी। चन्द्रोदयाभिरामं च सभ्रमेव जगदभवत्।
एवं च भरेणावतीर्णायां रजन्यां चन्दापीडः

चिराभिलषितमुन्मीलित नयनकुवलय उत्सृष्टनीवीप्रसृत करनिवारणानुबन्धमनुभूतप्रत्यालिंगनसुखमभिप्रार्थित सुरतपरिसमाप्ति त्रपा सुभगं कादम्बरी प्रथम सुरतसुख मनु भूयैक दिवसमिव दशरात्रं स्थित्वा परितुष्टहृदयाभ्यां श्वसुराभ्यां विसर्जितः पितुः पादमूलमाजगाम ।"[106]

कादम्बरी समागम का सुख प्राप्त कराने के लिए ही दिन खिसक गया। सन्ध्या रूप स्त्री की लज्जा को ढंकने के लिए ही अनुराग की पताका सी रात्रि फैलने लगी। समस्त जगत् चन्द्रोदय से शोभान्वित हो गया। ऐसी राका के प्रौढ होने पर चन्द्रापीड ने चिर-अभिलषित नेत्र रूपी कुमुद को बिना मुकुलित किये, खुलती हुई नीवी को पकडने के लिए चलायमान हाथ को रोक कर प्रत्यालिंगन सुख के साथ, सुरतावसान में उदित लज्जा से रमणीय कादम्बरी के प्रथम समागम के सुख का उपभोग करके एक दिन की तरह दस रातें व्यतीत कर दी। उस युगल की अविदित गत यामा अनेक रात्रियां व्यतीत हो गयीं। संयोग शृंगार का अनुपम चित्र कवि की विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है। वियोग के अनन्तर बहुगुणित हुआ उनका यह काम शृंगार रस के उज्वल एवं मनोरम रूप को प्रकट करता है कि रसिक हृदय उसमें निमञ्जित एवं उन्मज्जित होते रहते हैं।

रस व्यंग्य होता है वह वाच्यार्थ से कदापि प्रतीत नही होता। जो वस्तु पहले से सिद्ध होती है वही वाच्य अर्थ के द्वारा कही जा सकती है। रस की स्थिति आस्वाद काल में ही रहती है। वह तो विभाव आदि के द्वारा व्यंजित होकर ही रसास्वाद के योग्य होता है।

व्यञ्जना

शब्द की तृतीया शक्ति का नाम व्यञ्जना है। 'व्यञ्जना' शब्द में वि+अंजना ये दो शब्द हैं जिनका अर्थ है विशेष प्रकार की अजना। जिस प्रकार अंजन लगाने से नेत्रों की ज्योति बढ जाती है उसी प्रकार विशेष प्रकार के अंजन के लगाने से परोक्ष वस्तु भी दृष्टिगोचर होने लगती है। इस प्रकार अभिधा एवं लक्षणा शक्तियों के द्वारा अप्रकटित अर्थ भी व्यञ्जना के द्वारा स्पष्ट हो जाता है। यह छिपे हुए अन्तर्निहित अर्थ को प्रकट कर देती है। इसलिये इसे व्यञ्जना कहा जाता है।

जब अभिधा शक्ति शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने समर्थ नहीं होती तो लक्षणा के द्वारा वह अर्थ स्पष्ट किया जाता है। किन्तु कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं, जिनकी प्रतीति अभिधा एवं लक्षणा के द्वारा नहीं होती है अतःउन शक्तियों के

द्वारा अप्रकाशित अर्थ को प्रकट कर व्यञ्जना शक्ति साहित्य शास्त्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लेती है।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अभिधा एवं लक्षणा शक्तियों के द्वारा अपना-अपना अर्थ द्योतित कर शान्त हो जाने के बाद जिस शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ का ज्ञान होता है, उसे व्यञ्जना कहते हैं :--

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यतेऽपरः।

सावृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च।[107]

लक्षणा एवं अभिधा केवल शब्द की शक्तियाँ है किन्तु व्यञ्जना का सम्बन्ध शब्द और अर्थ-दोनों से है। विश्वनाथ की दृष्टि में[108] शब्द, बुद्धि एवं कर्म-इन तीनों के व्यापार एक ही बार होते हैं। एक बार उच्चरित हुआ शब्द एक बार अपने अर्थ का बोध करा कर समाप्त हो जाता है, उससे पुनः अर्थ का बोधन नहीं होता। इसी प्रकार बुद्धि या ज्ञान भी एक बार अपना कार्य सम्पन्न कर पुनः किसी अन्य उपाय के कार्य नहीं करते। क्रिया अथवा कर्म की एक से दूसरी बार उत्पत्ति नहीं होती। अतः शब्द, बुद्धि तथा कर्म एक बार उत्पन्न होकर नियत समय तक ही रहते हैं। जब प्रथम अर्थ प्रस्तुत कर अभिधा; लक्षणा एवं तात्पर्या-इन तीनों शक्तियों के उपक्षीण हो जाने पर, जिसके द्वारा अन्य अर्थ का बोध होता है, वह शब्द निष्ठ, प्रकृति निष्ठ, प्रत्यय निष्ठ, उपसर्गादिनिष्ठ शक्ति व्यञ्जना कही जाती है तथा उसे व्यञ्जन, ध्वनन, गमन, प्रत्यायन आदि नामों के द्वारा भी अभिहित किया जाता है।[109]

आचार्यों ने व्यञ्जना के दो भेद स्वीकार किये हैं।

(1) शाब्दी व्यञ्जना

(2) आर्थी व्यञ्जना

शाब्दी व्यञ्जना भी अभिधा मूला एवं लक्षणामूला व्यञ्जना के भेद से दो प्रकार की अंगीकृत की गई है।

अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना

जब अभिधा शक्ति के द्वारा संयोगादि अनेकार्थक शब्दों के एक अर्थ का निर्णय हो जाने पर, जिसके द्वारा अन्य अर्थ का ज्ञान होता है, उसे अभिधा-मूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं।[110] इसी प्रकार विश्वनाथ का कहना है—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते।

एकार्थेऽडन्यधीहेतु र्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया।[111]

अभिधा मूला शाब्दी व्यञ्जना में संयोग आदि के द्वारा अनेक अर्थ वाले शब्दों का एक विशेष अर्थ निश्चित किया जाता है। इस प्रकार विशेष अर्थ के नियंत्रित कर देने से अनेकार्थ शब्दों के अन्य अर्थ अभिधा शक्ति से प्रकट न होने के कारण वाच्यार्थ नहीं कहे जाते। इस प्रकार अनेकार्थवाची शब्दों के वाच्यार्थ से भिन्न जिस अन्य अर्थ का बोध होता है, अभिधा पर आश्रित होने के कारण इसे अभिधामूला व्यञ्जना कहा जाता है।

लक्षणा मूला शाब्दी व्यञ्जना

मुख्यार्थ बाध होने पर लक्षणा शक्ति से अन्य अर्थ के निकलने पर उससे दूसरे अर्थ की प्रतीति हो तो उसे लक्षणा मूला शाब्दी व्यञ्जना कहा जाता है।

आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार जिसके द्वारा लक्षणा का आश्रयण किया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है वह व्यञ्जना लक्षणा मूला कहलाती है—

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया।[113]

जिस प्रकार 'गंगायां घोषः' में अभिधा शक्ति के द्वारा गंगा का प्रवाह रूप अर्थ के प्रतीत होने के अनन्तर उसके विरत हो जाने पर लक्षणा के द्वारा गंगा का तट यह अर्थ बोधित होता है। तट आदि अर्थ की प्रतीति के बाद लक्षणा के विरत हो जाने पर शैत्य एवं पावनत्वादि की अधिकता की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा होती है उसे लक्षणा मूला शाब्दी व्यञ्जना कहा गया है।

जब वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाच्य, वाक्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि के वैशिष्ट्य से सहृदयों को अन्य व्यंग्य अर्थ का बोध होता है, तो उसे आर्थी व्यञ्जना कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार आर्थी व्यञ्जना का लक्षण इस प्रकार है—

"वक्तृ बोद्धव्यवाक्यानामन्य सन्निधिवाच्ययोः।
प्रस्ताव देश कालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च।[114]
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्सार्थसम्भवा।

आर्थी व्यञ्जना

आर्थी व्यञ्जना के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि आर्थी व्यञ्जना में शब्द की सहकारिता भी रहती है। आचार्य मम्मट का कथन है कि आर्थी व्यंजना में व्यंग्य रूप अन्य अर्थ का बोध किसी विशेष शब्द के द्वारा

ही होता है। शब्द प्रमाण के द्वारा गम्य अर्थ ही व्यञ्जना के अर्थान्तर का बोधक होता है। अतः अर्थ की व्यञ्जना में शब्द की सहकारिता भी रहती है।[115] विश्वनाथ भी इसी तथ्य को अंगीकार करते हुए मम्मट के ही स्वर में कहते है—

"शब्द बोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।

एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता।[116]

अर्थात् व्यञ्जना में शब्द को अर्थ की एवं अर्थ को शब्द की अपेक्षा रहती है अतः एक की व्यञ्जकता मे दूसरे की आवश्यकता मानी गयी है।

आर्थी व्यञ्जना के उदाहरणों में वाच्य अर्थ की ही–प्रधानता दिखायी गयी है। परन्तु वाच्य के समान लक्ष्य, एवं व्यंग्य अर्थ भी व्यञ्जक हो सकते हैं। इस प्रकार शब्द के अर्थ तीन प्रकार के होते हैं–वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य।

अतः अर्थ के द्वारा व्यंग्य अर्थ के बोध होने में आर्थी व्यञ्जना के तीन प्रकार होते है—

(1) वाच्य सम्भवा

(2) लक्ष्य सम्भवा

(3) व्यंग्य सम्भवा

जब शब्द की मुख्य वृत्ति से शब्दार्थ की प्रतीति के अनन्तर उससे जो अन्य अर्थ का प्रकरण आदि से बोध होता है, उसे वाच्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना कहते हैं। इसी प्रकार जब मुख्यार्थ के बाध होने पर लक्षणा वृत्ति के द्वारा लक्ष्यार्थ के बोध होने से उससे (लक्ष्यार्थ) भिन्न व्यंग्य अर्थ प्रतीत होता है, वहां लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना कही जाती है। तथा जब व्यंग्यार्थ से ही भिन्न व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हो तो उसे व्यंग्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना की संज्ञा दी जाती है।

कादम्बरी में व्यंग्य अर्थ के बोध की प्रधानता है। जहां अर्थ बोध वाचक शब्द से अथवा लक्षक शब्द से न हो कर व्यंग्य से प्रतीयमान होता है, वही उत्तम काव्य की श्रेणी में प्रतिष्ठापित किया जाता है। राजा शूद्रक के वर्णन में उषःकाल का वर्णन व्यंग्य अर्थ की प्रतीति कराता हैं—

"एकदा तु नातिदूरोदिते नवनलिनदलसम्पुटभिदि किञ्चिदुन्मुक्त-पाटलिम्नि भगवति सहस्रमरीचिमालिनि ....प्रतीहारी समुपसृत्य क्षितितल निहित जानु करकमला सविनयमब्रवीत्"।[117]

अर्थात् एक बार जब नयी-नयी कमल की कलियों के सम्पुटों को विकसित करते हुए अपनी किरणों की रक्तिमा को कुछ छोड़ कर भगवान् सूर्य आकाश में थोड़ी ही दूर ऊपर चढे थे कि प्रतिहारी ने घुटने टेककर तथा कर कमलों से पृथ्वी का स्पर्श कर के सविनय निवेदन किया।

प्रस्तुत वाक्य में दूरोदिते, नवनलिनदलसम्पुटभिदि तथा किंचिदुन्मुक्त-पाटलिम्नि इन तीनों विशेषणों से यहां प्रत्यूषकाल व्यञ्जित होता है। इससे यह व्यञ्जना निकलती है उस समय प्रत्यूष काल ही था भगवान् सूर्य जो उदय काल में रक्त वर्ण के थे अब उनमें रक्तिमा कम हो गयी है, नवीन कमलिनी के दल सम्पुट विकसित हो रहे हैं। वह सब प्रत्यूष काल में होता है अतः यहां प्रत्यूष काल की प्रतीति होती है।

चन्द्रापीड के द्वारा कादम्बरी के प्रति कहे गये इस वाक्य में भी व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य है—

"उत्कम्पिनीमनुकम्पमानस्य कुसुमेषुपीडया पतितामवेक्षमाणस्य पततीव मे हृदयम्। अनङ्गदे तनुभूते ते भुजलते गाढसन्तापतया च दृष्ट्या वहसि स्थल कमलिनीमिव रक्ततामरसताम्।[118]

सार यह है कि व्याधि के प्रभाव से कांपती हुई आपको देख कर अनुकम्पा युक्त होता हुआ कामपीड़ा से पुष्प शय्या पर लेटी हुई आपको देख कर मेरा हृदय बाहर निकलसा रहा है; तीव्र सन्ताप से सन्तप्त अपका नयन युगल रक्त कमल से समन्वित स्थल कमलिनी जैसी शोभा को धारण कर रहा है।

प्रस्तुत वाक्य में उत्कट मदन विकार से 'कम्प' नामक सात्त्विक भाव वाली नायिका पर सुरत द्वारा अनुकम्पा करना चाहता हुआ नायक का चित्त आलिंगन के लिए दौड़ता है—यह व्यंग्य अर्थ प्रतीत होता है। नायिका की कष्ट-दशा देखकर नायक उसे उपकृत करने के लिए उसके आलिंगन आदि के लिए उत्सुक है यह इससे व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है। दूसरे वाक्य में गाढ काम-सन्ताप के द्योतित करने वाले दृष्टिपात से कमलिनी भूत अपने कामानुराग की अभिव्यञ्जना होती है। कामजन्य नायिका की दशा उसके तीव्र सन्ताप को, दृष्टिपात से, व्यंजित करती है और उससे यह व्यंग्य अर्थ निकला कि वह नायक के प्रति अत्यन्त अनुरक्त है उसका काम राग काम दशा से व्यञ्जित होता है अतः यह व्यञ्जना का सुन्दर स्थल है।

इसी प्रकार कादम्बरी की मदनार्त दशा के वर्णन में भी व्यञ्जना का स्वारस्य दृष्टिगोचर होता है—

"दैवतैरपि विलुप्यमानसौभाग्यामिव सर्वशः, हृदयेन सह प्रियतम समीपमिवोपगतैरङ्गै रुपजनित दौर्बल्याम्" ।[119]

अर्थात् देवताओं ने भी सब प्रकार से सौभाग्य नष्ट कर दिया था। हृदय के साथ उसके समस्त अवयव भी प्रियतम चन्द्रापीड के निकट चले गये थे उससे ही उसकी दुर्बलता उत्पन्न हो गयी थी।

मदन, चन्द्रमा आदि देवताओं ने भी सब प्रकार से पृथक्-पृथक् सुरत आदि के द्वारा जिसका सौभाग्य नष्ट कर दिया था। इसमें यह व्यंग्य निकलता है कि सौन्दर्य से मुग्ध होकर देवता भी जिसकी स्वामिप्रियता को कम करके स्वयं में उसकी आसक्ति की कामना करते थे। प्रस्तुत वाक्य में सौभाग्य के लोप की सम्भावना के द्वारा नायिका की अत्यधिक सौन्दर्यशालिता व्यञ्जित होती है।

कादम्बरी के वर्णन में व्यञ्जना शक्ति की छटा अनुपम है—

"निर्दय दग्धैकमन्मथप्रमथनाथरोषेणेव प्रतिहृदयं मन्मथायुतान्युत्पादयन्तीम्, रजनीजागर खिन्नस्य परिचित चक्रवाक मिथुनस्य स्वप्तुम् क्रीडानदिकासु कमलधूलिवालुकाभिः वालपुलिनानि कारयन्तीम्"[120]

अर्थात् महादेव के द्वारा एक मात्र काम देव के निर्दयता से भस्म कर दिये जाने से ही कुपित होकर मानो वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में लाखों काम उत्पन्न करती थी।

प्रस्तुत वाक्य में कादम्बरी की निखिल जन मानस में कामोद्दीपकता व्यञ्जित होती है। इससे यह व्यंग्य निकलता है कि कादम्बरी कटाक्ष आदि से सभी युवकों के अन्तःकरण को कामाविष्ट कर देती है।

ध्वनि का स्वरूप

वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ के अधिक चमत्कार-युक्त काव्य को ध्वनि काव्य कहा जाता है तथा उसे विद्वज्जनों ने उत्तम काव्य की श्रेणी में स्थान दिया है।[121] आनन्द वर्धनाचार्य ने वाच्य से अधिक उत्कर्षक व्यंग्य को ध्वनि की संज्ञा दी है।[122] ध्वनि का आधारभूत तत्त्व है व्यंग्य। वाच्य से व्यंग्य की प्रधानता से यहां अभिप्राय है व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार होने से। चमत्कार के उत्कर्ष पर ही व्यंग्य का प्राधान्य निर्भर है। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चारुता होने पर व्यंग्यार्थ का प्राधान्य माना जायगा।

सारांश यह है कि जहां शब्द या अर्थ स्वयं साधन होकर साध्य विशेष किसी चमत्कारक पदार्थ को अभिव्यक्त करें, वह ध्वनि काव्य है।

सामान्य रूप से संकेतित शब्द वाले आर्थों से विशेष अर्थ की प्रतीति ही ध्वनि है। व्यञ्जना ही ध्वनि की आधार भूत शक्ति है जिसके आधार पर उसका प्रासाद अधिष्ठित होता है। विश्वनाथ की दृष्टि में अभिधा एवं लक्षणा से सर्वथा भिन्न एक विलक्षण अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना शक्ति से ही होती है, यह विलक्षण एवं अपूर्व अर्थ ही ध्वनि है। अर्थात् व्यंग्य जब प्रधानता को प्राप्त करता है तभी ध्वनि का आविर्भाव होता है।[123] शब्दों में दूरव्यापी एव बहुल अर्थ को भरने की जो क्षमता व्यञ्जना शक्ति में है, वह कहीं अन्यत्र दुर्लभ है।

ध्वनि नाम का आधार

आचार्य मम्मट ने जो पंक्तियां[124] लिखी है उनसे यह स्पष्ट हो जाता कि ध्वनि शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से वैयाकरणों ने किया था तथा साहित्य शास्त्र में आनन्दवर्धन आदि ध्वनि आचार्यों ने व्याकरण शास्त्र के ध्वनि-शब्द को अपना लिया है। इस शब्द-प्रयोग के अपना लेने का कारण यह था कि व्याकरण शास्त्र में प्रधानभूत स्फोट की अभिव्यक्ति शब्द से होती है इसलिए "ध्वनिति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि पद का प्रयोग किया गया है। इसी के आधार पर ध्वनिवादी आचार्यों ने भी वाच्यार्थ को अभिभूत करने में समर्थ व्यंग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ के लिए ध्वनि पद का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

ध्वनि के रहस्य के समझने का अधिकारी सहृदय भावुक व्यक्ति ही होता है। सहृदयता के अभाव में ध्वनि की प्रतीति नहीं हो सकती, वह सहृदय संवेद्य होती है। स्वयं ध्वनिकार का कथन है कि प्रतीयमान अर्थ शब्दशास्त्र-व्याकरण आदि और अर्थशास्त्र कोश आदि के ज्ञानमात्र से ही प्रतीत नहीं हो सकता, वह तो केवल काव्य-मर्मज्ञों को ही होता है—

शब्दार्थ शासन ज्ञान मात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।[125]

ध्वनिकार ने ध्वनि को इस प्रकार परिभाषित किया है–जहां अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अभिप्राय प्रधानता को गौण करके किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करता है तो उस काव्य विशेष को ध्वनि कहते हैं।[126] उनकी दृष्टि में वह काव्य-विशेष प्रतीयमान या ध्वनि है। वह ध्वनि रमणियों के शरीरावयव से भिन्न लावण्य के सदृश महाकवियों की वाणियों में प्रतिभासित होती है। अर्थात् जिस प्रकार अंगनाओं के शरीर में विविध अवयवों के अति-

रिक्त लावण्य का सौन्दर्य पृथक् होता है, उसी प्रकार की स्थिति महाकवियों की सूक्तियों में प्रतीयमान अर्थ की भी होती है—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु" ।[127]

उस आस्वादमय रसभावरूप अर्थ-तत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी उनके अलौकिक प्रतिमासमान प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रदर्शित करती है।[128] ध्वनिकार की मान्यता है कि ऐसे कवि संसार में महाकवि कालिदास सदृश दो, तीन या पांच छः ही होते हैं।

ध्वनि शब्द का प्रयोग पांच अर्थों में किया जाता है। अभिनव गुप्त के अनुसार केवल काव्य को ही ध्वनि नहीं कहा जा सकता प्रत्युत शब्द, अर्थ एवं शब्दार्थ के व्यापार को ध्वनि कहा जाता है।[129] आचार्य अभिनव गुप्त ने ध्वनि की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

(1) 'ध्वनयति यः सः व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः' इस विग्रह से ध्वन् धातु से 'इ' प्रत्यय लगने पर ध्वनि शब्द निष्पन्न हुआ। इसके अनुसार जो ध्वनि करे वह ध्वनि कहलाता है। अर्थात् वाचक-लक्षक एवं व्यञ्जक ये तीनों प्रकार के शब्द जब किसी व्यंग्य अर्थ के व्यञ्जक होते हैं तो वे ध्वनि पद वाच्य होते हैं।

(2) ध्वनति, ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जकोऽर्थः—वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है, जो ध्वनित करे अथवा ध्वनित करावे।

(3) ध्वन्यते इति ध्वनिः—जो ध्वनित हो उसे ध्वनि कहते हैं। रस, अलंकार और वस्तु—ये तीनों ही ध्वनित होते हैं अतः सभी ध्वनि हैं।

(4) ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः—इसमें शब्द एवं अर्थ के व्यापार अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना शक्तियों का बोध होता है। जिस शब्द शक्ति के द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति होती है, वह भी ध्वनि पद से बोध्य है।

(5) ध्वन्यते अस्मिन्निति ध्वनिः— जिस काव्य में वस्तु, रस एवं अलंकार ध्वनित होते है, वह ध्वनि है। इस प्रकार ध्वनि शब्द का प्रयोग पांच अर्थों मे होता है-व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यंग्य अर्थ, व्यञ्जना-शक्ति एवं व्यंग्य प्रधान काव्य।

ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि-सिद्धान्त संस्कृत काव्य-शास्त्र का अत्यन्त महत्त्व शाली एवं प्रौढ सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक अज्ञातनामा ध्वनिकार है। ध्वनि-

सिद्धान्त का एक मात्र आधार ग्रन्थ है ध्वन्यालोक, जिसकी रचना नवीं शताब्दी से मध्य में हुई थी। इस प्रकार आनन्द वर्धन को ही ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय है। इस सम्प्रदाय के आचार्य ध्वनि को ही काव्य की आत्मा अंगीकार करते हैं। आनन्द वर्धन के बाद ध्वनि सम्प्रदाय के प्रबल पोषक अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की सर्वश्रेष्ठ टीका ध्वन्यालोक लोचन की रचना की, जो स्वयं में एक मौलिक ग्रन्थ है। उन्होंने अनेक प्रमाणों एवं युक्तियों के द्वारा ध्वनि विरोधी मान्यताओं का खण्डन कर ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना की।

ध्वन्या लोक में ध्वनि–सिद्धान्त का प्रौढ रूप प्रस्फुटित हुआ है। ग्रन्थ के आरम्भ में प्रतिपाद्य विषय की चर्चा करते हुए ध्वनिकार ने लिखा है कि काव्य के आत्मभूत जिस तत्त्व को विद्वान् लोग ध्वनि नाम से बोधित करते आये है. कुछ लोग उसका अभाव मानते हैं, दूसरे लोग उसे भाक्त (गौण) कहते हैं और कुछ लोग उसके रहस्य को वाणी का अविषय अर्थात् अनिर्वचनीय बताते हैं। अतएव सहृदयों के मन की प्रसन्नता के लिए ध्वनि का निरूपण किया जाता है।[131]

ध्वनि–सिद्धान्त की स्थापना के पूर्व रस, गीति एवं अलंकार सम्प्रदाय का प्रतिपादन हो चुका था। ध्वनि-सिद्धान्त का मूल स्रोत वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त में सुरक्षित है तथा उसका स्वरूप भारतीय दर्शनों में विवेचित है।

उक्त विवेचन के आधार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ध्वनि सिद्धान्त का जन्म उसके प्रतिष्ठापक के पूर्व ही हो चुका था। किन्तु इसका सुव्यवस्थित एवं प्रमाणिक रूप सर्व प्रथम ध्वन्यालोक में ही दृष्टिगत हुआ है।

ध्वनि-सिद्धान्त सतत प्रवहमान भारतीय काव्य-चिन्तन का अप्रतिम सिद्धान्त है, जिसने सर्व प्रथम सार्वदेशिक काव्य-शास्त्रीय स्वरूप प्रस्तुत किया। इसकी विशेषता काव्य के अन्तस्तत्त्व को व्यक्त कर कला के मूल तत्त्व को स्पर्श करना है यह प्रथम भारतीय कला सिद्धान्त है, जिसमें काव्य में कल्पना तत्त्व के महत्त्व को स्वीकार किया गया है।

ध्वनि के तीन प्रकार माने गये हैं–वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि एवं रस ध्वनि। वस्तु एवं अलंकार के साथ रस को भी ध्वनि का रूप मान कर रस की स्वतन्त्र सत्ता हटा दी गयी और उसे ध्वनि का ही भाग मान लिया गया।

सारांश यह हुआ कि रीति, वृत्ति, गुण एवं अलंकार इनमें स्वतः चमत्कार न होकर ध्वन्यर्थ के द्वारा ही चमत्कार होने के कारण अंगी ध्वनि

के ही ये सब अंग बने। ध्वनि ने एक ऐसे महासागर का रूप धारण किया कि रीति, वृत्ति आदि सरिताएं अनायास उसी में जाकर मिल गयी।

तीनों ध्वनियों में रस ध्वनि का स्थान गौरव पूर्ण माना गया है। रस ध्वनि जब काव्य की आत्मा बनती है तभी उसका महत्त्व है किन्तु केवल रस को इन्होंने काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया। रस में ध्वनि का अभाव होता है अतः ध्वनि से संपृक्त रहने पर वस्तु एवं अलंकार ध्वनि को भी उससे उत्तम माना गया है। अतएव ध्वनि वादियों ने रस को काव्य की आत्मा नहीं माना क्योंकि ध्वनि के बिना उत्तम काव्य नहीं हो सकता जब कि वस्तु एवं अलंकार ध्वनि में रस के बिना भी उत्तम काव्यत्व की कल्पना की जा सकती है।

ध्वनि के भेद

लक्षणामूलाध्वनि एवं अभिधा मूलाध्वनि—भेद से ध्वनि के दो प्रमुख भेद किये गये हैं। इनके दूसरे नाम क्रमशः अविवक्षित वाच्य एवं विवक्षित वाच्य ध्वनि हैं।

लक्षणामूलाध्वनि के मूल में लक्षणा होने के कारण इसे लक्षणा मूला ध्वनि कहते हैं। अविवक्षित वाच्य का अर्थ है वाच्य का विवक्षित न होना अर्थात् इस ध्वनि में वाच्यार्थ का बोध होता है अतः उसकी कोई उपयोगिता नहीं रहती। इसमें वाच्यार्थ वाधित होकर लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता हुआ व्यंग्यार्थ का भी बोध कराता है। इसका व्यंग्यार्थ गूढ होने के कारण सहृदय संवेद्य हुआ करता है।

इसमें रूढिलक्षणा न होकर प्रयोजनवती रूढ व्यंग्या लक्षणा रहती है। इसका व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ से अधिक उत्कर्षाधायक होता है। लक्षणा के दो भेदों-उपादान लक्षणा एवं लक्षण लक्षणा के आधार पर इसके दो भेद होते हैं—अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि। वाच्यार्थ का बाधित होना दो प्रकार से सम्भव होता है—एक तो अर्थ की पुनरुक्ति होने से और दूसरे वक्ता के ववतव्य का तात्पर्य व्यक्त न होने से।

अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि

जब वाच्यार्थ अपने स्वरूप में अनुपयुक्त हो जाने के कारण अर्थान्तर में परिवर्तित हो जाय तो उसे अर्थान्तर संक्रमित ध्वनि कहते हैं। अर्थान्तर संक्रमित का अर्थ है दूसरे अर्थ में परिवर्तित हो जाना। जब शब्द का मुख्य अर्थ प्रकरण में अनुपयुक्त होने के कारण अपने विशेष रूप अर्थान्तर में परिणत

हो जाय तो वहां यह ध्वनि होती है। यह पद गत एवं वाक्यगत दो प्रकार का होता है। पद गत में केवल शब्द का अर्थान्तर में संक्रमण होता है। किन्तु वाक्यगत में सम्पूर्ण वाक्य ही दूसरे अर्थ में परिणत हो जाता है।

अत्यन्त तिरस्कृत अविक्षित वाच्य ध्वनि

इसमें वाच्य अर्थ को सर्वथा छोड़ कर एक भिन्न अर्थ को ग्रहण करता है। वाच्यार्थ के अत्यन्त तिरस्कार के कारण इसे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य कहते हैं। अर्थात् जिसमें वाच्यार्थ या मुख्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार हो, उसे बिल्कुल ही छोड़ दिया जाय। इसमें प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा रहती है।[132]

अभिधामूला ध्वनि

जिस ध्वनि के मूल में अभिधा हो उसे अभिधा मूला ध्वनि की संज्ञा दी जाती है। इसे विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि भी कहते हैं। इसमे वाच्यार्थ की विवक्षा रहती है। इसमें वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी अन्य परक या व्यंग्य निष्ठ होता है। अर्थात् प्रधान रूप से व्यंग्य अर्थ को ही द्योतित करने में लगा रहता है। जिस प्रकार दीपक अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हुए ही घट पट आदि अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार यह ध्वनि भी वाच्य अर्थ को प्रकाशित करती हुई व्यंग्य अर्थ की प्रतीति कराती है।[133] इसमे वाच्यार्थ की का अस्तित्व बना रहता है। वाच्यार्थ की प्रतीति होने पर ही व्यंग्यार्थ प्रतीति होती है। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने का क्रम लक्षित होता है तो कहीं अलक्षित। इस प्रकार इसके भी दो भेद होते है-असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि एवं संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि।[134]

असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि

जहां वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ का पूर्वापर क्रम सलक्षित नहीं होता अर्थात् स्पष्ट रूप से दिखायी नहीं देता वहां असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य से यहाँ तात्पर्य है व्यंग्यार्थ के क्रम का नहीं दिखायी देना। उसमें वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति मे पौर्वापर्य का पता नहीं चलता। इसमें भाव, रस, भावाभास एवं रसाभास आदि व्यञ्जित होते हैं। इसमें विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव के साथ स्थायी भाव का क्रम रहता है परन्तु शीघ्रतावश उसके क्रम का ज्ञान नहीं होता। रस आदि के व्यंग्य होने के कारण इसे रसध्वनि कहते है। विभाव आदि का बोध होने पर ही रस की प्रतीति होती है अतः उसमे क्रम तो रहता ही है किन्तु उसका ज्ञान नहीं होता। शतपत्र भेदन न्याय के समान इसमें क्रम का ज्ञान नहीं रहता। इसी प्रकार

रस की प्रतीति विभाव आदि के बोध के क्रम के असंलक्षित होने के कारण असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य कहा गया है। यह आठ प्रकार का होता है–रस, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि एवं भाव शबलता।

संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि

जिस ध्वनि में वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ का पूर्वापर क्रम स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है, वहां संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। इस ध्वनि में वाच्यार्थ की प्रतीति होने पर व्यंग्यार्थ का बोध होता है। आचार्य मम्मट की दृष्टि में अनुरणन के समान लक्ष्य है क्रम जिसका ऐसे व्यंग्यार्थ की स्थिति जिसमें होती है वह संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। यह ध्वनि शब्द, अर्थ तथा उभय शब्द और अर्थ की व्यञ्जना द्वारा उत्पन्न होने के कारण तीन प्रकार की कही गयी है—

शब्द शक्ति मूलक अनुरणन रूप व्यंग्य, अर्थशक्ति मूलक अनुरणन रूप व्यंग्य तथा उभय शक्ति मूलक अनुरणन रूप व्यंग्य।[431]

ध्वनि

इसमें रस भाव आदि की तरह वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का क्रम असंलक्ष्य नहीं रहता। शब्द शक्ति मूलक अनुरणन रूप ध्वनि के दो भेद होते हैं—वस्तु-ध्वनि और अलकार। वह अर्थ वस्तु कहा जाता है, जिसमें कोई अलंकार नहीं होता। वस्तुध्वनि का क्षेत्र वह होगा, जहाँ व्यंग्यार्थ में कोई अलंकार न हो।

अलंकार ध्वनि

जहाँ व्यंग्यार्थ में कोई अलंकार ध्वनित होता हो, वहाँ अलंकार ध्वनि होती है।

जो दूसरों को अलंकृत करता है उसे अलंकार एवं जो दूसरों के द्वारा सुशोभित हो वह अलंकार्य होता है। जैसे हार, कुण्डल आदि अलंकार है तो मनुष्य का शरीर अलकार्य। इसी तरह उपमा आदि अलंकार जब शब्द एवं अर्थ को भूषित करते हैं तब तो वे अलंकार कहलाते हैं किन्तु व्यंग्यार्थ में स्वयं उनके स्पष्टतः प्रतीत होने से उनकी स्थिति अलंकार्य हो जाती है। अर्थ शक्त्युद्भव अनुरणन ध्वनि— जिस ध्वनि में शब्द परिवर्तन के बाद भी व्यंग्यार्थ का बोध हो अर्थात् उस शब्द के पर्याय के द्वारा भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो तो वहाँ अर्थ–शक्त्युद्भव अनुरणन ध्वनि होती है। इसमें ध्वनि शब्दाश्रित न होकर अर्थाश्रित होती है। इसके तीन भेद हैं—स्वतः सम्भवी, कवि प्रौढोक्ति मात्र सिद्ध एवं कविनिबिद्ध पात्र प्रौढोक्ति सिद्ध। इन तीनों में वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ

कहीं वस्तु रूप और कहीं अलंकार रूप होते हैं इसीलिये प्रत्येक के चार-चार भेद इस प्रकार हुए—

(1) वस्तु से वस्तु ध्वनि
(2) वस्तु से अलंकार ध्वनि
(3) अलंकार से वस्तु ध्वनि
(4) अलंकार से अलंकार ध्वनि

वस्तु से वस्तु ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ भी वस्तुरूप हो एवं उससे प्रतीयमान व्यंग्य भी वस्तु रूप हो तो वहाँ वस्तु से वस्तु ध्वनि कही जाती है।

कथा मुखान्तर्गत राजा तारा पीड के वर्णन में यह ध्वनि दृष्टिगोचर होती है—

"विहाय कमलवनानि, अवगणय्य नारायणवक्षःस्थलवसतिसुखम्, उत्फुल्लारविन्द हस्तया शूरसमागम व्यसनिन्या निर्व्याजमालिङ्गितो लक्ष्म्या।[135]

अर्थात् वीर पुरुषों के संसर्ग में अनुरागिणी तथा हाथ में प्रस्फुटित कमल को धारण करने वाली स्वयं राजलक्ष्मी भी कमलवनों को छोड़कर और नारायण के वक्षस्थल पर वास करने के सुख की गणना न कर निष्कपट होकर उससे आलिंगन पाश में आबद्ध हो गयी थी।

प्रस्तुत वाक्य में राजा तारापीड को कमल से तथा नारायण से भी अधिक सुख एवं आनन्ददायक बताया गया है अतः व्यतिरेक अलंकार ध्वनित होता है तथा राजा तारापीड की अत्यन्त विलासिता एवं महाशूरता व्यञ्जित होती है अतः यहाँ वस्तु स वस्तु ध्वनि हुई।

इस प्रकार ही महाश्वेता के वर्णन—प्रसग में भी वस्तु से वस्तु ध्वनि का सरस उदाहरण उपलब्ध होता है।

"उत्संगगताञ्च स्वसुतामिव सूक्ष्म शंख खण्डिकाङ्गुरीयक पूरिताङ्गुलिना त्रिपुण्ड्रकावशिष्टभस्मपाण्डुरेण प्रकोष्ठ वद्धशंखखण्डकेन नख – मयूख – दन्तुरतया गृहीतदन्त कोणनेव दन्तमयीं दक्षिण करेण वीणामास्फालयन्तीम् प्रत्यक्षमिव गन्धर्व विद्याम्"।[136]

अर्थात् महाश्वेता अपनी पुत्री के समान हस्तिदन्त भूषित एक वीणा

को उत्संग में रखकर दक्षिण कर से वजा रही थी, उसके उस दक्षिण कर की अंगुलियों में सूक्ष्म शंख के टुकड़ों से बनी हुई अंगूठियाँ विराजमान थी, त्रिपुण्ड्र धारण करने से अवशिष्ट भस्म से उसका दक्षिण हस्त शुभ्रवर्ण हो गया था।

प्रस्तुत वाक्य में शंखमय अंगुलीयक एवं कटक के धारण करने से उसकी सौभाग्यशालिता अर्थात् वैधव्य का अभाव ध्वनित होता है अतः यहाँ वस्तु से वस्तु ध्वनि होने से उत्तम काव्य का आनन्द संचरित होता है।

वस्तु से अलंकार ध्वनि

इसमें लक्ष्यार्थ वस्तुरूप होता है और व्यंग्यार्थ अलंकार रूप होता है।

कादम्बरी के उज्जयिनी वर्णन-प्रसंग में वस्तु से अलंकार ध्वनि का उदाहरण उपलब्ध होता है—

"स्तिमित मुरजरव गम्भीर गर्जितेषु सलिलशीकरासाररचितदुर्दिनेषु, पर्यस्तरविकिरणरचित सुरचापचारुषु धारागृहेषु मत्तमयूर मण्डलै र्मण्डलीकृत शिखण्डैस्ताण्डव व्यसनिभिः आबध्यमान केकारव कोलाहला"।[137]

वहाँ धारागृहों में मेघगर्जन के समान मृदंग की गम्भीर ध्वनि हो रही है, जल कणों की वृष्टि से दुर्दिन सा प्रतीत हो रहा है, सूर्य की किरणों से पृथ्वी पर इन्द्रधनुष की सृष्टि हो रही है और मण्डलाकार पंख फैलाकर नृत्य में आसक्त मदमत्त मयूरों के शब्द से कोलाहल हो रहा है।

प्रस्तुत वाक्य में मुरजरव में मेघ गर्जन की, सलिल शीकरासार में दुर्दिन की और धारायन्त्रों में रवि किरण सम्पर्क से सुरचाप की भ्रान्ति होने से यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार व्यञ्जित होता है अतः यहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्य निकलता है अतः यह वस्तु से अलंकार ध्वनि का विषय है।

इस प्रकार अच्छोद सरोवर का प्रसंग भी इस दृष्टि से महत्त्व पूर्ण है-

[138]**"नूनञ्चेदं न प्रथममासीत् सरः येन प्रलयवराह घोणाभिघात भीता भूतधात्री कलसयोनिपानपरिकलितसकल सलिलं सागरमवतीर्णा अन्यथा यद्यत्र अगाधपातालगम्भीरांभसि निमग्नाभवेन्महा सरसि किमेकेन महावराह सहस्रैरपि नासादिता भवेत्।"**

अर्थात् यथार्थ में यह सरोवर पहले नहीं था क्योंकि प्रलयकाल में महावराह की नासिका के आघात से भयभीत होकर पृथ्वी महर्षि अगस्त्य के

पान करने से जिसके जल की थाह मिल गयी थी, ऐसे समुद्र में उतर गयी थी अन्यथा यदि वह कभी इस सरोवर के अगाध एवं अनेक पातालों के समान गम्भीर जल में निम्मन होती तो एक क्या हजारों महावराह भी उसका पता नहीं लगा पाते।

प्रस्तुत वाक्य में उपमान भूत समुद्र से उपमेय भूत अच्छोद सरोवर को अधिक उत्कृष्ट बताया गया है अतः व्यतिरेक अलंकार व्यञ्जित होता है। यहाँ वाच्यार्थ से अलंकार व्यंग्य है अतः वस्तु से अलंकार ध्वनि का यह सरस उदाहरण है।

अलंकार से वस्तु व्यंग्य

जहाँ वाच्यार्थ अलंकार रूप हो तथा व्यंग्यार्थ वस्तु रूप हो वहाँ अलंकार से वस्तु ध्वनि होती है। अलंकार के द्वारा जहाँ व्यग्य अर्थ निकलता हो वहीं इस ध्वनि का क्षेत्र है।

कथामुख के अन्तर्गत शालमली वृक्ष के वर्णन में इस ध्वनि का लावण्य दृष्टिपथ में आता है—

"इतस्ततः परिपीतसागरसलिलैर्गगनागतैः पत्ररथैरिव शाखान्तरेषु निलीयमानैः क्षणमम्बुभारालसैरार्द्रीकृतपल्लवैर्जलधरपटलैरप्यदृष्ट-शिखरः तुङ्गतया नन्दनवनश्रियमिवावलोकयितुमभ्युद्यतः।"[139]

अर्थात् समुद्र का जल पीकर आकाश मार्ग से जाने वाले पक्षियों के समान बादल उसके शिखर पर न पहुँच कर बीच ही में इधर-उधर डालियों में अटक जाते थे और पानी के भार से थकने के कारण वहाँ कुछ समय रुक कर उसके पल्लवों को आर्द्र कर जाते थे। वह आकाशतल तक पहुँचती हुई ऊँचाई से ऐसा प्रतीत होता था कि मानो ऊचक कर वह नन्दन वन की शोभा को देखने का प्रयत्न कर रहा हो।

प्रकृत अवतरण में जलधर समूहों के शिखरावलोकन रूप सम्बन्ध के होते हुए भी उनके सम्बन्धाभाव की सम्भावना की गयी है अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है। अतिशय का अभिधान करने से उसकी अत्युन्नतता व्यञ्जित होती है। यहाँ अत्युच्चता वस्तु है, जो अतिशयोक्ति अलंकार से ध्वनित होती है अतः यहाँ अलंकार से वस्तुध्वनि हुई।

इस प्रकार कन्यान्तःपुर के उदन्तवर्णन में भी यह ध्वनि प्राप्त होती है—

"यत्र च अलक्तक रसोऽपि चरणातिभारः, बकुलमालिका मेखला कलापमपि गमनविघ्नकरम्, अंगराग गौरवमप्यधिक श्वास निमित्तम्,

अंशुकभारोऽपि ग्लानि करणम्, मंगल प्रतिसरवलय विधृतिरपि करतलविधूति हेतुः, अवतंस कुसुमधारणमपि श्रमः, कर्णपूरकमल-मधुकरपक्षपवनोऽप्यायासकरः ।"[140]

सार यह है कि वहाँ अलक्तक का रस भी चरणों को अत्यन्त भार-कारी था, वकुल पुष्प की माला के चन्द्रहार भी गति में अवरोध करते थे, अंगराग का भार भी श्रम जनक होने से अत्यन्त श्वास का कारण था, पहने हुए सूक्ष्म वस्त्र का भार भी ग्लानिकारक था, मांगलिक हस्त सूत्र का वलय भी हस्त कम्पन का कारण था, मस्तक पर पुष्प धारण भी परिश्रमजनक था, एवं कान में पहने हुए कमल पर बैठे हुए भ्रमरों के पंखों का पवन भी अत्यन्त क्लेश को उत्पन्न करता था।

प्रस्तुत गद्यांश के प्रत्येक वाक्य में असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिश-योक्ति अलंकार स्पष्ट है तथा उससे उन कन्याओं की निरतिशय सुकुमारता व्यञ्जित होती है अतः अलंकार से सुकुमारता रूप वस्तु के व्यञ्जित होने से यहाँ अलंकार से वस्तु ध्वनि हुई है।

अलंकार से अलंकार ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ भी अलंकार रूप हो और उससे निकलने वाला व्यंग्य भी अलंकार हो, वहां अलंकार से अलकार ध्वनि कही जाती है। यहाँ किसी अलंकार के द्वारा किसी अलंकार की ध्वनि के दर्शन होते हैं—

पुण्डरीक के वर्णन में इस ध्वनि के दर्शन होते हैं—

"मन्ये च सकलजगन्नयनानन्दकरं शशिविम्बं विरचयता लक्ष्मीलीला-वासभवनानि कमलानि सृजता प्रजापतिना एतदाननाकार करण-कौशलाभ्यास एव कृतः अन्यथा किमिव हि सदृश वस्तुविरचनायाः कारणम् ।"[141]

अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त जगत् के नयनों को आनन्द देने वाले चन्द्रमण्डल को एवं लक्ष्मी के लीलागृह कमलों को उत्पन्न करके इस कुमार की मुखाकृति के निर्माण करने में दक्ष होने के लिए पहले अभ्यास किया था अन्यथा एक प्रकार की अनेक वस्तुओं के निर्माण करने का क्या प्रयोजन हो सकता है ?

प्रस्तुत उदाहरण में 'मन्ये' शब्द के प्रयोग से उत्प्रेक्षा अलंकार अभिहित होता है। यहाँ 'मन्ये' क्रिया वाच्या है अतः वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा का यह उदाहरण है। कोई अन्य व्यक्ति भी सुन्दर वस्तु का निर्माण करने हेतु पहले उसी

प्रकार की अन्य वस्तु का निर्माण कर निरन्तर अभ्यास से उसमें दक्षता प्राप्त करता है यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार से चन्द्रमा और कमल से मुनिकुमार के मुख की अत्यन्त रमणीयता के बोधन होने से व्यतिरेक अलंकार व्यञ्जित होता है। कमल और चन्द्रमा दोनों ही प्रसिद्ध एवं अधिक गुण वाले उपमान है, उनसे मुनिकुमार के मुख का आधिक्य प्रदिपादन करने से यहाँ व्यतिरेक अलंकार ध्वनित होता है। अर्थात् इससे यह ध्वनि निकलती है कि मुनिकुमार का मुख चन्द्रमा और कमल के गुणों से भी विशिष्ट गुणवाला हैं अतः यहाँ व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य होने के कारण अलंकार से अलंकार ध्वनि है।

इसी प्रकार चन्द्रापीड के समक्ष मदलेखा द्वारा कादम्बरी की दशा के वर्णन में यह ध्वनि मनोरम है—

> **"कुमार। कथयामि दारुणोऽयमकथनीयः सन्तापः। अपि च कुमार भावोपेतायाःकिमिवास्याः यन्न सन्तापाय। तथाहि मृणालिन्याः शिशिरकिसलयमपि हुताशनायते, ज्योत्स्नाप्यातपायते।"**[142]

सार यह है कि कुमार क्या कहा जाय, अत्यन्त भयंकर यह सन्ताप अवर्णनीय है। देवी सुकुमार भाव अर्थात् सन्तापकारक कामभाव से समन्वित है अतः कौनसी ऐसी वस्तु है जो उसमें सन्ताप उत्पन्न न करती हो। देखिये पद्मलता का शीतल पल्लव भी अग्नि के समान व्यवहार करता है और चन्द्रिका भी सूर्य की प्रचण्ड किरणों के समान आचरण करती है।

प्रस्तुत वाक्य में हुताशनायते तथा आतपायते दो वाक्य 'क्यङ्' प्रत्यय के द्वारा उपमा के बोधक है। 'हुताशन इव आचरति इति हुताशनायते' तथा आतप इव आचरति इस व्युत्पत्ति से 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' सूत्र से क्यङ् प्रत्यय हुआ है। इस प्रकार यहाँ व्यङ्गता उपमा अलंकार है। उपमा अलंकार में शीतल पदार्थ से भी सन्ताप का उत्पन्न होना विषम अलंकार को व्यञ्जित करता है। दो विपरीत वस्तुओं की एकत्र संघटना को विषम अलंकार कहा जाता है। शिशिर और ताप होना वस्तुतः दो विपरीत पदार्थ है और यहाँ यह ध्वनि निकलती है कि शिशिर किसलय भी अग्नि के समान है तथा शीतल चन्द्रिका भी सूर्य की प्रचण्ड रस्मियों के समान सन्ताप कारक है।

इस प्रकार यहाँ उपमा के द्वारा व्यतिरेक अलंकार के ध्वनित होने से अलंकार से अलंकार ध्वनि स्पष्ट है।

उक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ध्वनि–सिद्धान्त सतत प्रवहमान भारतीय काव्य-चिन्तन का अप्रतिम सिद्धान्त है,

जिसने सर्व प्रथम सार्वदेशिक काव्य शास्त्रीय रूप प्रस्तुत किया। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक की रचना कर एक सार्वभौम सिद्धान्त की स्थापना की है। ध्वनि का महत्त्व काव्य के अन्तस्तत्व को व्यक्त कर कला के मूल तत्त्व को स्पर्श करना है। यह प्रथम भारतीय कला सिद्धान्त है जिसने काव्य में कल्पना तत्त्व के महत्त्व को स्वीकार किया।

वस्तुतः रीति, वृत्ति, गुण, अलंकार– इन सभी में स्वतः चमत्कार न होकर ध्वन्यर्थ के द्वारा ही चमत्कार होने के कारण अङ्गी ध्वनि के ही ये सब अङ्ग हैं। ध्वनि ने एक ऐसे महासागर का रूप धारण किया कि रीति, वृत्ति, गुण, अलंकार आदि नदियां अनायास ही उसी में जाकर मिल गयी। ध्वनि का महत्त्व इसीलिए अङ्गीकार किया गया है।

करुण

शृंगार के साथ ही साथ अङ्ग रूप में अन्य रस भी कादम्बरी में उल्लसित होते हैं। करुण रस का स्थान उन में प्रथम है। आकाश वाणी से कादम्बरी का करुणा प्रवाह विप्रलम्भ में परिणत हो जाता है अन्यथा करुण रस ही सर्वत्र व्याप्त होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। आलम्बन की मृत्यु होने पर करुण रस का पूर्ण परिपाक होता है। इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति के कारण करुण रस की सृष्टि होती है। शोक इसका स्थायी भाव है। मृत व्यक्ति अथवा दीन-हीन अवस्था को प्राप्त कोई पुरुष इसके आलम्बन हैं। मृतक व्यक्ति के गुण श्रवण, उसकी वस्तुओं का दर्शन आदि करुण रस के उद्दीपक हैं। अनुभावों में रुदन, भूमिपतन, प्रलाप, सिर पटकना आदि प्रमुख हैं।

इष्टनाश एवं अनिष्ट प्राप्ति का यह अर्थ नहीं है कि इष्ट व्यक्ति या वस्तु का सर्वथा नाश हो जाय अथवा केवल इष्ट वस्तु या व्यक्ति का ही अनिष्ट हो अपितु उस व्यक्ति अथवा वस्तु की हानि होने से भी करुण रस की उत्पत्ति हो सकती है। करुण रस की उत्पत्ति शोक से ही होती है। साधारणीकरण व्यापार के द्वारा सर्व साधारण के रूप में आस्वादित होने वाला शोक ही करुण रस-रूप में परिणत होता है।

कादम्बरी काव्य में महाश्वेता का प्रलाप करुण रस का प्रकृष्ट स्थल है—

''पुण्डरीक। निष्ठुरोऽसि, एवमप्यार्तां न गणयसि माम्' इति उपालभमाना मुहुर्मुहुरेनमन्वनयम्, मुहुर्मुहुः पर्यचुम्बम्, मुहुर्मुहुः

कण्ठे गृहीत्वा व्याक्रोशम् । 'आः पापे । त्वयापि मत्प्रत्यागमन काल यावदस्यासवो न रक्षिता' इति तामेकावलीमगर्हयम् । कुतस्ते संलापाः, कुतस्तान्यतिकरुणानि वैक्लव्यरुदितानि अन्य एव स प्रकारः । प्रलयोर्मय इवोदतिष्ठन्ननन्तर्वाष्पवेगानाम्, जल-यन्त्राणीवामुच्यन्ताश्रुप्रवाहाणाम्, प्ररोहा इव निरगच्छन् प्रलापानाम्, शिखाशतानीवावर्द्धन्त दुःखानाम्, प्रसूतय इव उदपद्यन्त मूर्च्छानाम्" ।[143]

पुण्डरीक की मृत्यु पर महाश्वेता का करुण क्रन्दन तथा प्रलाप करुण रस की प्रतीति कराता है ।

प्रस्तुत गद्य खण्ड में महाश्वेता के प्रणय के आलम्बन पुण्डरीक की मृत्यु पर महाश्वेता की करुणामय चीत्कार किस के हृदय को द्रवीभुत नहीं करती । उसके संलाप, अतिकरुण वैक्लव्य रुदन, प्रलयकालीन ऊर्मियों के समान अश्रु-वेग, फव्वारे के समान निकलते हुए आंसू, नये अंकुरों के समान उठते हुए विलाप, दुःखों के सैंकडों शिखर एवं मूर्च्छा की अविच्छिन्न परम्परा– ये सब अनुभाव के रूप में यहां वर्णित है । इष्टनाश होने पर यहा करुण रस का पूर्ण अवसर है ।

इसी प्रकार महाश्वेता के विलाप वर्णन में भी करुण रस द्रष्टव्य है—

"असवश्च मे तस्मिन् क्षणे किमिति कठिनतया अस्य मूढहृदयस्य, किमनेकदुःखसहिष्णुतया हतशरीरकस्य, किं विहिततया दीर्धशोकस्य, किं भाजनतया जन्मान्तरोपात्तस्य दुष्कृतस्य, किं दुःखदाननिपुणतया दग्धदैवस्य किमेकान्तवासतया दुरात्मनो मन्मथहतकस्य, केन हेतुना नोद्गच्छन्ति स्म तदपि न ज्ञातवती" ।[144]

प्रस्तुत वाक्य में शोक स्थायी भाव ही करुण रसरूपता को प्राप्त हो जाता है । आकाश वाणी के अनन्तर ही पुनः मिलन की आशा उत्पन्न होती है अतः वहां करुण विप्रलम्भ श्रृंगार माना जाता है अतः इस प्रकरण में करुण रस का अवसर है । साथ ही वितर्क नामक भाव यहां करुण रस का अङ्ग है । अतः प्रेय नामक अलंकार है ।

अद्भुत

करुण के समान ही अद्भुत रस भी काव्य में अङ्ग रूप में प्रस्फुटित हुआ है । आश्चर्य जनक वस्तुओं के अवलोकन से अद्भुत रस की सृष्टि होती है ।

साथ ही लोकोत्तर घटना अथवा वस्तु के द्वारा भी अद्भुत रस की निष्पत्ति मानी गयी है। आचार्य भरत के अनुसार अद्भुत रस की निष्पत्ति दिव्यजनों के दर्शन, अभिलषित मनोरथ की प्राप्ति, उपायन एवं देवमन्दिर में जाने, सभा, विमान, माया, इन्द्रजाल आदि की सम्भावना आदि विभावों के कारण होती है।[145] विस्मय या आश्चर्य इसका स्थायी भाव, अलौकिक अथवा आश्चर्यजनक वस्तु इसके आलम्बन, आश्चर्यजनक वस्तु की विवेचना उद्दीपन के रूप में तथा रोमाञ्च, स्वेद, स्तम्भ, गद्‌गद होना सम्भ्रम आदि अनुभाव होते हैं। वितर्क, स्मृति, हर्ष, आवेग, मति आदि संचारी भाव अद्भुत रस की चर्वणा में योगदान देते हैं।

कादम्बरी में अनेक स्थानों पर अद्भुत वस्तुओं का वर्णन किया गया है। महाश्वेता के आतिथ्य का वर्णन कतिपय स्थलों में से एक है जहां अद्भुत रस का संचार परिलक्षित होता है—

> **"किमतः परमाश्चर्यं, यदत्र व्यपगतचेतना अपि सचेतना इव अस्यै भगवत्यै समतिसृजन्तः फलान्यात्मानुग्रहमुपपादयन्ति वनस्पतयः। चित्रमिदमालोकितमस्माभिरदृष्ट पूर्वम् इत्यधिकतरोपजात-विस्मयश्चोदतिष्ठत्"** ।[146]

अर्थात् ये चैतन्य रहित वनस्पति समूह भी सचेतन के समान इस देवी को फल समर्पण कर अपना अनुग्रह प्रकट करते हैं तो इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है? यह अभूतपूर्व वृत्तान्त एक अत्यन्त अदृष्ट पूर्व आश्चर्य है।

महाश्वेता के भिक्षाकपाल के वृक्षों द्वारा प्रदत्त फलों से भर जाने से चन्द्रापीड का आश्चर्यचकित होना नितान्त स्वाभाविक है। सचेतन के समान अचेतन भी व्यवहार करते हैं- इस आश्चर्यजनक घटना के अवलोकन से यहां अद्भुत रस की निष्पति मानी गयी है। भिक्षा कपाल का फलों से परिपूर्ण हो जाना यहां विभाव है। विस्मित होकर गद्‌गद हो जाना तथा संभ्रम आदि इसके अनुभाव हैं। अतः यह अद्भुत रस का रम्य स्थल है।

जय शब्दोच्चारण के अनन्तर राजा को उद्देश्य करके कही गयी आर्या के स्पष्ट एवं मधुर वर्णों से आश्चर्यचकित राजा के ये वाक्य अद्भुत रस के सुरम्य लक्ष्य है—

> **"श्रुता भवद्भिरस्य विहंगमस्य स्पष्टता वर्णोच्चारणे, स्वरे च मधुरता, प्रथमं तावदिदमेव महदाश्चर्यम् यदय-**

मसंकीर्णवर्णप्रविभागामभिव्यक्तमात्रानुस्वारस्वरसंस्कारयोगां विशेषयुक्ताम् अतिपरिस्फुटाक्षरां गिरमुदीरयति। तत्र पुनरपरमभिमतविषये तिरश्चोऽपि मनुजस्येव संस्कारवती बुद्धि पूर्वा प्रवृत्तिः। तथाहि-अनेन समुत्क्षिप्त दक्षिणचरणेनोच्चार्य जय शब्दमियमार्या मामुद्दिश्य परिस्फुटाक्षरं गीता। प्रायेण हि पक्षिणः पशवश्च भयाहारमैथुननिद्रा संज्ञामात्रवेदिनो भवन्ति। इदन्तु महच्चित्रम्''।[147]

अर्थात् पक्षी के उच्चारण में वर्णों की स्पष्टता तथा स्वरों की मधुरता विस्मय जनक है। पहले तो यही महान् आश्चर्य है कि यह अपने कण्ठ से पृथक् व्यक्त होने वाले वर्णों, मात्राओं और अनुस्वारों से मधुर स्वरों में संस्कृत व्याकरणसिद्ध तथा अलंकार आदि विशेष गुणों से ओतप्रोत अत्यन्त स्पष्ट वाणी का उच्चारण कर रहा है। उस पर यह और भी आश्चर्य की बात है कि पक्षी होने पर भी इसके कार्यों में मनुष्य के समान बुद्धि पूर्व व्यवहार की प्रवृत्ति है। इसने अपना दक्षिण चरण उठाकर जय शब्द का उच्चारण किया है और आर्या छन्द का स्पष्ट अक्षरों में गान भी किया है। पशु और पक्षी प्रायः भय, आहार, निद्रा और मैथुन आदि मूल प्रवृत्तियों के विषय मात्र का ही ज्ञान रखते हैं, इसे तो लोक के शिष्ट व्यवहार का भी ज्ञान है। यह तो महान् आश्चर्य का विषय है।

प्रस्तुत उद्धरण में शुक आलम्बन है तथा शुक के मुख से उच्चरित जय शब्द एवं आर्या गीति उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आते हैं। विस्मय इसका स्थायी भाव है। शुक का विलक्षण ज्ञान एवं व्यवहार अत्यन्त आश्चर्यजनक है। अतः राजा को विस्मित कर देने से यहां अद्भुत रस का पूर्ण परिपाक हुआ है।

वीर

कादम्बरी में वीर रस का भी अङ्ग रूप में सुन्दर परिपाक हुआ है। प्रताप, विनय, अध्यवसाय, धैर्य, हर्ष, विस्मय, विक्रम आदि विभावों से उत्साह नामक स्थायी भाव के परिपक्व होने पर वीर रस की निष्पत्ति होती है।

आचार्य भरत के अनुसार वीर रस का स्थायी भाव उत्तम प्रकृति का उत्साह होता है। वह असम्मोह, अध्यवसाय, नीति, विनय, बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप एवं प्रभाव आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है।

दर्पण कार विश्वनाथ[148] के अनुसार उत्तम पात्र में वीर रस आश्रित होता है। उसका स्थायीभाव है उत्साह। इसका रंग सुवर्ण के समान होता है। शत्रु अथवा जीतने योग्य व्यक्ति उसके आलम्बन होते हैं। आलम्बनों की चेष्टाएं उद्दीपन विभाव हैं। इसके अनुभाव है—युद्ध के सहायक का अन्वेषण करना। धैर्य, तर्क, रोमाञ्च आदि इसके संचारी भाव है। यह दान, दया, युद्ध एवं धर्म-भेदों से चार प्रकार का मनाना गया है।

राजा शूद्रक के वर्णन में वीर रस की छटा दृष्टि गोचर होती है—

"आसीदशेष नरपति शिरःसमभ्यर्चितशासनः पाकशासन इवापरः, चतुरुदधिमाला मेखलाया भुवो भर्ता, प्रतापानुरागावनत-समस्त सामन्तचक्रः, चक्रवर्ति लक्षणोपेतः, चक्रधर इव कर कमलोपलक्ष्यमाण शंखचक्रलांछनः, हर इव जितमन्मथः, गुह इव अप्रतिहत शक्तिः, कमल योनिरिव विमानीकृत राजहंस मण्डलः, उदयशैलो मित्रमण्डलस्य, उत्पातकेतुरहितजनस्य, प्रवर्तयिता गोष्ठीबन्धानाम्, आश्रयो रसिकानाभ् प्रत्यादेशो धनुष्मताम्, धौरेयः साहसिकानाम्, अग्रणीर्विदग्धानाम् वैनतेय इव विनतानन्द-जननः, वैन्य इव चापकोटि समुत्सारित सकलारातिकुलाचलो राजा शूद्रको नाम। नाम्नैव यो निर्मिन्नारातिहृदयो विरचितनारसिंह-रूपाडम्बरम्, एक विक्रमाक्रान्तसकलभुवनतलो विक्रमत्रयायासित भुवनत्रयं जहासेव वासुदेवम" ।[149]

प्रस्तुत वाक्य में उत्साह स्थायी भाव है। राजा शूद्रक के पराक्रम पूर्ण जीवन का वर्णन किया गया है। प्रताप, विनय, अध्यवसाय, धैर्य, हर्ष, विस्मय, विक्रम आदि विभावों से उत्साह रूप स्थायी भाव परिपक्व होकर वीर रसरूपता को प्राप्त होता है। शत्रु वर्ग यहाँ आलम्बन है। शत्रुओं को विनत बना देना या विमानीकृत कर देना तथा अराति हृदय को निर्भिन्न कर देना अनुभाव है। अर्थात् इस बली महीपति ने अपने नाम के सुनाने मात्र से ही शत्रुओं के वक्षों को विदीर्ण कर दिया परन्तु वासुदेव ने तो शत्रुवक्षभेदन के लिए नृसिंह का रूप धारण किया तथा इस राजा ने एक ही पराक्रम से अनायास ही समस्त भुवन मण्डल को अपने अधीन कर लिया जब कि वासुदेव ने तीन विक्रमों से तीन ही लोकों को अपने अधीन किया।

शत्रुओं का गर्व यहाँ संचारी भाव है। अतः यहाँ वीर रस का रसा-स्वाद अनायास ही हो जाता है।

"शनै, शनैश्च स्वेच्छया परिभ्रमन्, नमयन्नुन्नतान्, उन्नमयन्नतान्, आश्वासयन् भीतान्, रक्षन शरणागतान्, उन्मूलयन् विटपकान्, उत्सादयन् कण्टकान्, अभिषिञ्चन् स्थान स्थानेषु राजपुत्रान्, समजयन् रत्नानि, प्रतीच्छन्नुपायनानि, गृह्णन् करान् आदिशन् देश व्यवस्थाः, स्थापयन् स्वचिह्नानि, कुर्वन् कीर्तनानि, लेखयन् शासनानि, पूजयन्नग्रजन्मनः, प्रणमन् मुनीन्, पालयन्नाश्रमान्, जनयञ्जनानुरागम्, प्रकाशयन् विक्रमम्, आरोपयन् प्रतापम्, उपचिन्वन् यशः, विस्तारयन् गुणान्, प्रख्यापयन् सच्चरितम्, आमृदनंश्च वेलावनानि, बलरेणुभिराधूसरीकृत सकलसागरसलिलः पृथिवीं विचचार।"[158]

इसी प्रकार चन्द्रापीड के दिग्विजय के वर्णन में भी चन्द्रापीड के पराक्रम एवं प्रभाव का वर्णन हुआ है—

प्रस्तुत वाक्य में चन्द्रापीड के पराक्रम का वर्णन किया गया है। शत्रुओं का नाश, मित्रों का उत्कर्ष एवं प्रताप की अभिवृद्धि आदि क द्वारा उत्साह रूप स्थायीभाव की परिपुष्टि होती है। अतः यहाँ वीर रस है।

बीभत्स

वीभत्स रस भी कादम्बरी में आभासित होता है। घृणित वस्तुओं को देख कर अथवा सुनकर जो रस उत्पन्न होता है, उसे वीभत्स रस कहते हैं। इसका स्थायीभाव जुगुप्सा है। घृणित पदार्थ जैसे दुर्गन्ध युक्त रक्त मांस आदि इसके आलम्बन हैं। सडकर कीड़ा पड़ जाना आदि इसके उद्दीपन है।

वीभत्स रस की निष्पत्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि श्मशान, शव, रक्त, मांस या सड़े, गले पदार्थों का ही वर्णन किया जाय अपितु ऐसी वस्तुएँ भी वीभत्स के अन्तर्गत आती है जिनके प्रति मन में अरुचि या घृणा का भाव हो। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अहृद्य या अप्रिय वस्तु को देखकर अथवा अनिष्ट के सम्बन्ध मे सुनकर, देखकर अथवा स्मरण करने पर वीभत्स रस व्यक्त होता है।

शबरालय वर्णन में जुगुप्सा और घृणा के उत्पादक तत्त्वों का साम्राज्य है—

"नीयमानश्च तथा तेन तन्मोचन प्रत्याशयैवाग्रतो दत्तदृष्टिः आविष्टै-रिव, वीभत्सविन्यासैर्व्यावृत्तैश्चावर्तकानाय परिभ्रमणादि निभृतैश्च,

मृगावपाटित जीर्ण वागुरासंग्रथनव्यग्रै श्चोत्त्रुटित कूट पाश संग्रथनाय-स्तैश्च हस्तस्थित सकाण्डकोदण्डैश्च, प्रासप्रचण्ड पाणिभिश्च सेलग्राहिभिश्च, नानाविध ग्राहक विहङ्ग वाचालन कुशलैः कौलेयकमुक्तिसंचारण चतुरैश्चण्डालशिशुभिर्वृन्दशो दिशिदिशिमृगयां क्रीडभ्दिर्दूरत एव ग्रावेद्यमानम् इतस्ततो विस्रगन्धि धूमोद्गमानुमीयमान सान्द्र वंश वनान्तरित वेश्म सन्निवेशम् सर्वतः करंकप्रायवृत्तिवाटम्, ग्रस्थिप्राय रथ्यावकरकूटम्, उत्कृत्त मांसभेदोवसासृक्कर्दभप्रायकुटीराजिरम्, ग्रपुण्यकर्मैकापणं पक्वणमपश्यम् ।"[151]

ग्रर्थात् भूताविष्ट से वीभत्स वेशभूषाधारी, जाल को घुमाने में ग्रासक्त, मृग द्वारा फाडे गये पुराने जाल को सीने में संलग्न, टूटे पाश को जोड़ने में प्रयत्नशील, हाथों में धनुष, दण्डधारण करने वाले, सेल ग्राही, नाना प्रकार के शिकारी पक्षियों को वाचालित करने में कुशल, कुत्तों को खोलने तथा हिंसा में प्रयुक्त करने में दक्ष, चण्डाल बालक घूम रहे थे। वहाँ दुर्गन्ध पूर्ण घूम से बने वश वन में ग्रवस्थित छिपे हुए घर का ग्रनुमान होता था, कंकालों के बने घेरे थे, ग्रस्थियों की बनी गलियों की ग्रावृतियाँ थीं। झोंपड़ियों के ग्रांगन उधेड़े हुए पशुग्रों के मांस, मेदा, वसा की कीचड़ से भरे हुए थे, उसकी जीविका ही शिकार थी, मांस ही प्रधान भोजन था, चर्वी ही घी ग्रौर तेल था।

शबरों की बस्ती का यह वर्णन ग्रन्तःकरण में घृणा को उत्पन्न करता है। मांस, मेदा, वसा, रक्त, ग्रस्थि कंकालों के वर्णन से जुगुप्सा नामक स्थायी भाव परिपक्व होकर वीभत्स नामक रस में परिणत हो जाता है। इसका स्थायी भाव जुगुप्सा है। शवरालय का दृश्य ग्रालम्बन है। पशु ग्रादि के मृत शरीर, उधेड़े हुए मांस, वसा, मेदा ग्रादि इसके उद्दीपन हैं। ग्रावेग संचारी भाव है। ग्रांख, नाक, मुंह सिकोड़ना ग्रादि यहाँ ग्रनुभाव हैं। ग्रतः यहाँ वीभत्स रस की चर्वणा स्पष्ट है।

शान्त

कादम्बरी में शान्त रस भी यत्र तत्र ग्राभासित होता है। तत्त्व ज्ञान एवं वैराग्य के कारण शान्त रस की निष्पत्ति मानी जाती है। इसका स्थायी भाव निर्वेद ग्रथवा शम होता है। संसार का ग्रनित्य रूप से ज्ञान, परमात्म-चिन्तन ग्रादि इसके ग्रालम्बन हैं। पुण्याश्रम, तीर्थ स्थान, रमणीयवन ग्रादि इस रस के उद्दीपन हैं। धृति, निर्वेद, मति, स्मृति ग्रादि संचारी भाव हैं। रोमाञ्च ग्रादि इसके ग्रनुभाव हैं।

शान्त रस की स्वीकृति निर्विवाद नहीं रही है। आचार्य भरत ने रसों की संख्या आठ ही मानी है। दण्डी ने भी भरत के समान ही आठ ही रसों को स्वीकार किया है।[152] भामह तक आठ ही रसों का उल्लेख प्राप्त होता है। सर्व प्रथम उभ्दट ने निर्भ्रान्ति रूप से नव रसों का वर्णन किया है।[153] उभ्दट से पूर्व किसी अन्य आचार्य का परिज्ञान नहीं होने से शान्त रस की उभ्दावना का श्रेय उभ्दट को ही दिया जाता है। भरत से पूर्ववर्ती द्रुहिण नामक आचार्य ने भी आठ ही रसों को अंगीकृत किया है, जैसा कि नाट्य शास्त्र से ज्ञात होता है—

"एवं ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।"[154] आचार्य मम्मट विश्वनाथ आदि ने नव रसों में शान्त को स्थान दिया है।

महाश्वेता के वर्णन में शान्त रस का आस्वादन किया जा सकता है–

"तस्य च दक्षिणां मूर्तीमाश्रित्याभिमुखीमासीनाम्, उपरचित ब्रह्मासनाम्, अतिविस्तारिणा सर्वदिङ् मुखप्लावकेन प्रलयपरिप्लुत क्षीरपयोधिपूरपाण्डुरेण अति दीर्घकाल संचितेन तपोराशिनेव सर्वतो विसर्पता पादपान्तरैरन्त्रस्रोतो जलनिभेन पिण्डीभूयवहतेव देहप्रभा-वितानेन सगिरिकाननं चन्द्रमयमिव तं प्रदेशं कुर्वतीम्,……………… निर्ममाम्, निरहंकाराम्, निर्मत्सराम्, अमानुषाकृतिम्, दिव्यत्वा-दपरिज्ञायमानवयःपरिमाणाम् अप्यष्टादश वर्ष देशीयामिवोपलक्ष्यमा-णाम् प्रतिपन्नपाशुपतव्रतां कन्यकां ददर्श।" [155]

भगवान् त्र्यम्बक की दक्षिणामूर्ति के सामने पद्मासन में विराजमान, उस देव कन्या के शरीर का कान्तिप्रवाह प्रलय कालीन उद्वेलित क्षीर सागर के प्रवाह के समान शुभ्रवर्ण, सर्वदिक् व्यापी दीर्घकाल सचित तपोराशि के समान था। वह ममत्व, अहंकार और मात्सर्य से शून्य थी, मुनिगण के उपयुक्त दण्ड, कमण्डलु आदि उसके उपकरण थे, इस प्रकार वह पशुपति को प्रसन्न करने के लिए उसकी आराधना में संलग्न थी।"

महाश्वेता की वेशभूषा, आचरण, व्यवहार–सब कुछ जो यहाँ निर्दिष्ट है सभी उसकी तपोनिष्ठता का आभास देता है। शम यहां स्थायी भाव है। मुनियों के समान उसका आचरण तथा शिव का आराधन दोनों ही उसमें शान्त रस का संचार करते हैं। परमात्मचिन्तन यहाँ आलम्बन है, पुण्याश्रम, रमणीय वन आदि यहाँ उद्दीपन विभाव हैं, निर्वेद धृति, स्मृति आदि यहाँ

संचारी भाव है। सभी पदार्थों में समदृष्टि तथा भोग आदि से विरति यहाँ अनुभाव है। इस प्रकार यहाँ शान्त रस का रम्य क्षेत्र है।

हास्य

कादम्बरी में हास्य रस का अभाव नहीं है। विकृत आकार, वेष, वाणी और चेष्टा आदि के वर्णन से हास्य रस की निष्पत्ति होती है। भरत के अनुसार हास्य रस की उत्पत्ति के मूल में विकृति ही अवस्थित है। इसका स्थायी भाव है हास। विकृत वेशभूषा तथा वचन आदि है इसके आलम्बन। तथा इसके उद्दीपन है-अनुपयुक्त वचन एवं हास्यजनक चेष्टाएँ। मुख, नासिका अधर आदि का विस्फारित करना हास्य रस के अनुभाव हैं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विकृत आकार, वाणी. वेष तथा चेष्टा आदि के अभिनय से हास्य रस का आविर्भाव होता है। जिसकी विकृत आकृति, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि को देखकर लोग हँसे वह यहाँ आलम्बन और उसकी चेष्टाएं उद्दीपन हैं। नयनों का मुकुलित होना तथा वदन का विकसित होना हास्य रस के अनुभाव माने जाते हैं, निद्रा, आलस्य, अवहित्था आदि इसके संचारी भाव है।

कादम्बरी में द्रविड धार्मिक का वर्णन हास्य रस का उदाहरण है। चण्डिका के मन्दिर के पूजक वृद्ध द्रविड धार्मिक की चेष्टाएं, वेष-भूषा तथा आकार आदि को देखकर हँसी आये बिना नहीं रहती—

> **"स्थूल स्थूलैः शिराजालकै गोंधा गोधिका कृकलास कुलैरिव दग्ध-स्थाण्वाशंकया समारूढैर्गवाक्षितेन, अम्बिका पादपतन श्याम ललाट वर्धमाना बुर्देन, रसायनानीतकालज्वरेण, ... आविर्भूत निधिवाद व्याधिना, संजात धातुवाद वायुना, लग्नासुरविवर प्रवेश पिशाचेन, प्रवृत्त यक्ष कन्यका कामित्व मनोरथ व्यामोहेन, गृहीत तुरग ब्रह्म-चर्यतया अन्य देशागतोषितासु जरत्प्रव्रजितासु बहुकृत्वः सम्प्रयुक्त स्त्रीवशीकरण चूर्णेन, खंजतया मन्द मन्द संचारिणा, बधिरतया संज्ञा व्यवहारिणा, रात्र्यन्धतया दिवाविहारिणा, लम्बोदरतया प्रभूताहारिणा, अनेकशः फलपातन कुपित वानरनखोल्लेखच्छिद्रित नासापुटेन, जरद् द्रविड धार्मिकेणाधिष्ठितां चण्डिका मपश्यत्।"**[157]

द्रविड देशीय वृद्ध धार्मिक का यह वर्णन हास्य रस की निष्पत्ति करने में पर्याप्त है। जले हुए शुष्ककाण्ठ की आशंका से शरीर पर चढ़े हुए गोह, छिपकली और गिरगिटों के समूह के समान अत्यन्त स्थूल शिराओं के समूह से

व्याप्त होने के कारण उसके शरीर में गवाक्षजाल अर्थात् जालीदार खिड़कियां उत्पन्न हो गयी थी। अम्बिका के चरणों में गिरने से उसके काले ललाट पर गूमड़ा (अर्बुद) हो गया था। किसी मिथ्यावादी के द्वारा दिये हुए सिद्ध अंजन के प्रयोग से उसकी एक आँख फूट गयी थी। असुरों के ह्रद में प्रवेश करने के आग्रह रूप पिशाच से वह ग्रस्त था। यक्ष कन्याओं के साथ सम्भोग करने की अभिलाषा होने से उसको मतिभ्रम हो गया था। अश्व-ब्रह्मचर्य के समान ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ अन्य देश से आकर उस स्थान में ठहरी हुई वृद्ध सन्यासिनियों के शरीर पर स्त्री वशीकरण के चूर्ण का निक्षेप करता था। आदि आदि।

प्रस्तुत उद्धरण में वृद्ध धार्मिक की आकृति, वेष, चेष्टाएं तथा आचरण सभी हास्यास्पद है। उसकी तृष्णा तथा लिप्सा, उसकी कामुकता, दक्षिणा पथ के राज्य की प्राप्ति की इच्छा उसका क्रोध आदि उसे हास्य रस का आलम्बन बना देते हैं। उसके अनुपयुक्त वचन एवं व्यवहार तथा उसकी हास्यजनक चेष्टाए यहां अनुभाव हैं। इस प्रकार यह स्थल हास्यरस का उत्कृष्ट उदाहरण है।

भयानक

कादम्बरी 'भयानक' रस से भी अपरिचित नहीं है। भयंकर दृश्य को देखने अथवा बलवान् व्यक्तियों के अपराध करने से भयानक रस की निष्पत्ति होती है। यह रस 'भय' स्थायी भावात्मक होता है। इसकी उत्पत्ति विकृत ध्वनि, सत्त्व दर्शन अथात् भूत, प्रेत आदि के देखने से, उलूक आदि के कारण, दूसरों के भय, उद्वेग, शून्य गृह एवं वन में जाने से अथवा अपने सम्बन्धियों के वध बन्धन क देखने, श्रवण करने या चर्चा करने से होती है।[158] हाथ पैरों का कम्पन नेत्रों की चंचलता, रोमाञ्च, मुख वैवर्ण्य, स्वरभेद आदि इसके अनुभाव हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, वेपथु, स्वरभेद, वैवर्ण्य, जडता, चपलता, त्रास आवेग, मोह, दैन्य, अपस्मार, मरण आदि संचारी भाव हैं।

कादम्बरी के शवर-मृगया-वर्णन-प्रसंग में शुक के द्वारा वर्णित दशा में भय का संचार दृष्टिगोचर होता है—

> **सहसैव तस्मिन् महावने संत्रासित सकल वनचरः, सरभसमुत्पत त्पतत्रिपक्षपुटसन्ततः, भीत करिपोत चीत्कार पीवरः, प्रचलित मत्तालिकुल क्वणित मांसलः परिभ्रमदुद्धोण वनवराह रवधर्धरः, गिरिगुहा सुप्तप्रबुद्ध सिंहनादोपबृंहितः, कम्पयन्निव तरुन् भागीरथावतार्यमाण गंगाप्रवाहकलकलबहलो, भीतवन देवताकर्णितो मृगया कोलाहल**

ध्वनिरुदचरत् । आकर्ण्य च तमहमश्रुतपूर्वमुपजात वेपथुरर्भकतया जर्ज्जरित कर्णविवरो भय विह्वलः समीपवर्तिनः पितुः प्रतीकार बुद्ध्या जरा शिथिल पक्ष पुटान्तरमविशम् ।''

अर्थात् सहसा ही आखेट की उस कोलाहल ध्वनि को सुनकर समस्त वनचर भयभीत हो उठे, पक्षी व्याकुल होकर अपने पंख फडफडाने लगे, भयभीत करिशावक एक साथ चिंघाडने लगे, उडते हुए मधुमत्त भ्रमरों की घनी गुंजार तीव्र होने लगी, घूमते हुए वन्य शूकर नासिका उठा उठाकर घुर घुराने लगे, पहाड़ी गुफाओं में सोये हुए सिंह जागकर गर्जना करने लगे, और वन के समस्त वृक्ष मानो कांप कर हर हराने लगे, उस अपूर्व ध्वनि को सुनकर मैं कांपने लगा, बाल्य के कारण उस ध्वनि से मेरे कर्ण बहरे होने लगे, भय से व्याकुल होकर समीपवर्ती पिता के पंखों के मध्य भाग में प्रविष्ट हो गया ।

प्रस्तुत वाक्य में शबर सेना के द्वारा की गयी कोलाहल की ध्वनि से भय का वातावरण उपस्थित हो जाता है । वन के चर, अचर सभी पर भय व्याप्त है । उस महावन के समस्त बनचर संत्रस्त हो गये हैं । यहाँ कोलाहल की ध्वनि, भय, उद्वेग आदि के कारण भयानक रस का आविर्भाव हुआ है । शुक शावक के शरीर पर वेपथु उत्पन्न होना तथा आसन्नवर्ती पिता के पंखों में भय विह्वल होकर प्रविष्ट हो जाना यहां अनुभाव है । कोलाहल ध्वनि यहां भय का आलम्बन है । अतः इन विभाव आदियों से उद्दीप्त होकर भय नामक स्थायी भाव भयानक रसरूपता को प्राप्त करता है । प्रस्तुत वाक्य में भयानक रस का पूर्ण परिपाक स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है ।

रौद्र

कादम्बरी में रौद्र रस भी यत्र तत्र आभासित होता है । मान भंग, शत्रु की चेष्टा, अपकार एवं गुरुजनों की निन्दा आदि के कारण रौद्र रस संग्राम हेतुक क्रोधरूप स्थायी भाव से युक्त रस है । यह राक्षस, दानव एवं उद्धत मनुष्यों के आश्रित होता है ।[169] रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है । भानुदत्त की दृष्टि में क्रोध का पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होना ही रौद्र रस है अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियों का औद्धत्य ही रौद्र रस है । शत्रु अथवा अपकार करने वाला व्यक्ति इसके आलम्बन हैं, उद्दीपन हैं-शत्रुकृत अपराध एवं मत्सर आदि अनुभावों के अन्तर्गत आँखों की ललिमा, भ्रुकुटी को टेढी करना, ओठ चबाना कम्प, मुख का लाल हो जाना आदि परिगणित हैं ।

आचार्य भरत ने क्रोध की उत्पत्ति पर विचार करते हुए लिखा[160] है कि वह आधर्षण अर्थात् स्त्रियों के तिरस्कार करने, अधिक्षेप अर्थात् देश,

कुल, जाति, कर्म, विद्या आदि की निन्दा करने, अनृत भाषण करने, उपघात अर्थात् घर के भृत्यों का पीडन, वाक् पारुष्य, अभिद्रोह एवं मात्सर्य आदि के कारण उत्पन्न होता है।

रौद्र एवं वीर-दोनों ही रसों के आलम्बन शत्रु होते हैं किन्तु दोनों के स्थायीभाव भिन्न हैं। रौद्ररस का स्थायी भाव क्रोध है एवं वीर रस का उत्साह। नेत्र एवं मुख का लाल होना रौद्र रस का अनुभाव है वीर रस का नहीं।

चन्द्रमा के द्वारा पुण्डरीक के शरीर के आकाश में ले जाने पर कपिंजल का क्रोध द्रष्टव्य है—

"असौ तु ससंभ्रममदत्वैवोत्तरमुदतिष्ठत् दुरात्मन्। क्व मे वयस्य-मपहृत्य गच्छसि इत्यभिधायोन्मुखः संजात कोपो बध्नन् सवेगं उत्तरीय वल्कलेन परिकरम्, उत्पतन्तं तमेवानुसरन्नन्तरिक्षमुदगात्[161]

अर्थात् कपिंजल तो घबरा कर उत्तर दिये बिना ही खड़ा होकर बोला—अरे दुष्ट मेरे मित्र को लेकर तुम कहां भागे जा रहे हो? इस प्रकार कह कर क्रुद्ध होकर ऊँचा मुख कर वेग से अपने उत्तरीय वल्कल द्वारा कटि प्रदेश में बन्धन बांध कर उस उड़ते हुए पुरुष का अनुसरण करते-करते आकाश में उड़ गया।

प्रस्तुत वाक्य में मित्र को उठाकर ले जाता हुआ चन्द्रमा रौद्र रस का आलम्बन है। उसकी चेष्टाए उद्दीपन हैं। परिकर बांधना और क्रोध करना यहां अनुभाव हैं। अतः यहां क्रोध नामक स्थायी भाव उद्दीप्त होकर रौद्र रस बनता है।

इसी प्रकार मित्र के शोकावेग से अन्य देवमार्ग में इधर-उधर भागते कपिंजल से लंघित वैमानिक की उक्ति में भी क्रोध की छटा दृष्टिगोचर होती है—

"स तु मां दहन्निव रोषहुतभुजा भ्रूकुटिविकरालेन चक्षुषा निरीक्ष्यावदत्:-दुरात्मन्! मिथ्या तपोबलगर्वित! यदेवमतिविस्तीर्णे गगनमार्गे त्वयाहमुद्दाम प्रचारिणा तुरङ्गमेणेव उल्लंघितः तस्मात्तुरङ्गम एव भूत्वा मर्त्यलोकमवतर इति।"[162]

अर्थात् उस वैमानिक ने क्रोधाग्नि से जलते हुए भ्रुकुटि-भयंकर नेत्र से देखकर कहा—दुरात्मन्। मिथ्या तपोबल से गर्वित इस विस्तृत आकाश

प्रदेश से तुमने वेग से जाते हुए घोड़े की तरह मेरा लंघन किया है अतः तुमको घोड़ा ही बनकर पृथ्वी पर अवतरण करना होगा ।

प्रस्तुत वाक्य में वैमानिक के क्रोध की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। वैमानिक के क्रोध का आलम्बन है–'कपिंजल' तथा उसके द्वारा अश्व के समान लंघन उद्दीपन विभाव है। क्रोधान्ध हो जाना तथा कपिंजल को अभिशप्त करना यहां अनुभाव है। अतः क्रोध रूप स्थायी भाव यहां विभावादि से उद्दीप्त होकर रस की स्थिति में प्राप्त होता है। अतः यह रौद्र रस का स्थल है।

वात्सल्य

कादम्बरी वात्सल्य रस से भी असंपृक्त नहीं है। यत्र–तत्र वात्सल्य रस का परिपाक दृष्टिगोचर होता है। अपने से छोटे के प्रति अनुराग को वात्सल्य का मूल माना है। अवस्था में छोटे, गुण तथा वैभव में किसी प्रकार न्यून व्यक्ति के प्रति जो प्रेम होता है वह वात्सल्य के अन्तर्गत आती है। माता-पिता का अपने पुत्र या पुत्री के प्रति जो अनुराग है यही वात्सल्य रस में परिणत होता है।

कादम्बरी के शुक जन्म वर्णन में अपत्य प्रेम की झांकी प्राप्त होती है –

''कृताहारश्च पुनः प्रतिनिवृत्यात्मकुलायावस्थितेभ्यः शावकेभ्यो विविधान् फलरसान् कमल मंजरीविकारांश्च प्रहतहरिणरुधिरानुरक्त शार्दूलनखकोटिपाटलेन चंचुपुटेन दत्वा दत्वा अधरीकृत सर्वस्नेहेना-साधारणेन गुरुणापत्यप्रेम्णा तस्मिन्नेव क्रोडान्तर्निहिततनयाः क्षपाः क्षपयन्ति स्म।''[163]

अर्थात् ये पक्षिगण आहार ग्रहण करने के अन्नतर लौटकर अपने अपने घोंसलों में स्थित बच्चों को मारे गये मृग के रक्त से सने हुए बघनखों के समान लाल लाल चोंचों से तरह-तरह के फलों का रस एव धान के कण खिला-खिला कर उन्हें अपनी गोद में भर लेते थे तथा अत्यन्त वात्सल्य के कारण पंखों में छिपाकर उन्हीं घोसलों में रात्रि व्यतीत करते थे।

प्रस्तुत वाक्य में शुकों का अपने वच्चों के प्रति प्रेम तथा उनके लालन पालन से वात्सल्य रस की चर्वणा होती है। अपत्य स्नेह से अतिरिक्त समस्त स्नेह को उन्होंने दूर कर दिया है और सर्वतोभावेन वे अपने अपत्यों का पालन करने तथा दुलार देने में संलग्न है। पशुपक्षियों में भी सन्तति प्रेम किस सीमातक

अभिव्याप्त रहता है इसका उदाहरण कादम्बरी में स्पष्ट रूप से प्राप्त हो जाता है।

रस भारतीय साहित्य की आधार शिला है। भारतीय साहित्य में रस की सत्ता अनादिकाल से चली आ रही है परन्तु साहित्य शास्त्रीय अर्थ में इसका प्रयोग सर्व प्रथम भरत के नाटय शास्त्र में हुआ है और तभी से रस का काव्य में अत्यन्त महत्त्व पूर्ण स्थान रहा है।

बाण भट्ट की रचना

'कादम्बरी' में रस का निर्वाह अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप में हुआ है। कादम्बरी तो सभी दृष्टियों से काव्य-शास्त्र सम्मत रचना है। इसमें जिस प्रकार कथा शिल्प की उत्कृष्टता है उसी प्रकार काव्य-शास्त्र के भी सभी तत्त्व विद्यमान है तो रस का तो कहना ही क्या ? संस्कृत के अनेकानेक काव्यों के मधुकोष कादम्बरी में रस की घनीभूत धाराओं का प्रवाहित होना स्वाभाविक है। बाण भट्ट की प्रस्तुत रचना में रस-व्यञ्जना सर्वथा सहज एवं स्वाभाभिक रूप में बिना पाण्डित्य प्रदर्शन या कृत्रिमता के हुई है। महाकवि ऐसे रस सिद्ध कवीश्वर हैं जिनकी वाणी शास्त्रों में परिगणित तत्त्वों से बहुत आगे बढ़ी हुई है। कादम्बरी कथा जैसे महान् विषय और बाण भट्ट जैसे महान् कवि का काव्य काव्य-शास्त्र के नव अथवा दस न जाने कितने रसों का निधान है, जिनका विश्लेषण एवं विवेचन दीर्घकाल तक होता रहेगा। काव्य में समस्त रसों का सन्निवेश होना चाहिये इसलिए नहीं प्रस्तुत स्वयमेव भावों की उदारता, आवेश की तीव्रता एवं अनुभूतियों की विविधता के कारण समस्त रसों की स्रोतस्विनियाँ कादम्बरी में प्रवाहित हुई हैं।

वस्तुतः कला तथा शास्त्रीय दृष्टि से इस काव्य में रस प्रसार करने में जितनी सफलता बाण भट्ट को मिली है उतनी अन्य कवियों को नहीं। निः सन्देह बाण भट्ट अत्यन्त भाव प्रवण, रस प्रवण कवि हैं तथा रस चर्वणा की सामग्री की सांगोपागता का वे जितना ध्यान रखते हैं, जितनी प्रचुर और सुसम्पन्न विभाव, अनुभाव और भाव योजना है और उसके आधार पर जितना पृथुल रस परिपाक है उतना अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अतएव रस सिद्ध कवीश्वरों की रस-योजना अनिर्वचनीय एवं केवल सहृदय संवेद्य मात्र है।

सन्दर्भ

1. विभावानुभाव संचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। नाटय शास्त्र-अध्याय-6 पृ० 93
2. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च
   रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
   विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
   व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।
   -- काव्य प्रकाश 4/27-28
3. काव्य प्रकाश 4/28 की अभिनवगुप्त सम्बन्धी व्याख्या।
4. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा
   रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसान्। —साहित्य दर्पण 3/1
5. व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तर परिणतो व्यक्तीकृत एव रसो नतु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते —साहित्य दर्पण 3/1
6. प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।
   ततः सम्बलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्।
   प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्। —साहित्य दर्पण 3/15-16
7. सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्
   झटित्यन्यसमाक्षेपे तथा दोषो न विद्यते। —साहित्य दर्पण 3/16-17
8. विभावानुभाव सात्त्विकभाव व्यभिचारिभावैरुपनीयमानः परिपूर्णः स्थायिभावो रस्यमानो रसः। —राजतरंगिणी तरंग 6 पृ० 15
9. भाव विभावानुभाव व्यभिचारिभावैर्मनो विश्रामो यत्र क्रियते स वा रसः। रस तरंगिणी तरंग 6 पृ० 117
10. प्रबुद्धः स्थायिभावो वासना वा रसः
    प्रबोधका विभावानुभाव व्यभिचारिणः।
    रस तरंगिणी पृ० 118-120, तरंग 6
11. नाटय शास्त्र–6, पृ० 93
12. साहित्य दर्पण 3/2-2
13. सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
    वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः।
    लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चिप्रमातृभिः।
    स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रसः। साहित्य दर्पण 3/2-3
14. नाट्य शास्त्र अध्याय 6

15. तैत्तिरीयोपनिषद्–2/7-1
16. अग्नि पुराण 337/33
17. रामायण–बालकाण्ड
18. ध्वन्यालोक-पृ० 26
19. ध्वन्यालोक–पृ० 221
20. श्री कण्ठ चरितम्–2/32
21. वागर्थाविवसंपृक्तौ वागर्थः प्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ बन्दे पार्वती परमेश्वरौ । रघुवंश 1/1
22. ध्वन्यालोक 4/5
23. ध्वन्यालोक 4/4
24. काव्य प्रकाश 8/66
25. काव्य प्रकाश 7/49
26. रसमंजरी पृ० 178-79
27. नाट्य शास्त्र की अभिनव भारती टीका–पृ० 300-1
28. दशरूपक 4/48
29. साहित्य दर्पण 3/183-86
30. दशरूपक 4/49-50
31. रस तरंगिणी–पृ० 128
32. रस तरंगिणी–पृ० 139
33. साहित्य दर्पण–3/187
34. साहित्य दर्पण 3/209
35. नाट्य शास्त्र 409-10
36. रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्य नाट्ययोः ।
—साहित्य दर्पण 3/39
37. रस गंगाधर पृ० 33
38. रस मीमांसा पृ० 87
39. साहित्य दर्पण 3/29
40. अत्रैवालम्बना भावा कथ्यन्ते रस भूमयः । —भाव प्रकाशन पृ० 5
41. रस मीमांसा पृ० 95
42. साहित्य दर्पण 3/32
43. नाट्य शास्त्र 7/5
44. अनुभावो विकारस्तुभाव संसूचनात्मकः ।
स्थायिभावाननुभावयन्तः सामाजिकान् भ्रूविक्षेप कटाक्षादयो रस-पोषणकारिणः अनुभावाः । दशरूपक 4/3

45. साहित्य दर्पण 3/133
46. नाट्य शास्त्र पृ० 410
47. रस तरंगिणी पृ० 49
48. नाट्य शास्त्र 7/9/4
49. विकाराः सत्त्वसम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः।
—साहित्यदर्पण 3/134
50. साहित्य दर्पण 1/134
51. दशरूपक 4/7
52. रसार्णव सुधाकर–द्वितीय विलास।
53. सुखात्मक भावों के साथ सुखात्मक संचारी, और दुःखात्मक भावों के साथ दुःखात्मक संचारी परस्पर अविरुद्ध होगें। इसी प्रकार सुखात्मक भाव के साथ दुःखात्मक संचारी और दुखात्मक भाव के साथ सुखात्मक संचारी विरुद्ध होगें। उभयात्मक संचारी भाव सुखात्मक भी हो सकते सकते हैं एवं दुःखात्मक भी हो सकते हैं। —रस मीमांसा–पृ० 161
54. साहित्य दर्पण 3/174
55. अभिनव भारती पृ० 282
56. नाट्य शास्त्र पृ० 414-16
57. दशरूपक 4/34
58. रस गंगाधर–पृ० 30
59. काव्य प्रकाश 4/35
60. नाट्य शास्त्र पृ० 350
61. काव्यानुशासन पृ० 125
62. तत्र सम्भोग विषयेच्छाविशेषो रतिः। —प्रतापरुद्रीय–पृ० 164
63. नाट्य शास्त्र 7/10
64. काव्यानुशासन सूत्र 44/18
65. साहित्य दर्पण 3/176
66. रस गंगाधर पृ० 39
67. नाट्य शास्त्र 7/10
68. साहित्य दर्पण 3/177
69. रस गंगाधर पृ० 39
70. नाट्य शास्त्र पृ० 352
71. नाट्य शास्त्र 7/22
72. नाट्य शास्त्र पृ०353

73. साहित्य दर्पण 3/178
74. रस गंगाधार पृ० 39
75. नाट्य शास्त्र (अभिनव भारती) पृ० 353
76. नाट्य दर्पण 3/126
77. साहित्य दर्पण 3/178
78. रस गंगाधर पृ० 39
79. नाट्य शास्त्र (अभिनव भारती पृ० 354
80. काव्यानुशासन पृ० 126
81. साहित्य दर्पण 3/179
82. रस गंगाधर पृ० 40
83. नाट्य शास्त्र–पृ० 355
84. नाट्य शास्त्र–7/27
85. साहित्य दर्पण 3/179
86. रस गंगाधर पृ० 39
87. काव्या लंकार 15/15
88. नाट्य शास्त्र 4/47
89. काव्य प्रकाश 4/47
90. तृष्णाक्षयः क्षमः–काव्यानुशासन पृ० 126
91. प्रताप रुद्रीय पृ० 168
92. साहित्य दर्पण 3/126
93. कादम्बरी पृ० 427
94. कादम्बरी पृ० 427
95. कादम्बरी पृ० 429-30
96. कादम्बरी पृ० 426
97. कादम्बरी पृ० 426
98. कादम्बरी पृ० 427
99. कादम्बरी पृ० 427
100. कादम्बरी पृ० 427
101. कादम्बरी पृ० 427
102. कादम्बरी पृ० 425-26
103. कादम्बरी पृ० 489-90
104. कादम्बरी पृ० 492-93
105. कादम्बरी पृ० 212 (उत्तरार्द्ध)
106. कादम्बरी–पृ० 218 (उत्तरार्द्ध)

107. साहित्य दर्पण 2/12-13
108. साहित्य दर्पण 2/112-13 की वृत्ति
109. "शब्द बुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावः" इति नयेन अभिधा लक्षणा तात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वंस्वमर्थ बोधयित्वोपक्षीणासु ययान्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृति प्रत्ययादेश्च शक्तिः व्यञ्जन ध्वनन गमन प्रत्यायनादि व्यपदेश विषया व्यञ्जना नाम।
—साहित्य दर्पण 2/12-13 की वृत्ति।
110. काव्य प्रकाश 2/19
111. साहित्य दर्पण 2/14
112. संयोगोविप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। —काव्य प्रकाश 2/19
113. साहित्य दर्पण–2/15
114. साहित्य दर्पण 2/16
115. काव्य प्रकाश 3/23
116. साहित्य दर्पण 2/18
117. कादम्बरी पृ० 21-22
118. कादम्बरी पृ० 625-26
119. कादम्बरी पृ० 618
120. कादम्बरी पृ० 544
121. इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।
—काव्य प्रकाश 1/4
122. चारुत्वोत्कर्ष निबन्धना हि वाच्य प्राधान्य विवक्षा।
—ध्वन्या लोक–1/13 की वृत्ति
123. साहित्य दर्पण 4/1
124. ध्वनिः बुधैः कथितः। काव्य प्रकाश 1/4
125. ध्वन्यालोक 1/7
126. ध्वन्यालोक 1/13
127. ध्वन्यालोक 1/4
128. ध्वन्यालोक 1/6
129. अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा।
ध्वन्यालोक लोचन पृ० 104-5
130. ध्वन्यालोक लोचन पृ० 141-42
131. ध्वन्यालोक 1/1

132. साहित्य दर्पण–4/3
133. रस मञ्जरी पृ० 257-58
134. रस मञ्जरी पृ० 257-58
135. कादम्बरी पृ० 168
136. कादम्बरी पृ० 397
137. कादम्बरी पृ० 155
138. कादम्बरी पृ० 378
139. कादम्बरी पृ० 72
140. कादम्बरी पृ० 530-31
141. कादम्बरी पृ० 424
142. कादम्बरी पृ० 627
143. कादम्बरी पृ० 493-94
144. कादम्बरी पृ० 489-90
145. नाट्य शास्त्र–6/80-82
146. कादम्बरी पृ० 406
147. कादम्बरी पृ० 38-39
148. साहित्य दर्पण–3/232-34
149. कादम्बरी पृ० 10-13
150. कादम्बरी पृ० 362
151. कादम्बरी पृ० 198-200 (उत्तरार्द्ध)
152. काव्यादर्श–1/292
153. काव्यालंकार सार संग्रह 4/4
154. नाट्य शास्त्र 6/17
155. कादम्बरी पृ० 389-400
156. साहित्य दर्पण–पृ० 118
157. कादम्बरी पृ० 642-48
158. कादम्बरी पृ० 82-83
1:9. नाट्य शास्त्र 6 अध्याय
160. नाट्य शास्त्र 6/51
161. कादम्बरी–पृ० 498-99
162. कादम्बरी पृ० 145 (उत्तरार्द्ध)
163. कादम्बरी पृ० 76

कादम्बरी में रीति-निरूपण

चतुर्थ-परिच्छेद

जगत् के समस्त व्यापार विचित्रता पर आधारित हैं। सन्तत परिणामी होने से यह विश्व सदा अनेकत्व तथा वैषम्य से विचित्र रहता है। प्रकृति के विविध गुणों-सत्त्व, रज और तम के परिणाम होने से विश्व में विचित्रता की सत्ता होना नितान्त स्वाभाविक है। स्वभाव की भिन्नता पर मानव रुचि की भिन्नता आश्रित है। भौगोलिक स्थिति के कारण भिन्न-भिन्न प्रान्त के निवासियों की वेशभूषा में पार्थक्य होना नैसर्गिक है। सार यह है कि जगत् में रुचि की सर्वत्र विचित्रता दृष्टिगोचर होती है तथा वह रुचि वैचित्र्य स्वभाव वैचित्र्य पर अवलम्बित एवं आश्रित है।

इन विचित्रताओं और विशिष्टताओं का निरीक्षण नाट्याचार्यों ने भली प्रकार किया और उन्होंने इन प्रान्तीय विविधताओं को 'प्रवृत्ति' नाम से बोधित किया।

भरत के अनुसार प्रवृत्ति वह है जो पृथ्वी के नाना देशों के वेष, भाषा तथा आचार की वार्ता का ख्यापन या प्रकटन करे। उन्होंने नाट्य शास्त्र में लोक रुचि के अनुसार चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है—

(1) आवन्ती—भारत के पश्चिम भाग की प्रवृत्ति।

(2) दाक्षिणात्या—दक्षिण भारत की प्रवृत्ति।

(3) पाञ्चाली—मध्य देश की प्रवृत्ति।

(4) औडमागधी—उड अर्थात् उडीसा तथा मगध अर्थात् पूर्वी भारत की प्रवृत्ति।

लोक-वृत्ति का अनुकरण करने के कारण लोक में उपलब्ध उचित वेषभूषा तथा आचार का यथार्थ अनुकरण करना समीचीन है। वेष एवं आचार

के अतिरिक्त भाषा भी उसकी रुचि की प्रदर्शिका है अर्थ-प्रतिपादन की उसकी विशिष्ट भंगी होती है। अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए वह अपने अनुरूप शब्दों का प्रयोग करता है। यह उसकी रीति होती है।

रीति का अर्थ

रीति शब्द गत्यर्थक 'रीङ्' धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है अतः रीति का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ हुआ-गति, मार्ग, प्रस्थान आदि। अपने मनोगत भावों को अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न व्यक्ति नवीन तथा विचित्र मार्गों का अवलम्बन करते हैं। अर्थ एक ही होता है, परन्तु उनके द्योतक शब्द तथा वाक्य-विन्यास भिन्न भिन्न लेखकों के हाथ में भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। अतः रीति लेखक के विशिष्ट लेखन प्रकार को सूचित करती है। जितने लेखक है उतनी ही उनकी शैलियां हैं उतनी ही रीतियां हैं।

अतएव दण्डी ने कहा है कि रीतियां अनन्त हैं, उनका परस्पर विभेद नितान्त सूक्ष्म है जिसका निरूपण सरस्वती भी यथार्थ रूप से नहीं कर सकती।[3] शारदातनय ने भी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की पुष्टि की है।[4] उनकी दृष्टि में प्रत्येक वचन, प्रत्येक पुरुष, अवान्तर जाति-आदि के भेद से रीतियां अनन्त हैं। प्रत्येक पुरुष की विशिष्टता के कारण उनकी वाणी भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार धारण करती हैं।

एक विशिष्ट रीति का प्रयोग ही सच्चे कवि की कसौटी है। सच्चा कवि वही है, जो अपने भावों को प्रकट करने के लिए अपनी स्वय की शैली का प्रयोग करता है।

नीलकण्ड दीक्षित[5] रीति के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं कि अर्थ वही है, शब्द भी वही है, अक्षरों का चमत्कार भी वैसा ही है तथापि जिसके बिना उक्ति न तो शोभित होती है और न वह सहृदयों के हृदय का आवर्जन कर पाती है, वह है रीति। रीति से सम्पन्न होते ही उन शब्दों व वाक्यों में नवीन स्फूर्ति का संचरण होता है। वह कमनीय कविता रसिकों के हृदयों को आकर्षित करने वाली होती है।

रीति लेखक के व्यक्तित्व की प्रतिनिधि होती है। कवि की उद्दण्डता या स्वच्छन्दता उसकी रचना की रीति में प्रतिफलित होती है। तथ्य यह है कि रीति एक वैयक्तिक वस्तु होती है तथापि भौगोलिक इकाई में उत्पन्न होने वाले कवियों में स्थानीय भौगोलिक स्थिति का, साहित्य परम्परा का तथा समान शिक्षण का प्रभाव अवश्य दृष्टिगोचर होता है। यह कारण है कि वैय-

क्तिक गुणों की भिन्नता होते हुए भी प्रान्त विशेष के कवियों की रीति में पर्याप्त सादृश्य दिखाई पड़ता है।

रीतियों का वर्गीकरण

संस्कृत के काव्य-शास्त्र में उपनिबद्ध रीतियों की परम्परा को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(1) प्रथम युग वह था जब गौडी, पाञ्चाली, वैदर्भी आदि रीतियाँ वस्तुतः भौगोलिक महत्त्व के आधार पर थी अर्थात् विभिन्न प्रान्तों के निवासी कविगण उसी प्रदेश की शैली में काव्य रचना किया करते थे।

(1) दूसरा युग तब से आरम्भ होता है जब इन नामों का भौगोलिक महत्त्व जाता रहा और विषय की दृष्टि से इन शैलियों का रूप-निर्धारण सदा के लिए कर दिया गया। जैसे-युद्ध, संघर्ष एवं भयानक वस्तु आदि के वर्णन के लिए गौडी रीति का प्रयोग सब के लिए अनिवार्य हो गया। इसी प्रकार शृंगार रस, ऋतु, उपवन आदि सुकुमार वस्तुओं के वर्णन के लिए वैदर्भी रीति का प्रयोग करना सभी कवियों के लिए आवश्यक बन गया।

(3) तृतीय युग का आरम्भ कुन्तक के वक्रोक्ति जीवितम् से होता है। उन्होंने रीतियों का साक्षात् सम्पर्क व्यक्ति से बताया। इसलिए उन्होंने रीतियों के नाम से भौगोलिक सम्बन्ध के सदा के लिए दूर करने के लिए नवीन नामों की उद्भावना की।

कुन्तक ने वैदर्भी के लिए सुकुमार मार्ग, गौडी के लिए विचित्र मार्ग तथा पाञ्चाली के लिए मध्यम मार्ग नाम दिया। मौलिक होने पर भी कुन्तक के ये सिद्धान्त काव्य जगत् में प्रभाव शाली सिद्ध नहीं हुए तथा साहित्य शास्त्र में ये नाम अधिक प्रसिद्धि को नहीं प्राप्त कर सके।

रीतियों के वर्गीकरण का आधार

प्राचीन भारत के विभिन्न प्रान्तों की साहित्यिक विशेषताओं का वर्णन सर्व प्रथम बाण भट्ट ने किया है। हर्ष चरितम् के आरम्भ में उनका यह कथन है कि उद्दीच्य अर्थात् उत्तर भारत के लोग श्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं। प्रतीच्य लोग केवल अर्थ को पसन्द करते हैं। अर्थ को सुशोभित, सुन्दर तथा समीचीन रूप से अभिव्यक्त करने के लिए सुन्दर पदावली की आवश्यकता होती है, परन्तु पश्चिमी भारत के कविगण इस प्रकार की मनोरम पदावली

का प्रयोग न कर केवल अलंकार हीन शब्द-अर्थ का ही अपनी कविता में प्रयोग करते हैं।

दाक्षिणात्य कवियों में उत्प्रेक्षा के लिए समादर है। गौड अर्थात् पूर्वी भारत के कवियों में केवल वर्णों का ही आडम्बर दृष्टिपथ में अवतरित होता है—

"श्लेष प्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः" ।[6]

इससे यह निष्कर्ष निकला जा सकता है कि बाण भट्ट के समय भारत वर्ष के चारों भागों में चार प्रकार की रीतियां विद्यमान थी। परन्तु बाण भट्ट के अनुसार इन चारों शैलियों का समन्वित प्रयोग ही किसी काव्य को श्रेष्ठ बनाने में समर्थ होता है। इनका पृथक् प्रयोग उतना श्लाघनीय नहीं जितना इनका समन्वित एवं सामंजस्य पूर्ण प्रयोग।

सच्चे कवि की तरह अपने इस पद्य में उल्लिखित समग्र सामग्री के एकीकरण पर ही उनका आग्रह है—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ।[7]

उनकी यह स्वानुभूति है कि कविता की उदात्तता के लिए नवीन अर्थ, अग्राम्य स्वभावोक्ति, अक्लिष्ट श्लेष, विकट अक्षर तथा स्फुट रस इन-सब का एक स्थान पर सन्निवेश नितान्त आवश्यक है।

रीति के प्रतिपादक प्रथम आलंकारिक भामह है। उनके ग्रन्थ के अवलोकन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भामह के समय में दो प्रकार के मार्ग (रीति) थे- वैदर्भ मार्ग एवं गौडीय मार्ग। ये दोनों अपनी विशिष्टताओं के साथ साहित्य में स्वतन्त्र मार्ग के रूप में परिनिष्ठित हो चुके थे। बाण का गौडीय मार्ग उसी रूप में अपनी विशिष्टताओं को लेकर ग्रहण किया गया किन्तु उनकी दाक्षिणात्य पद्धति वैदर्भी के रूप में स्वीकृत हुई।

दक्षिण देश कलाविलास एवं काव्य-सौन्दर्य का निकेतन रहा है। इसीलिए भरत मुनि ने दाक्षिणात्य कवियों के सौकुमार्य का उल्लेख किया है। विदर्भ के कवियो ने कविता के एक ललित मार्ग का अविष्कार किया कि उन्हीं के नाम पर वह वैदर्भ मार्ग कहलाने लगा।

रीति के विषय में भामह की दृष्टि बड़ी विवेचना पूर्ण है। ये परम्परा के पक्ष-पाती न होकर विचार स्वातन्त्र्य के उपासक हैं। उनका कथन

है कि यदि वैदर्भी सीमा का अतिक्रमण कर जाय तो वह भी अवांछनीय है, परन्तु यदि गौडी अपनी सीमा में रहते हुए भी पूर्वोक्त काव्य-गुणों से विभूषित हो तो वह सर्वथा श्लाघनीय है—

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ।[8]

सार यह है कि वैदर्भी में यदि पुष्टार्थता न हो, वक्रोक्ति का अभाव हो, केवल प्रसाद युक्त कोमल पदावली हो, तो वह केवल गान की तरह श्रुति-पेशल हो सकती है परन्तु वह सहृदयों के हृदय को स्पर्श नहीं कर सकती ।

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भामह किसी अन्य परम्परा के भक्त नहीं थे उन्होंने अपनी स्वतन्त्र विचारधारा का प्रवर्तन किया । उनका दृष्टिकोण यह था कि काव्य के मूल तत्त्व जहां कहीं भी मिले वही सत्काव्य है वैदर्भी रीति को ही सर्वथा शोभन मानना एवं गौड मार्ग को ही सदा तिरस्कृत करना एक पक्षीय सिद्धान्त है तथा काव्य-जगत् में वह सर्वथा उपेक्षणीय है ।

दण्डी एवं रीतियां

रीति के इतिहास में आचार्य दण्डी का नाम अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है । अलंकार-शास्त्र में रीतियों का स्वरूप निरूपण तथा पार्थक्य निर्देश सर्व प्रथम दण्डी ने ही किया था । वे केवल सिद्धान्त वादी नहीं थे । वे स्वयं काव्य-रचना में निष्णात थे । उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर यह बताया कि कवि की अपनी विशिष्ट शैली होती है । कवि अनन्त है और काव्य-शैलियां भी अनन्त । कालिदास आदि अनेक कवियों के वैदर्भी रीति के उपासक होने पर भी सूक्ष्म रीति से अनुसंधान करने पर इन सभी काव्य-शैलियों में पार्थक्य दृष्टिगोचर होगा । दण्डी ने कविवाणी के परस्पर भिन्न, नितान्त निरूढ एवं सातिशय सूक्ष्म अनेक मार्गों का उल्लेख किया है ।[9]

उन्होंने श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति एवं समाधि-इन दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण माना है ।[10] इनकी दृष्टि में ये दस गुण काव्य के न होकर विशिष्ट मार्ग के ही गुण हैं । वे रीति को केवल शब्द सौन्दर्य के उत्पादक गुणों पर ही आश्रित नहीं मानते प्रत्युत रीति में अलंकारों, रसों का भी निवेश भलीभांति स्वीकार करते हैं । दण्डी की दृष्टि में वैदर्भी काव्य की उत्तम शैली एवं गौडी काव्य की निकृष्ट शैली है ।

उक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि काव्य में अत्यन्त सरस स्वाभाविक तथा उदात्त शैली को वैदर्भी रीति कहा गया है। जिसकी तुलना में गौडी निकृष्ट शैली थी। दण्डी द्वारा प्रदर्शित दस गुण अत्यन्त व्यापक है। वे केवल बाह्य उपकरणों का ही बोध नहीं कराते, प्रस्तुत काव्य के अन्तरंग एवं आवश्यक साधनों की ओर इंगित करते हैं।

वामन एवं रीतियां

वामन रीति तत्त्व के मर्मज्ञ आलंकारिक थे उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा अंगीकार किया है।[11] पदों की विशिष्ट रचना को रीति की संज्ञा दी गयी है, 'विशिष्ट पद रचना रीतिः'। पद-रचना में वैशिष्ट्य का सम्पादन करने वाले पदार्थ हैं गुण-"विशेषो गुणात्मा"। वामन प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने गुणों के शब्द गुण एवं अर्थ गुण नाम से दो विभाग किये हैं। उन्होंने शब्द गुणों की अपेक्षा अर्थ गुणों को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनका कथन है कि वैदर्भी में अर्थ की सम्पत्ति विशेष आस्वादनीय होती है, शब्द गुण की अवस्थिति उतनी मनोरंजक एवं चमत्कारजनक नहीं होती। इस प्रकार गुणों में बन्धगुण, अलंकार और रस का सन्निवेश स्पष्टतः वामन को अभीष्ट है।

वामन की पाञ्चली नामक तृतीय रीति की कल्पना काव्य जगत् में सर्वप्रथम एवं महत्त्वपूर्ण है। रीतियों के तीन प्रकार हैं– वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली।

(1) वैदर्भी रीति में समस्त गुणों का सद्भाव रहता है।

(2) गौडी में ओज एवं कान्ति गुणों का प्राधान्य रहता है। इसकी भाषा समास बहुला तथा इसमें अति उल्वण पदों की सत्ता[13] रहती है। इसमें ओज और कान्ति के कारण अधिक ओजस्विता रहती है।

(3) पाञ्चाली रीति[14] में ओज एवं कान्ति गुणों का अभाव रहता है तथा माधुर्य एवं सौकुमार्य का सद्भाव रहता है।

इन तीनों में वामन ने कवियों के लिए वैदर्भी रीति का ही आश्रय ग्रहण करने के लिए आग्रह किया है क्योंकि उनमें गुणों की समग्रता रहती है–

समग्र गुणा वैदर्भी। काव्यालंकार सूत्र 1/2/11

रुद्रट

रीति के इतिहास में वह युग आया जिसमें रीतियों का भौगोलिक महत्त्व समाप्त हुआ और वे वर्ण्य विषय के औचित्य से काव्य में स्थान प्राप्त

करने लगी। अब वे प्रान्तीय परम्परा से उन्मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से विभिन्न रस, एव विविध विषयों की प्रतिनिधि बन गयी। इस युग का आरम्भ रुद्रट के काव्यालंकार से होता है।

रुद्रट ने वामन की रीतियों में लाटीया नामक चतुर्थ नवीन रीति को जोडा और इन चारों रीतियों को दो विभागों में विभक्त किया-काव्य में माधुर्य की द्योतक होने से पाञ्चाली और वैदर्भी एक वर्ग में रही तथा ओजस्विता के प्रदर्शन करने से गौडी के साथ लाटीया रखी गयी।

रसौचित्य के अनुसार रीतियों के प्रयोग की चर्चा रुद्रट ने ही काव्य-जगत् में सर्व प्रथम की। इसी सूत्र को लेकर परवर्ती आलंकारिकों ने रस और रोति के धनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार किया।

रुद्रट के रीतियों के विभाजन का आधार था उनका समास युक्त होना। जिन पदों की रचना में समास के प्रयोग का नितान्त अभाव हो वह वैदर्भी रीति कही गयी।[15] समस्त पदों के भी तीन प्रकार होते हैं और उन्हीं पर अवलम्बित रीतियों भी तीन है- (1) लघुसमास वाली पाञ्चाली (2) मध्य समास वाली लाटीया तथा (3) दीर्घ समास वाली गौडीया।[15] इनकी दृष्टि में वैदर्भी तथा पाञ्चाली माधुर्य एवं सौकुमार्य की अभिव्यञ्जना करने से शृंगार, प्रेय, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसों मं निविष्ट होनी चाहिये, ओज तथा बन्धगाढता का प्रतीक होने से लाटीया तथा गौडीया रीतियों का समावेश रौद्ररस में श्लाधनीय है।

राजशेखर एवं रीतियां

राजशेखर ने रीति का प्रवृत्ति या वृति से धनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित किया है उनकी कल्पना है कि काव्य पुरुष को खोजने के लिए उनकी प्रियतमा साहित्य विद्या भारत की चारों दिशाओं में जाती है और वहां पहुँच कर वह विलक्षण वेषभूषा धारण करती है, विचित्र प्रकार का विलास ग्रहण करती है और भावों की अभिव्यक्ति के लिए नवीन वचन-विन्यास का भी आश्रय लेती है। उसी दिन साहित्य जगत् में प्रवृत्ति, वृत्ति तथा रीति का उदय होता है। राजशेखर ने तीन रीतियों को ही स्वीकार किया। पाञ्चाली और लाटीया में विशिष्ट पार्थक्य न होने कारण लाट देश की विशिष्ट रीति मानने के लिए वे उद्यत नहीं हुए। राजशेखर का रीति विषयक ग्रन्थ 'रीतिनिर्णय' तो लुप्त हो गया है अतः उनके रीति विषयक सिद्धान्त अलभ्य है तथापि उनके नाटकों एवं काव्य मीमांसा के अध्ययन से उनके मुख्य सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त हो

जाता है। रीतिओं का पार्थक्य प्रदर्शित करने में राजशेखर ने एक नूतन वैचित्र्य का निर्देश किया है—योग वृत्ति, योगवृत्ति की परम्परा एवं उपचार।

उनकी दृष्टि में वैदर्भी रीति ही सब से सुन्दर तथा मनोरम है। उनका कथन है कि जब काव्य पुरुष की वधू ने गौडी रीति में उनसे संभाषण किया तब वह उससे जरा भी आकृष्ट नहीं हुए। जब उसने पाञ्चाली में आलाप किया तब उसके प्रति कुछ आकर्षण हुआ। जब उसने वैदर्भी रीति में सरस प्रेमालाप किया तो वे उसके वशंवद हो गये।

अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजशेखर वैदर्भी की मनोहरता, मनोरमता एवं सरलता के पक्षपाती थे। विदर्भ के वत्सगुल्म[17] नगर में, जो कामदेव का क्रीडा-निवास बताया गया है, काव्य-पुरुष एवं साहित्य विद्या का गान्धर्व रीति से विवाह मंगल रचाया गया है।

नाटकों के अध्ययन से भी राजशेखर के वैदर्भी के प्रति उत्कृष्ट प्रेम का परिचय मिलता है। बाल रामायण में उन्होंने वैदर्भी वाणी को माधुर्य गुण को स्पन्दित करने वाली कहा है। माधुर्य वह है जो कानों के द्वारा लेह्य है, चाटा जाने योग्य है।[16] अन्यत्र उन्होंने विदर्भ देश में रस को उत्पन्न करने वाली वाग्देवता का निवास बताया है अर्थात् वैदर्भी में रस का प्राचुर्य होता है।

राजशेखर के एक पद्य में पाञ्चाली रीति का लक्षण उपलब्ध होता है तथा कवयित्री शिला एवं बाण की कविता में इस रीति का विशुद्ध स्वरूप स्वीकृत किया गया है। पाञ्चाली रीति वह है, जहां शब्द तथा अर्थ का समान गुम्फन हो, अर्थात् शब्द और अर्थ का जहां सन्निवेश एक ही प्रकार का हो। इन दो रीत्तियों के अतिरिक्त गौडी रीति का भी काव्य मीमांसा में उल्लेख प्राप्त होता है। अतः वे केवल रीतित्रय[19] के ही पक्षपाती थे।

भोजराज और रीतियां

भोजराज ने रीतियों के सम्बन्ध में विशेष विवेचन किया है। उन्होंने रीतियों की संख्या में दो नाम और जोड़ दिये हैं— आवन्तिका और मागधी। वैदर्भी एवं पाञ्चाली की अन्तरालवर्तिनी रीति का नाम आवन्तिका[20] है, जिसमें दो, तीन या चार समस्त पदों का अस्तित्त्व रहता है। समस्त रीतियों के मिश्रण को लाटी और इस रीति के निर्वाह न होने पर खण्ड रीति मागधी होती है। भोजराज के इस लक्षण और भेद दर्शन में विशिष्टता का विशेष परिचय नहीं मिलता।

कुन्तक और रीतियां

अलंकार शास्त्र के तत्त्वों की विवेचना में कुन्तक की प्रतिभा अलौकिक एवं अक्षुण्ण है। अन्य काव्य-तत्त्वों के समान ही रीति के विषय में कुन्तक ने जो समीक्षण प्रस्तुत किया है वह नितान्त मौलिक एवं प्रामाणिक है। कुन्तक का कथन है कि रीति तो कवि के आन्तरिक गुणों तथा स्वभाव की बाह्य अभिव्यक्ति है। देश-विशेष से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वे रीति के मौलिक तथ्य के समीक्षक हैं। रीति के सम्बन्ध में उनका यह मुख्य सिद्धान्त है कि रीति का सम्बन्ध कवि के स्वभाव से होता है। कवि स्वभाव यद्यपि अनन्त है, निगूढ है तथा उनके सूक्ष्म अन्तर का वर्णन करना दुष्कर कार्य है तथापि कतिपय प्रकारों की मुख्यता के आधार पर प्रधानतया स्वभाव तीन प्रकार के होते हैं–सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम।

सुकुमार स्वभाव वाले कवि की शक्ति भी तदनुरूप सहज होती है। उसकी व्युत्पत्ति भी उसी प्रकार सौकुमार्य एवं रमणीयता से मण्डित होती है। इन्हीं शक्ति तथा व्युत्पत्ति के कारण वह सुकुमार मार्ग से काव्य कला की साधना में प्रवृत्त होता है।[21] विचित्र स्वभाव वाले कवि की शक्ति एवं व्युत्पत्ति भी इसी प्रकार विचित्रता तथा उद्दीप्तता धारण करती है और वह कवि इसीलिए विचित्र मार्ग से काव्यकला की साधना में संलग्न हो जाता है।[22] मध्यम स्वभाव वाले कवि की शक्ति एवं व्युत्पत्ति उक्त दोनों प्रकारों की मध्यवर्तिनी होती है अतः वह इन दोनों से पृथक् एक नवीन मार्ग से ही काव्य के रूप में अपनी कल्पना की अभिव्यक्ति करता है।[23] अतः यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुन्तक ने मानव-जीवन में स्वभाव की महत्ता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

कुन्तक ने प्राचीन भौगोलिक नामों की अवहेलना कर कवि-स्वभावानुकूल तीन मार्गों का वर्णन किया है – सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग एवं मध्यम मार्ग।

सुकुमार मार्ग

वाल्मीकि कृत रामायण संस्कृत-वाङमय का अनुपम निकेतन है। सरसता एवं स्वाभाविकता उसका सर्वस्व है। नाना रसों का मंजुल समन्वय, प्रकृति वर्णन की नैसर्गिक छटा, छोटे-छोटे मनोरम पदों के द्वारा भावपूर्ण सरस अर्थ की अभिव्यक्ति-इस महा काव्य की विशेषता है। इसमें अनायास साध्य अलंकारों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार निसर्गतः सरस,

मधुर एवं प्रसादमयी पदावली के विन्यास से समन्वित मार्ग का नाम है सुकुमार मार्ग ।[24]

विचित्र मार्ग

वैचित्र्यमलंकारः अर्थात् विचित्रता का ही नाम अलंकार है। अतः अलंकार प्राण वाले मार्ग को विचित्र मार्ग कहना उचित है। इस मार्ग में अलंकारों की छटा इतनी अतिशयित रहती है कि एक अलंकार का प्रभाव हटा भी नहीं कि दूसरे अलंकार का चमत्कार सहसा आकर अभिभूत कर लेता है। एक अलंकार दूसरे अलंकार के निबन्धन का कारण बनता है।[25] इसमें नूतन अर्थ का उल्लेख नहीं होता केवल उक्ति की विचित्रता ही अलंकार्य वस्तु को लोकोत्तर कोटि में पहुँचा देती है।[26] अतिशयोक्ति का विलास इस मार्ग की विशिष्टता है। विचित्र मार्ग का प्राण है प्रयत्न रचित अलंकार, नेत्रों को आवर्जित करने वाली अलंकार सज्जा तथा बाह्य चाकचक्य। बाण भट्ट का गद्य विचित्र मार्ग का सर्वाङ्ग सुन्दर उदाहरण है। अलंकारों का प्रयत्नपूर्वक सन्निवेश, सज्जा की उल्वण रचना, अतिशयोक्ति का चमत्कार पूर्ण विन्यास, झणझणायमान पदावली का झंकार विचित्र मार्ग की अपनी विभूति है।[27]

मध्यम मार्ग

इसका मध्यम मार्ग अत्यन्त सार्थक है। इसमें सुकुमार एवं विचित्र- इन दोनों मार्गों की शोभा समान रूप से विद्यमान है। यहां दोनों मार्गों का मिश्रण होता हैं अर्थात् दोनों के गुण एकत्र होकर काव्य में निबद्ध होते हैं। कतिपय कविजनों का यह स्वभाव होता है कि न तो उन्हें स्वाभाविक सौन्दर्य रखने वाले काव्य से सन्तुष्टि प्राप्त होती है और न उन्हें अलंकारों के अधिक चाकचक्य से तृप्ति मिलती है प्रत्युत दोनों का सन्तुलित मिश्रण ही उनकी कला का आराध्य रहता है। ऐसे कवियों का मार्ग मध्यम मार्ग के नाम से बोधित किया जायगा।

कुन्तक ने इन मार्गों के विशिष्ट तथा साधारण- दो प्रकार के गुणों का वर्णन किया है। सुकुमार मार्ग में चार विशिष्ट गुण प्राप्त होते हैं, जिनसे इस मार्ग की सहज शोभा परिस्फुटित होती है। वे गुण हैं माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य।

विचित्र मार्ग में पूर्व निर्दिष्ट चारों गुण विद्यमान रहते हैं। अन्तर केवल इतना है कि यहां वे पूर्वापेक्षया अतिशयित रूप में रह कर प्रयत्नजन्य बाह्य शोभा के उत्पादक होते है।[28]

मध्यम मार्ग में भी ये ही गुण होते हैं जिनमें इन दोनों मार्गों की विशिष्टता लक्षित होती है। इन विशिष्ट गुणों के अतिरिक्त दो साधारण गुण होते हैं, जो इन तीनों मार्गों में सामान्य रूप से विद्यमान रहते हैं वे हैं-औचित्य और सौभाग्य।

औचित्य के द्वारा वक्ता या वाच्य के अतिशय स्वरूप का बोध होता सौभाग्य गुण को कुन्तक ने अलौकिक चमत्कारी तथा काव्य का एक मात्र जीवन माना है। उनके मत में इस उत्कृष्ट गुण की अवस्थिति काव्य की शोभा का मुख्य प्रतीक है।

कुन्तक का यह रीति निरूपण नितान्त प्रौढ एवं मौलिक विश्लेषण का परिचायक है। उन्होंने कवि के स्वभाव एवं कवित्व भाव को रीति का आधार मान कर सुकुमार मार्ग एवं विचित्र मार्ग के स्वरूप का विवेचन किया है वह उनकी प्रचुर कल्पना शक्ति का प्रतीक है।

वामन और रीतियां

रीति-लक्षण के सर्वप्रथम निर्माता वामन है। रीति अथवा मार्ग की परिभाषा न तो भामह ने की है और न दण्डी ने। वामन के अनुसार विशिष्टता से समन्वित पदों की रचना को रीति कहा गया है।[29] वामन ने स्वयं ही विशिष्टता या विशेष का स्पष्टीकरण करते हुए 'विशेषोगुणात्मा' कहा है। सार यह है कि ओज, प्रसाद आदि गुण जिसका स्वभाव है, वही विशेष होता है। इस प्रकार वामन के द्वारा प्रतिपादित लक्षण यह हुआ कि पदों की वह रचना जिसमें ओज, प्रसाद आदि गुण विशिष्टता उत्पन्न करते हैं अर्थात् गुर्णों से मण्डित रचना को रीति की संज्ञा दी जाती है।

आनन्द वर्धन ने इसे संघटना की संज्ञा से निर्दिष्ट किया है। संघटना से तात्पर्य है सम्यक् घटना अर्थात् पदों की सम्यक् अथवा शोभन घटना अर्थात् रचना। घटना का सम्यक्त्व गुणों के कारण ही होता है। इस प्रकार आनन्द वर्धन का संघटना शब्द नितान्त सार गर्भित है और वह वामन-निरूपित विशिष्टा पद रचना का ही समन्वित रूप है। आचार्य विश्वनाथ ने आनन्द वर्धन द्वारा निरूपित रीति विषयक कल्पना को याथातथ्येन अंगीकार कर इसका स्वरूप-निर्देश इस प्रकार किया है—

> **"पद संघटना रीतिः अङ्ग संस्था विशेषवत्।**
> **उपकर्त्री रसादीनाम्..............................।**[30]

इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कामिनी के अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन होता है अर्थात् समस्त अंग एक नियत प्रकार से संघटित होने

पर ही शोभाधायक होते हैं उसी प्रकार पदों की रचना रीति कहलाती है, जो रस आदि काव्य-सौन्दर्य के उन्मीलन के लिए उपकारक हो। रीति का रस से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इस तथ्य का विवेचन करने वाले सर्वप्रथम आचार्य आनन्द वर्धन है। रीति के विषय में उनका मत है—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति वा।
रसान्..'' ।[31]

सार यह है कि संघटना माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर अवस्थित रहती है तथा रसों की अभिव्यक्ति करती है। संघटना एवं गुणों के परस्पर सम्बन्ध का भी विशिष्ट विवेचन आनन्द वर्धन ने प्रस्तुत किया है। इस विषय से तीन पक्ष सम्भव हैं—

(1) संघटना और गुण की एकता
(2) संघटना पर आश्रित गुण
(3) गुणों पर आश्रित सघटना।

इन पक्षों में तृतीय पक्ष का मानना अधिक युक्तियुक्त एवं न्याय संगत होगा। प्रथम दो पक्षों के स्वीकार करने पर सघटना के समान ही गुणों का भी विषय अनियत हो जायगा। परन्तु गुणों का विषय सदा नियत रहता है।[32] उदाहरण के लिए जैसे—माधुर्य एवं प्रसाद का प्रकर्ष करुण रस तथा विप्रलम्भ शृंगार में ही होता है, ओज का प्रकर्ष रौद्र तथा अद्भुत रस में, माधुर्य तथा प्रसाद के विषय रस, भाव, भावाभास एवं रसाभास ही होते हैं—इस प्रकार गुणों में विशेष नियम की व्यवस्था है परन्तु संघटना में विषय का नियमन नहीं होता। अतएव शृंगार में भी दीर्घ सभास वाली तथा रौद्र आदि रसों में समास रहित रचना का भी प्रयोग न्याय संगत माना जाता है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि न तो गुण ही संघटनात्मक होते हैं और न वे संघटनाश्रित होते हैं प्रत्युत संघटना ही गुणाश्रय होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि रीति गुणों पर आश्रित रहती है।

रीति एवं प्रसाद गुण

रचना या संघटना मात्र का एक सामान्य गुण होता है जो समस्त संघटनाओं में समान रूप से विद्यमान रहता है। इस गुण का नाम है-प्रसाद। किसी भी संघटना का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिये, जिससे वाच्य अर्थ की प्रतीति सरलता से एवं तत्क्षण हो जाय।[33] काव्य-शास्त्र के नियम के अनुसार समास रहित संघटना करुण रस एवं विप्रलम्भ शृंगार की व्यञ्जिका होती है

किन्तु इसकी सफलता इसी में है कि जब अर्थ की प्रतीति झटिति हो जाय। यदि ऐसा न हो तो समास रहिता संघटना इष्टसिद्धि नहीं कर सकती। प्रसाद गुण की सत्ता होने पर ही मध्यम समास वाली संघटना करुण तथा विप्रलम्भ शृंगार के उन्मीलन में समर्थ होती है। अतएव प्रसाद गुण का प्रयोग प्रत्येक प्रकार की संघटना में समीचीन होता है। मम्मट ने भी रीति के इस सामान्य गुण को स्पष्टतः स्वीकार किया। मम्मट का कथन है कि सब रसों और समस्त रचनाओं में प्रसाद गुण विद्यमान रहता है—

"प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः"।[34]

इस प्रकार विभिन्न गुणों का आश्रय लेकर विभिन्न रीतियों की स्थिति को साहित्य शास्त्र में स्वीकार किया गया है परन्तु प्रसाद गुण सामान्यतः रीति का एक मात्र अवलम्बन है। इस सिद्धान्त में भारतीय एवं पाश्चात्य आलंकारियों का ऐकमत्य है।

रीति के भेद

अलंकार शास्त्र के आद्य आचार्य भामह वैदर्भ मार्ग तथा गौडीय मार्ग के स्वरूप से परिचित थे। यद्यपि उन्होंने इनका लक्षण स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत नहीं किया है। तथापि उनके वर्णन से प्रतीत होता है कि उस युग के आलंकारिक वैदर्भ मार्ग का सम्मान करते थे तथा गौडीय मार्ग उनके निरादर का पात्र था। दण्डी ने इन दोनों प्रकार के काव्य मार्गों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। उनका वैदर्भ मार्ग समस्त शोभन गुणों का निकेतन है परन्तु अक्षराडम्बर से मण्डित गौडीय मार्ग निकृष्टत्व का ही द्योतक है। दण्डी के युग में इन मार्गों का रूप सर्वथा निश्चित हो गया था। एक मार्ग सौन्दर्य तथा सुकुमारता का व्यञ्जक होने से कवियों का आदर भाजन था तो दूसरा औद्धत्य एवं उग्रता व्यक्त करने से नितान्त हेय था।

वामन ने इन अभिधानों की समस्या का समाधान किया, जो भामह और दण्डी के समय तक उलझी हुई थी। देश की विशेषता से द्रव्यों में विशिष्ट गुण उत्पन्न होते हैं और काव्यों में भी इस प्रकार का प्रभाव पडना नितान्त स्वाभाविक है। इसी आधार पर वैदर्भ एवं गौडीय मार्गो का नामकरण भी विशिष्ट देशों के नाम पर ही हुआ। पर वामन इसे स्वीकार नहीं करते। वामन की दृष्टि में इस नाम करण का कारण है उन देशों के कवियों के काव्यों में इन रीतियों का विशुद्ध रूप उपलब्ध होना। देश काव्यों का किसी प्रकार का उपकार नहीं करते।[35] वामन ने ही सर्व प्रथम रीति का प्रयोग किया है।

इन्होंने ही इन दो रीतियों में पाञ्चाली को जोड़कर रीतियों की संख्या तीन कर दी। रुद्रट ने रीतियों की संख्या चार कर दी। तथा लाटीया नामक नयी रीति की उद्भावना कर रीतियों को उन्होंने दो वर्गो में विभक्त किया—

(1) वैदर्भी और लाटीया

(2) गौडी और पाञ्चाली

आनन्द वर्धन ने रीति के रूप, नियामक, तथा वृत्ति के साथ परस्पर सम्बन्ध की विशद समीक्षा की। राजशेखर ने भी तीन ही रीतियों को स्वीकार किया है।। यद्यपि उन्होंने कर्पूर मंजरी की नान्दी में मागधी का उल्लेख किया है। भोजराज ने आवन्तिका एवं मागधी-इन दो नयी रीतियों की कल्पना की। परन्तु यह कल्पना नितान्त निराधार, अप्रामाणिक एवं अनुपयोगिनी है। भोजराज का प्रभाव अग्निपुराण पर भी दृष्टिगोचर होता है परन्तु वहां रीतियों की संख्या तीन ही स्वीकार की गयी है।

इस प्रकार प्रायः सभी आचार्यों ने रीतियों की संख्या तीन ही मानी है। वे रीतियां हैं :—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली।

जहां माधुर्यगुण, सुकुमार वर्ण, असमास अथवा मध्यम समास एवं सौकुमार्य से अन्वित रचना का एकत्र सन्निवेश हो उसे वैदर्भी रीति कहा जाता है। वामन ने वैदर्भी को परिभाषित करते हुए कहा है कि जो रचना दोषों से असंस्पृष्ट है, जो समग्र गुणगणों से ओतप्रोत है तथा जिसमें स्वरों का सौभाग्य अर्थात् सौकुमार्य है वह रचना वैदर्भी कही जाती है।[36]

वैदर्भी की सर्वातिशायिता

इन तीनों रीतियों में वैदर्भी का सौन्दर्य एवं सरसता सदा से कविजनों की प्रशंसा के पात्र रहे हैं। इस मनोहर एवं मनोरम रीति का आश्रय लेकर कवि कुल कलाधर कालिदास ने अपनी कीर्तिपताका को काव्य-जगत् में प्रसारित किया। आलंकारिकों ने इसकी इतनी प्रशंसा नहीं की जितनी कि काव्य-कला के कुशल कोविद कविजनों ने की है। नैषधीय चरित के रचयिता श्री हर्ष ने इस रीति की धन्यता का कितना मनोरम चित्रण किया है—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुति का खलु चन्द्रिकायाः यदब्धिमप्युत्तरली करोति।[37]

प्रकृत पद में वैदर्भी रीति एवं विदर्भ राजकुमारी दयमन्ती को श्लेष के द्वारा धन्य बताया गया है। अपने उदार गुणों से युक्त वैदर्भी रीति वस्तुतः धन्य है। एक अन्य पद्य[38] में श्री हर्ष ने वैदर्भी रीति को गुणों का निकेतन तथा अन्दर से रस के द्वारा स्फीत एवं प्रफुल्लित बताया है।

पद्म गुप्त परिमल के मत में वैदर्भ मार्ग पर चलना अत्यन्त कठिन कार्य है । उन्होंने इस मार्ग की उपमा निस्त्रिंश धारा अर्थात् खण्ड की धारा से दी है ।[39]

महाकवि विल्हण भी वैदर्भी रीति की प्रशंसा करने से विरत नहीं हुए । वे इस वैदर्भी रीति को श्रवण के लिए अनभ्रवृष्टि, सरस्वती के विलासों की जन्म भूमि तथा पदों के सौभाग्य प्राप्त करने की प्रतिनिधि मानते हैं–

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वती विभ्रम जन्म भूमिः ।
वैदर्भ रीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्य लाभ प्रतिभूः पदानाम् ।[40]

ऐसी अमृत की अनभ्रवर्षा किन्हीं भाग्य शाली कवियों के काव्य में ही प्रस्फुटित होती है ।

नीलकण्ठ दीक्षित में विदर्भ देश के निवासियों की प्रशंसा करने में तथा वैदर्भी रीति की श्लाधनीयता के वर्णन करने में अपने वाक् पाटव का पूर्ण परिचय दिया है । उनका कथन है कि चाहे मूर्ख हो या पण्डित, पुरुष हो या स्त्री, विदर्भ देश में जो व्यक्ति उत्पन्न होता है, वह रसिक ही हो जाता है । उस देश की महिमा ही अपार है ।

सन्त्वज्ञाः सन्तु बुधाः सन्तु पुमांसः स्त्रियश्च वा सन्तु ।
स स रसिकः कविरधुना जज्ञे यो यो जनो विदर्भेषु ।[41]

विदर्भ की विदग्ध भूमि में अरसिक निवास ही नहीं करते । जिस देश के निवासियों में इतनी रसिकता है उस देश की लेखन रीति का सुन्दर एवं मनोहर होना नितान्त अनिवार्य है । वैदर्भी रीति का रुचिर रूप नीलकण्ठ के इस श्लोक में दृष्टिगोचर होता है ।[42]

इसका सारांश यह है कि जो स्वादु पदार्थो में सर्व प्रथम है, जिस पर आरोहण करना कविता करने वालों के लिए पराकाष्ठा है, जो सरस्वती का निःश्वास है, जिसमें एक ही नहीं प्रत्युत नो रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है, वही वस्तुतः वैदर्भी रीति है । यदि यह रुचिर वैदर्भी काव्य में अपना विलास प्रदर्शित करती हैं तो स्वर्ग भी नीरस तथा मोक्ष भी आनन्द रहित प्रतीत होता है । इस रीति के काव्य में सन्निवेश से स्वर्ग की सुषमा भी नीरस आभासित होती है और संसार-सागर से मुक्ति दिलाने वाली आनन्द मन्दाकिनी को बहाने वाली मुक्ति भी आनन्दहीन, नीरस एवं अरुचिकर प्रतीत होती है ।

वैदर्भी एवं गौडी का अन्तर

वैदर्भी रीति की तुलना में कवि हृदय न तो गौडी का आादर करता

है और न उसका उतना उत्कर्ष स्वीकार करता है। यह तो उन्हीं कविजनों के हृदय को आवर्जित करती है, जो काव्य के बाह्य चाकचक्य के ही प्रेमी होते हैं। जिनकी दृष्टि में आन्तर कमनीयता, सुकुमारता की अपेक्षा बाह्य सज्जा एवं भूषा का अधिक महत्त्व है। वैदर्भी एवं गौडी में कहीं अंशतः भी साम्य नहीं। वैदर्भी रीति में रस का जो उत्स प्रवहमान है वह साधारण रसहीन कवि के लिए अनुसरणीय एवं अनुकरणीय नहीं बन सकता। वैदर्भी का निर्वाह एक नितान्त दुरूह कवि व्यापार है। पद्म गुप्त के शब्दों में यह निस्त्रिंश धारा है जिस पर चलने के इच्छुक कितने ही कवियों ने अपने काव्य कलेवर को नष्ट एवं क्षत विक्षत कर दिया। इसके विपरीत गौडी का अनुसरण अपेक्षाकृत सरल एवं मृदु है। बन्ध की गाढ़ता, कृति पर चमत्कृति जनक अलंकारों की छटा, प्रयत्नपूर्वक यदि किसी काव्य में समाविष्ट हो जायें तो गौडी की या गौडी रीति में रचना करने के लिए कवि-प्रतिभा की नहीं अपितु शब्द सम्पत्ति के प्राचुर्य की अपेक्षा रहती है।

कविता का निकष है श्रोता तथा पाठक के हृदय को रस से आप्लावित कर देना, रस की निर्झरिणी बहा देना, जिसकी मधुरता में वह इतना तन्मय हो जाय कि वह बाह्य-जगत् की स्मृति को विस्मृत कर दे और लोकोत्तर लोक में विचरण करने का आनन्द प्राप्त कर सके। वह केवल वैदर्भी रीति अथवा सुकुमार मार्ग से ही सम्पन्न हो सकता है। गौडी रीति पाठकों और श्रोताओं के नेत्रों में चकाचौंध तो भर सकती है परन्तु हृदय को शीतल बनाने की क्षमता उसमें नहीं है। सहृदयों के हृदयों को मुग्ध बना देने की योग्यता से भी वह वंचित है। अतएव कविता के मर्मज्ञ कविगण वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते विरत नहीं होते। वस्तुतः वैदर्भी रीति धन्य है, वैदर्भी का काव्य में प्रयोग करने वाले कवि धन्य हैं तथा वैदर्भी का मर्म समझने वाले सहृदय धन्य हैं।

कादम्बरी में इन तीनों रीतियों का यथावसर प्रयोग हुआ है। वैसे तो यह काव्य गौडी रीति के प्राधान्य से विभूषित है परन्तु अन्य रीतियों का सुन्दर एवं सुखद समावेश भी इसके क्षेत्र से बाहर नहीं है।

वैदर्भी

कादम्बरी में वैदर्भी रीति के उदाहरण यथावसर उपलब्ध होते हैं और उनकी छटा केवल सहृदय सम्वेद्य है। महाश्वेता के वर्णन में कवि ने वैदर्भी रीति का समधुर विन्यास किया है—

"क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नव पल्लवेन, नव पल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन, नवयौवनेन पदम्"।[43]

प्रस्तुत वाक्य में सुकुमार वर्णों की योजना, समास का प्रायः अभाव एवं माधुर्य गुण का सन्निवेश हुआ है। साथ ही श्रृंगार रस का यह प्रसंग है। अतः यह वैदर्भी रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है। साथ ही उत्तरोत्तर उपमेयों के उपमानत्व की परिकल्पना से उपमाओं की शृंखला होने से रसनोपमा अलंकार भी है। रस से पूर्णतया आप्लावित होने से यह रचना वैदर्भी रीति के क्षेत्र के अन्तर्गत समाहित होती है।

चन्द्रापीड के अवलोकन करने पर नारियों के भावावेश का वर्णन वैदर्भी रीति से ओत-प्रोत है—

"त्वरित गमन ! मामपि प्रतिपालय, दर्शनोन्मत्ते ! गृहाणोत्तरीयम् चपले ! उल्लासय अलकलतामाननावलम्बिनीम्, मूढे ! चन्द्र लेखा मुपाहर, उपहार कुसुमस्खलितचरणा पतसि मदनान्धे ! संयमय मदनिश्चेतने ! केशपाशम्। उत्क्षिप चन्द्रापीडदर्शनव्यसनिनि कांञ्चीदामकम्। उत्सर्पय पापे ! कपोल दोलायितं कर्णपल्लवम्, अहृदये ! गृहाण निपतितं दन्तपत्रम्, यौवनोन्मत्ते ! विलोक्यसे जनेन स्थगय पयोधरभारम्"।[44]

प्रस्तुत अवतरण में माधुर्य व्यञ्जक पदावली का प्रयोग किया गया है। साथ ही सुकुमार वर्णों एवं छोटे-छोटे समासों का भी प्रयोग हुआ है। न कठोर वर्ण हैं और न दीर्घ समास वाली शैली अतः यहां वैदर्भी शैली का चमत्कार अत्यन्त मनोरम है।

गौडी

कादम्बरी में गौडी शैली का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इस रीति की रचना में ओज गुण का प्रामुख्य रहता है। कठोर वर्ण एवं दीर्घ समासों की विकट रचना का सन्निवेश इसकी प्रमुख विशेषता है। कादम्बरी के शून्याटवी वर्णन में गौडी रीति की रचना का साम्मुख्य होता है—

"क्रमेण चातिवृद्ध प्रकाण्ड पादपप्रायया, मालिनीलता मण्डपैः मण्डलिततरुखण्डया, गजपतिपातितपादपपरिहारवक्रीकृत मार्गया, जनजनिततृणपर्णकाष्ठकोटिकूट प्रकटित वीरपुरुष घातस्थानया

महापादप भूतलोत्कीर्ण कान्तार दुर्गया, तृषित पथित खण्डित दलोज्झितामलकीफल निकरया, विकसित करंज......................

........................परिणद्ध वराटक घटित वुद बुदार्द्ध चन्द्र खण्ड खचितम्, सुतमहिष रक्षणावकीर्ण दिनकरावतारित शशिनेव विराजित शिखरम्, दोलायित शृंगसंगिलोहशृंखलावलम्बमान घर्घररव घोर घण्टया च घटित केसरिसटारुचिरचामरया कांचन त्रिशूलिकया लिखित नभस्तलम्, इतस्ततः पथिक पुरुषोपहार मार्गमिवावलोकयन्तं महान्तं रक्त ध्वजं दूरत एव ददर्श'' ।[45]

प्रस्तुत गद्य खण्ड में क्लिष्ट समास एवं दीर्घ समासों का बाहुल्य है। कठोर वर्णों का समुचित विन्यास इसमें हुआ है। वर्गो में भी टवर्ग एवं रेफ आदि का प्रचुर प्रयोग किया गया है। रक्त ध्वज का वर्णन जटिलता एवं क्लिष्टता से परिपूर्ण है अतः यहां गौडी का समीचीन प्रयोग हुआ है।

इसी प्रकार महाश्वेता की गुफा के वर्णन में भी गौडी रीति का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है—

एवं च कृतमतिः पदशतमात्रमिव गत्वा, निरन्तरं दिवापि रजनिमयमिव दर्शयद्भिः तमाल तरुभिरन्धकारित पुरोभागाम् उत्फुल्ल कुसुमेषु लता निकुंजेषु कूजतां मन्दं मन्दं मदमत्त मधुलिहां विरुतिभिर्मुखरीकृत पर्यन्ताम्,.... ....

अवशीर्णाङ्गभस्म धूसर वल्कलशयनीय सनाथैकदेशाम् इन्दुमण्डलेनेव टंकोत्कीर्णेन शंखमयेन भिक्षाकपालेनाधिष्ठिताम्, सन्निहित भस्मालावुकां गुहामद्राक्षीत्'' ।[46]

प्रस्तुत अवतरण में ट वर्ग का प्रचुर प्रयोग हुआ है, दीर्घ काव्य समासों की बहुलता है, कठोर वर्णों का यथावसर विन्यास किया गया है। गुहा की गहनता, अन्धकारमयता एवं भयंकरता का वर्णन इस गौडी रीति के लावण्य को द्विगुणित कर देते है। अतः यहां गौडी रीति का सुन्दर विन्यास हुआ है।

पाञ्चाली

बाण भट्ट की रचना में पाञ्चाली रीति का सुरम्य उल्लास है। यह रीति वैदर्भी एवं गौडी के अन्तरालवर्तिनी होती है। इसमें माधुर्य व्यञ्जक सुकुमार पदों का प्रयोग होता है।

अच्छोद सरोवर के वर्णन में पाञ्चाली रीति की छटा दर्शनीय है—

"प्रविश्य च तस्य तरुखण्डस्य मध्यभागे मणिदर्पणमिव त्रैलोक्य लक्ष्याः, स्फटिक भूमिगृहमिव वसुन्धरा देव्याः, निर्गमन मार्गमिव सागराणाम्, निष्यन्दमिव दिशाम्, मलयमिव चन्दन शिशिर वनम् असत् साधनमिवादृष्टान्तम्, अतिमनोहरं महाह्लादनम दृष्टेः अच्छोदं नाम सरो दृष्टवान्" ।[47]

प्रस्तुत अवतरण में अच्छोद नामक सरोवर की लावण्य प्रभा का वर्णन किया गया है। इसमें माधुर्य व्यञ्जक शब्दावली का उपयोग किया गया है। शब्दों की सुकुमारता तथा समासों की अल्पता इसे गौडी रीति से पृथक् करते हैं। यह वैदर्भी और गौडी रीति के बीच की रीति है। इसमें गौडी रीति के समान ओजोगुण विशिष्ट विकट-संघटना का अभाव है। परन्तु वैदर्भी की सुकुमारता तथा माधुर्य से यह आप्यायित है। अतः पाञ्चाली रीति है।

चाण्डाल कन्या के वर्णन में भी पाञ्चाली रीति का सौरभ प्रस्फुटित होता है।[48]

प्रस्तुत उद्धरण में सरस एवं मधुर शब्दों का प्रयोग हुआ है। समास अत्यल्प हैं अर्थात् यह दीर्घ समास बहुला नहीं है। सुकुमार पदावली इसकी शोभा का विस्तार करती है। अतः वैदर्भी एवं गौडी रीति के अन्तरालर्तिनी होने से यह पाञ्चाली रीति है।

चाण्डाल कन्या की रूप शोभा का अत्यन्त सुमधुर यह वर्णन है। कादम्बरी में पाञ्चाली रीति का बाहुल्य है। गूढ गुंफित शब्दावली के साथ-साथ माधुर्य व्यञ्जक एवं सुकुमार वर्णों का विन्यास इसकी अपनी विशेषता है। यही कारण है कि सहृदय के मानस पटल पर इसकी अमिट छाप सदा के लिए अंकित हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रीति का काव्य में अत्यधिक महत्त्व है। जितनी काव्य रचना की शैलियां हैं उसी अनुपात में रीतियां भी होती है। जगत् में रुचि की विचित्रता तथा स्वभाव की विविधता के कारण ही नाना रीतियों का उदय हुआ।

रीति का विन्यास रसौचित्य पर आश्रित है। जिस रस का उन्मीलन कवि को अभीष्ट होता है उसकी रीति भी उसके नितान्त अनुरूप होती है। काव्य में रस की ही प्रधानता है।

वैदर्भी रीति का काव्य में अतिशयित महत्त्व है। वैदर्भी रीति को सब से उत्कृष्ट रीति माना गया है। यह रचना दोषों से नितान्त असंस्पृष्ट है, समस्त गुण गणों से आप्लावित है तथा जिसमें स्वरों का सौकुमार्य उल्लसित रहता है।

गौडी रचना गद्य काव्य के लिए उत्कृष्ट मानी गयी है। ओज और समास भूयत्व गद्य का जीवन माना गया है और यही गौडी रीति का मूल आधार है।

पाञ्चाली रीति का अपना अपूर्व स्थान है। कादम्बरी में पाञ्चाली का अनुपम साम्राज्य है। इसमें गौडी के समान विकट गाढ बन्ध का अभाव रहता है परन्तु वैदर्भी के अनुरूप माधुर्य व्यञ्जक एवं सुकुमार वर्णों का व्यवहार इसमें होता है। इस प्रकार इन रीतियों से काव्य का लावण्य अनुपम हो जाता है और वह सहृदयों के अन्तःकरण को रस से आप्लावित कर उन्हें आनन्द के पारावार में निमज्जित कर देता है।

सन्दर्भ

1. प्रवृत्तिः कस्मात्। उच्यते-पृथिव्यां नानादेश वेषभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। वृत्तिश्च निवेदने।
   —नाट्य शास्त्र पृ० 165
2. चतुर्विधा प्रवृतिश्च प्रोक्ता नाटय प्रयोगतः।
   आवन्ती दक्षिणात्या च पाञ्चाली चौडमागधी।
   —नाट्य शास्त्र 14/36
3. काव्यादर्श 1/40 तथा 101-2
4. भावप्रकाशन पृ० 11-12
5. नल चरित 1/13
6. हर्षचरित 1/7
7. हर्षचरित 1/2
8. काव्यालंकार 1/34

9. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्म भेदः परस्परम् ।

—काव्यादर्श 1/40

10. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिः समाधयः ।

—काव्यादर्श 1/41-42

11. रीतिशतया काव्यस्य-काव्यालंकार सूत्र 1/266
12. वही 1/2/12
13. वही 1/2
14. काव्यालंकार 1/6
15. काव्यालंकार 2/4-5
16. काव्यालंकार 14/37
17. काव्य मीमांसा पृ० 10
18. बाल रामायण 3/14
19. काव्य मीमांसा पृ० 31
20. सरस्वती कण्ठाभरण 2/22
21. वक्रोक्ति जीवितम् पृ० 46
22. वही पृ० 46
23. वही पृ० 47
24. वक्रोक्ति जीवितम् 1/35-29
25. वही 1/35
26. वही 2/38
27. वक्रोक्ति जीवितम् 1/41-42
28. वही 1/10
29. विशिष्टा पद रचना रीतिः । काव्यालंकार सूत्र 1/2/7
30. साहित्य दर्पण 9/1
31. ध्वन्यालोक 3/6
32. ध्वन्यालोक पृ० 134
33. ध्वन्यालोक पृ० 140
34. काव्य प्रकाश 8/73/7
35. काव्यालंकार सूत्र 1/2/10
36. काव्यालंकार सूत्र पृ० 17
37. नैषधीय चरितम् 3/116

38. वही 3/91
39. नवसाहसांक चरित 1/5
40. विक्रमांकदेव चरितम् 1/9
41. नल चरितम्
42. नल चरित नाटकम्-3 अङ्क
43. कादम्वरी पृ० 414
44. कादम्बरी पृ० 256-57
45. कादम्बरी पृ० 633-36
46. कादम्बरी पृ० 403-405
47. कादम्बरी पृ० 371-76
48. कादम्बरी पृ० 32-34

——

कादम्बरी में गुण-विवेचन

पञ्चम-परिच्छेद

गुण

गुणों का विवेचन तो प्रायः सभी साहित्य ग्रन्थों में उपलब्ध होता है किन्तु कतिपय ग्रन्थों में गुणों के महत्त्व को भी प्रदर्शित किया गया है। अग्निपुराण में महर्षि व्यास ने कहा है कि यदि काव्य अलंकार युक्त हो किन्तु गुण-रहित हो तो वह प्रीति जनक नहीं हो सकता जिस प्रकार कुरूपा स्त्री के हार आदि आभूषण केवल भार के लिए होते हैं—

"अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।

वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।"[1]

आचार्य वामन ने भी गुणों का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कहा है कि युवति के रूप के समान अलंकार-रहित भी केवल गुण युक्त काव्य रसिकजनों के चित्त को आकर्षित करता है और यदि वह गुण युक्त तथा अलंकारों से सुसज्जित हो तो अत्यन्त ही आकर्षक होता है[2] और अनेक आभूषणों से युक्त भी जिस प्रकार कामिनी का शरीर यदि शालीनता आदि गुणों में रहित हो तो दुर्भग होता है उसी प्रकार उपमा आदि अलंकारों से युक्त भी काव्य यदि ओज आदि गुणों से रहित हो तो वह अनादर के योग्य होता है।

महाराजा भोज ने कहा है कि गुण और अलंकारों के सम्बन्ध में काव्य का गुणों से युक्त होना परमावश्यक है। उनकी दृष्टि में काव्य में अलंकार चाहे हों या नहीं परन्तु गुण अवश्य होने चाहिये—

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुण वर्जितम्।[3]

गुण के स्वरूप-विवेचन के सम्बन्ध में संस्कृत काव्य शास्त्रियों में मत वैषम्य रहा है।

गुणों का स्वरूप

इस प्रकार की विभिन्नता उसके स्वरूप, संख्या, एवं स्थिति के सम्बन्ध में भी दृष्टिगोचर होती है। गुण एवं अलंकार तथा गुण एवं रीति के पारस्परिक सम्बन्ध तथा गुण एवं रस की स्थिति को लेकर संस्कृत साहित्य शास्त्र में पर्याप्त ऊहापोह हुआ है। किसी ने इसे शब्दार्थ का धर्म कहा तो किसी ने काव्य में इसकी अचल स्थिति का प्रतिपादन किया। किसी की दृष्टि में गुण रस का अंग माना गया तो कतिपय विद्वानों ने रीति और गुण में पारस्परिक तारतम्य प्रदर्शित किया। कुछ लोगों के मत में गुण एवं अलंकार में अभिन्नता मानी गयी है तो कतिपय आचार्य दोनों की सत्ता को पृथक् स्वीकार करते हैं। इस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र के विकास में गुणों की स्थिति में पर्याप्त विविधता दृष्टिगोचर होती है।

सर्व प्रथम गुण का विवेचन भरत के नाट्य शास्त्र में उपलब्ध होता है। भरत ने गुणों को दोषों का विपर्यय कहा है—

"गुण विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः[4]
एत एव वियर्यस्ताः गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।[5]

आचार्य अभिनव गुप्त ने विपर्यय का अर्थ विघात या अभाव किया है। इस शब्द के अर्थ की व्याख्या करने में भी विद्वानों में मत वैविध्य दिखायी पड़ता है। फलतः इसके तीन अर्थ किये गये है - अभाव, अन्यथाभाव एवं वैपरीत्य। भरत ने श्लेष आदि गुणों की संख्या दस मानी है तथा वे गुणों को अर्थान्तर आदि दस दोषों से विपर्यस्त स्वीकार करते हैं।[6]

भरत ने दोषों को शोभा का विघातक एवं गुणों को काव्य-शोभा का विधायक माना है। उन्होंने अलंकार एवं गुण-दोनों को रस संश्रयात्मक बता कर काव्य में दोनों की समान महत्ता स्वीकार की है। उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि गुण अलंकार की तरह वाचिक अभिनय को प्रभावशाली बनाता है। नाटक का वाचिक अभिनय ही काव्य की भाषा या शैली है। अर्थात् काव्य में जो महत्त्व शैली या भाषा का होता है नाटक में वही महत्त्व वाचिक अभिनय का होता है। गुणों की उपयोगिता काव्य की शैली को समृद्ध करने में निहित है। गुणों का प्रयोग रसानुकूल होना चाहिये। इस प्रकार भरत के द्वारा प्रतिपादित गुणों की तीन विशेषताएं हुई--

(1) गुण काव्य की शोभा की वृद्धि करने वाले हैं।

(2) गुण एवं अलंकार का मह व समान है।

(3) रसानुकूल प्रयोग के द्वारा वे काव्य की शोभा में वृद्धि करते हैं।

भरत ने इन दस गुणों को अंगीकार किया है—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।

अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थ गुणा दशैते।[7]

भरत के अनन्तर भामह ने गुण का अत्यन्त ही संक्षिप्त विवेचन किया है। उन्होंने केवल तीन कारिकाओं में केवल परिचय ही प्रस्तुत किया है। माधुर्य, ओज एवं प्रसाद-तीन गुणों की कल्पना कर भामह ने भरत द्वारा प्रतिपादित दस गुणों को नहीं माना है।[8]

माधुर्य एवं प्रसाद की विशेषता बतलाते हुए भामह ने स्पष्ट लिखा है कि उनमें समस्त पदों का प्रयोग नहीं होता किन्तु ओज गुण समास बहुल होता है। जो श्रवण करने में अच्छा लगे वह माधुर्य गुण एवं जो स्त्रियों को और बच्चों को भी समझ में आ जाय उसे प्रसाद गुण कहा गया है।

भामह का गुण-निरूपण यद्यपि बहुत कुछ स्थूल है तथापि प्रायः सभी गुणों के आंतरिक वैशिष्टय का उद्घाटन इसमें यथासम्भव किया गया है। उन्होंने गुणों की संख्या तीस निर्धारित कर एक प्रकार से आनन्दवर्धन का अग्रेसरत्व किया है।

दण्डी ने गुणों के दस भेदों का उल्लेख किया है किन्तु गुणों का सामान्य लक्षण नहीं दिया। अलंकार के सम्बन्न में विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि[9] काव्य के शोभावर्धक धर्म अलंकार हैं। उन्होंने उपमा, रूपक आदि को साधारण अलंकार माना है एवं साधारण अलंकारों के अतिरिक्त जितने भी सौन्दर्याधायक तत्त्व हैं उन्हें भी अलंकार रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार दण्डी ने गुणों को भी काव्य का शोभाकर धर्म मान लिया है। अतः दण्डी के मतानुसार गुण भी एक प्रकार के अलंकार ही हुए। दण्डी के दस गुण भरत द्वारा प्रतिपादित वे ही गुण है।[10]

वामन को सर्व प्रथम गुण का स्पष्ट एवं वैज्ञानिक लक्षण प्रस्तुत करने का श्रेय है। इनकी दृष्टि में काव्य के शोभाकारक धर्म गुण कहे जाते हैं। इन्होने गुणों को काव्य का अनित्य धर्म माना है। वामन ने भरतादि आचार्यों के विपरीत गुण को रस का धर्म न मान कर रस को ही गुण का अंग माना है। रस कान्ति गुण का अंग है अतः वह गुण पर आश्रित रहता है-दीप्तरसत्वं कान्तिः।

वामन ने गुणों की संख्या दस ही मानी है किन्तु वे प्रत्येक गुण के दो विभाग करते हैं–शब्द गुण एवं अर्थ गुण।

इस प्रकार वामन के द्वारा निरूपित गुणों की संख्या बीस है। भोज राज ने इस संख्या को बढ़ाकर चौबीस तक पहुँचा दिया। उन्होंने गुणों को तीन भागों में विभक्त किया है– बाह्य, आभ्यन्तर एवं वैषयिक। बाह्य गुण के अन्तर्गत वामन के शब्द गुणों का परिगणन किया गया है तथा आभ्यन्तर गुण के अन्तर्गत अर्थ गुण। वैषयिक गुण गुण न होकर दोष हैं किन्तु ये स्थिति विशेष में गुण भी हो जाते हैं।

वामन ने दस गुणों का वर्णन करते हुए कहा है—

ओजः प्रसादः श्लेषः समता समाधिः माधुर्यं सौकुमार्यं उदारता अर्थव्यक्तिकान्तयो बन्ध गुणाः।[11]

गाढ बन्धत्व अथवा रचना की गाढता को ओज कहा गया है। रचना की शिथिलता को प्रसाद करते हैं। समास रहित पदों से युक्त रचना को माधुर्य गुण युक्त कहा जाता है।

गुण के भेद

गुणों की संख्या के सम्बन्ध में संस्कृत काव्य शास्त्र में व्यापक रूप से विचार किया गया है। इनकी संख्या के विषय में आचार्यों में मतैक्य नहीं है। भरत ने गुण के दस प्रकारों का वर्णन किया है। वामन ने उनकी संख्या को बढ़ाकर बीस कर दिया है। भोज राज ने पहले चौबीस प्रकार मान कर अन्त में बाह्य, आभ्यन्तर एवं वैषयिक रूप में उनका विभाजन किया और प्रत्येक के चौबीस-चौबीस भेदों का निरूपण किया। इस प्रकार गुणों की संख्या बहत्तर तक पहुँच गयी। अग्निपुराण में गुणों की संख्या अठारह है और कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति जीवितम्' में गुणों को 7 प्रकार का अंगीकार किया है। अग्निपुराण में शब्द गुण, अर्थ गुण एवं शब्दार्थ गुण–ये तीन विभाग किये है। काव्य के शरीर रूप शब्द पर आश्रित गुण शब्द गुण हैं, वे 6 प्रकार के होते हैं। अर्थ गुण भी 6 प्रकार के माने गये हैं तथा उभय गुण के भी 6 भेद हैं।

एक श्रेणी के आचार्यो ने जब कि गुणों की संख्या में इस प्रकार वृद्धि की है तो दूसरी श्रेणी के भामह आदि ने गुणों के माधुर्य, ओज, एवं प्रसाद–ये तीन भेद ही माने हैं। गुणों की संख्या की इस विविधता में आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में स्वतन्त्रता का साम्राज्य प्रतीत होता है। इस विषय पर सम्भवतः प्राचीन आचार्यों ने गहन चिन्तन नहीं किया। वस्तुतः ध्यान पूर्वक

देखा जाय तो नाट्य शास्त्र और दण्डी द्वारा निरूपित गुणों का अधिकांशतः जिस प्रकार वामन के निरूपित गुणों में समावेश हो जाता है उसी प्रकार भोज द्वारा निरूपित गुणों का भी अधिकांशतः वामन के निरूपित गुणों में समावेश हो जाता है। भेद केवल नाम मात्र का ही रह जाता है। अतएव आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न मतों पर विचार करके भामह के मत को सार भूत समझ कर उसी के अनुसार तीन ही गुणों को स्वीकार किया है।

आनन्द वर्धन ने सर्वप्रथम गुण को रस का धर्म मानते हुए इसके तीन प्रमुख भेदों को ही स्वीकार किया है। वे हैं-माधुर्य, ओज एवं प्रसाद। आनन्द वर्धन का अनुसरण मम्मट, हेमचन्द्र, विद्याधर एवं विश्वनाथ ने किया। इस प्रकार संस्कृत के परवर्ती आचार्यों की प्रवृत्ति गुण-विस्तार से हट कर गुण-संकोच की ओर बढ गयी।

आचार्य मम्मट का कथन है कि वामन के बताये हुए श्लेष, समता, उदारता, प्रसाद और ओज-इन पांच गुणों का ओज को ध्वनित करने वाली रचना में अन्तर्भाव हो जाता है। माधुर्य को माधुर्य की अभिव्यञ्जक रचना में समाविष्ट किया जा सकता है। वामन द्वारा प्रतिपादित समता को दोषरूप मान लिया गया। समता की सर्वत्र स्थिति का औचित्य संदिग्ध है। प्रतिपाद्य विषय की उद्भटता एवं अनुद्भटता के अनुसार एक ही पद्य में भिन्न भिन्न शैली का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। वामन ने जिनको कान्ति एवं सुकुमारता गुण कहा है वे ग्राम्यत्व एवं कष्टत्व-दोषों के अभाव मात्र हैं, न कि गुण। क्योंकि काव्य में इन दोनों दोषों के दूर कर देने से कान्ति एवं सुकुमारता की स्थिति स्वयं ही आ जाती है। वामन के अर्थ व्यक्ति तो प्रसाद गुण के समान ही है। प्रसाद गुण के स्वीकार करने पर अर्थ व्यक्ति के मानने की कोई आवश्यकता नहीं। अर्थ व्यक्ति का अर्थ है अर्थ का सुगमता पूर्वक ज्ञान होना वह तो प्रसाद गुण ही है।

इसी प्रकार वामन द्वारा अर्थ के भी दश गुण बताये गये हैं जिनके नाम भी शब्द के गुणों के अनुसार ही हैं किन्तु आचार्य मम्मट का कथन है कि वामन के निरूपित अर्थ के गुणों में श्लेष और ओज के प्रथम चार भेद तो विचित्रता मात्र है ये गुण नहीं कहे जा सकते। यदि विचित्रता को गुण मान लिया जाय तो अर्थ वैचित्र्य तो प्रत्येक शब्द में होता है- उन सभी को गुण स्वीकार करने में गुणों की संख्या अनन्त हो जायेगी। वामन के प्रसाद, माधुर्य सौकुमार्य, उदारता, समता, ओज-ये गुण क्रमशः अधिक पदत्व, अमङ्गलरूप

अश्लीलत्व, ग्राम्यत्व, भग्न प्रक्रमत्व, अपुष्टार्थत्व इन दोषों के अभाव मात्र हैं। इन दोषों का न होना ही इनका स्वरूप है। वामन का अर्थ व्यक्ति स्वभावोक्ति अलंकार है न कि गुण। वामन ने रस के स्पष्टतया प्रतीत होने में जो कान्ति गुण माना है वह रस, ध्वनि, तथा गुणीभूत व्यंग्य, रसवत् अलंकार आदि का विषय है न कि गुण। समाधि तो कवि के अन्तःकरण में रहने वाली ज्ञान रूप वस्तु है अतः वह काव्य का कारण है न कि गुण।

आचार्य मम्मट के प्रतिपादित इस मत का महत्त्व और इसकी सर्वमान्यता का सर्वोपरि प्रमाण यह है कि हेमचन्द्र, विश्वनाथ जैसे सुप्रसिद्ध आलोचक एवं साहित्य शास्त्र के आचार्यों ने मम्मट द्वारा स्वीकृत तीन गुण-माधुर्य, ओज और प्रसाद ही अङ्गीकृत किये हैं।

गुण का स्वरूप

आचार्य आनन्द वर्धन ने गुणों को रस के आश्रित रहने वाला माना है। उनके मतानुसार काव्य की आत्मा रस है और गुण रस के धर्म हैं। अर्थात् गुणों की स्थिति रस में है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में शौर्य आदि गुणों की स्थिति होती है उसी प्रकार काव्य में रस को उत्कर्ष प्रदान करने वाले धर्म को गुण कहा जाता है। रस के साथ उनकी स्थिति अचल होती है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।

अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्।[12]

कहने का तात्पर्य यह है कि गुण रस के साथ रहते हैं। जहां पर रस नहीं होता वहां पर गुणों की भी स्थिति सम्भव नहीं। अतः गुण को रस का शोभाधायक तत्त्व माना जाता है। गुण रस के उपकारक हैं। शूरता, एवं वीरता आदि गुणों का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर से न होकर आत्मा के साथ होता है। यदि आत्मा के साथ इनका सम्बन्ध न होकर शरीर के साथ इनका सम्बन्ध होता तो मृत्यु के पश्चात् भी इन गुणों की शरीर में अवस्थिति आवश्यक थी। किन्तु ऐसा नहीं होता। मृत्यु होते ही मनुष्य के गुण तिरोहित हो जाते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मा के अभाव में गुणों की स्थिति असम्भव है। इसी पकार की स्थिति काव्य में रस के साथ गुणों की है। काव्य की आत्मा होने के कारण गुणों का सम्बन्ध रस के साथ स्वतः ही स्थापित हो जाता है।

आचार्य मम्मट के अनुसार यद्यपि गुण मुख्य रूप से रस के धर्म हैं तथापि गौण रूप से वे शब्दार्थ के भी धर्म माने जाते हैं। उन्होंने गुणों को इस प्रकार परिभाषित किया है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्ष हेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः ।[13]

कहने का अभिप्राय यह है कि गुण रस के धर्म, रस के उत्कर्ष के हेतु और रस मे अचल स्थिति में रहने वाले हैं। जिस प्रकार शौर्य आदि जीवात्मा के धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण काव्य के आत्मा रूप रस के ही धर्म हैं। उनकी अवस्थिति रस में ही रहती है न कि वर्ण-रचना में। इसलिए गुणों को रस के धर्म कहा गया है।

गुण व अलंकार

गुणों के इस लक्षण के द्वारा गुण एवं अलकार का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है।[14] गुण एवं अलंकार के अन्तर के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती आचार्यों के दो प्रकार के विचार उपलब्ध हैं। उद्भट ने इन दोनों के भेदों को मिथ्या मान कर गुण एवं अलंकार में अभेद सम्बन्ध की स्थापना की है। लौकिक गुण एवं अलंकारों में तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि अलकारों का शरीरादि के साथ संयोग सम्बन्ध रहता है और शौर्यादि गुणों का आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं अपितु समवाय सम्बन्ध होता है। इसलिए लौकिक गुण तथा अलकार में भेद माना जा सकता है। परन्तु काव्य मे तो ओज आदि गुण तथा अनुभास, उपमा आदि अलंकार दोनों की ही समवाय सम्बन्ध में स्थिति होती है, इसलिए काव्य में उनके भेद का उपादान नहीं किया जा सकता।

उद्भट ने "गड्डलिका प्रवाहेणैवेषां भेदः" कर गड्डलिका प्रवाह के द्वारा यह निर्दिष्ट किया है कि गुण एवं अलंकार में कोई अन्तर नहीं। इस प्रकार यह मत अभेदवादी है।

दूसरा मत काव्यालंकार सूत्र के निर्माता वामन का है। उन्होंने काव्य शोभा को करने वाले उत्पादक धर्म को गुण एवं काव्य शोभा को अतिशयित करने वाले धर्म को अलंकार माना है।

सारांश यह कि शब्दार्थ के वे धर्म जो काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले हैं, उन्हें गुण कहा जाता है, वे ओज, प्रसाद आदि हैं। यमक, उपमा आदि अलंकारों को काव्य शोभा के उत्पादक नहीं होने के कारण गुण नहीं कहा जा सकता। गुण के अभाव में केवल अलंकार ही काव्य के शोभाधायक धर्म नहीं हो सकते किन्तु अलङ्कार के बिना भी ओज आदि गुण काव्य के शोभाधायक धर्म होते हैं अतः वे ही काव्य गुण कहे जा सकते है, अलंकार नही।

वामन ने गुण एवं अलंकार में दूसरा अन्तर यह प्रदर्शित किया कि गुण काव्य के नित्य धर्म है और अलंकार हैं अनित्य धर्म, अर्थात् अलंकार के

बिना तो काव्य में काम चल सकता है किन्तु गुण के अभाव में उसमें शोभा का आधान सम्भव नहीं। वामन का मत भेदवादी है। उन्होंने दो कारणों को प्रस्तुत कर गुण एवं अलंकार के भेद की स्थापना कर दोनों का अन्तर स्पष्ट किया—

"काव्य शोभायाः कर्तारो धर्माः गुणास्तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः।

ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्य शोभां कुर्वन्ति ते गुणाः।

तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः"।[15]

तस्याः काव्य-शोभायाः अतिशयस्तदतिशयः तस्य हेतवःपूर्वे नित्याः।[16]

इस प्रकार वामन द्वारा प्रस्तुत इन कारणों से इनका अन्तर स्पष्ट हो जाता है—

(1) गुण काव्य के उत्पादक धर्म हैं एवं काव्य गुणों के द्वारा उत्पादित धर्म काव्य की शोभा में वृद्धि करते हैं। अतः गुण को काव्य का स्वरूपाधायक धर्म एवं अलंकार को उत्कर्षाधायक धर्म कहा जा सकता है।

(2) गुण काव्य के नित्य एवं अनिवार्य तत्त्व हैं किन्तु अलंकारों की स्थिति अनित्य है, अपरिहार्य नहीं है।

आनन्द वर्धन ने इन दो मतों के अतिरिक्त अपने नवीन मत की स्थापना करते हुए गुण को रस का धर्म एवं अलंकार को शब्दार्थ का धर्म अङ्गीकृत किया है। रस ध्वनि काव्य में आत्मा के समान है, किन्तु शब्द एवं अर्थ अङ्ग आदि की तरह है।

मम्मट ने आनन्द वर्धन के आधार पर अपने मत का प्रतिपादन किया है। उनकी दृष्टि में आत्मा के शौर्य आदि गुणों के समान रस के उत्कर्षाधायक एवं अपरिहार्य धर्म गुण हैं। काव्य में अलंकारों की स्थिति अङ्गों के उपकारक हारादि आभूषणों की तरह है, जो काव्य को यदा-कदा उत्कर्ष युक्त करते हैं—

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।

उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।[17]

उक्त विवेचन के आधार पर गुण एवं अलंकारों की काव्य में स्थिति का विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म हैं। वे रस की तरह नित्य नहीं। अलंकार और गुण-दोनों ही

काव्य में उत्कर्षाधायक हैं किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि जहां गुणों के द्वारा काव्य में काव्यात्मकता का सन्निवेश होता है वहां अलंकार उसे केवल उत्कृष्ट बना सकते हैं, उसमें बाह्य चमत्कार उत्पन्न करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि गुण काव्य के आन्तर सौन्दर्य हैं तो अलंकार बाह्य शोभा धायक मात्र हैं। अलंकारों के समावेश से काव्य का बाह्य भले ही चमत्कार पूर्ण हो जाय किन्तु गुणों के द्वारा तो उसकी आन्तरिक विभूति प्रकाशित होती है। अलंकारों की स्थिति नीरस काव्य में भी सम्भव है किन्तु गुण सरस काव्य में ही रह सकता है। कारण यह है कि गुण काव्य रस के नित्य धर्म है, जहां रस होगा वहां गुणों की स्थिति अनिवार्य है। गुण रस का सदा उपकार करते हैं किन्तु अलंकारों के घटाटोप मे काव्य का स्वारस्य नष्ट हो जाता है। अतः गुण को काव्य का नित्य धर्म एवं अलंकारों को उसका बाह्य धर्म कहा गया है। अलंकार स्वय शोभा को उत्पन्न नहीं करते अपितु उत्पन्न की हुई शोभा को बढ़ाते हैं इसलिए विश्वनाथ ने इन्हें काव्य का अस्थिर धर्म कहा है। इस प्रकार प्रायः सभी आचार्यों ने गुणों को अचल, नित्य या स्थायी माना है। काव्य में गुणों का सम्बन्ध स्थायी है उनके अभाव में रचना असफल हो जायगी।

गुण एवं रस

गुण एवं अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा कर लेने के अनन्तर जब यहां गुण एवं रस के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विवेचना अप्रासंगिक नहीं होगी। गुणों का रस के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। रसों को ध्यान में रखकर गुणों का प्रयोग किया जाता है। कोमल भाव वाले रसों मे कोमल एवं मधुर शब्दों का प्रयोग होना चाहिये। यदि उनके स्थान पर कठोर वर्णों का प्रयोग किया जाय तो रसास्वादन में बाधा उपस्थित हो जायगी। अतः मधुर भाव को द्योतित करने वाले रसों के रसत्व को सुरक्षित करने के लिए मधुर एवं कोमल वर्णों का प्रयोग अपेक्षित है। इसलिए इन रसों में माधुर्य गुण का व्यवहार होता है। रौद्र, वीभत्स एवं वीर रस में उग्रभावों की व्यञ्जना होनी है। इसमें ऐसे शब्दों का गुम्फन होना चाहिये जो उग्रता को प्रदर्शित करने में सक्षम हों। ऐसी स्थिति में उग्रभाव वाले रसों की कठोर वर्णों के प्रयोग के द्वारा ही व्यंजना संभव है। मधुर एवं उग्रभावों के अतिरिक्त कवि को शब्दों के संघटन पर भी ध्यान देना पड़ता है। कविता में एक हृदय के भाव को दूसरे के हृदय के पास तक पहुँचाना पड़ता है। अतः कवि इसका ध्यान रखता है कि वह ऐसे शब्दों का प्रयोग करे जो सरल, सुबोध एवं सर्वजन बोधगम्य हो। अतः अप्रचलित एवं क्लिष्ट शब्दों से उस कविता को बचाना पड़ता है। कविता का उद्देश्य केवल रमणीय भावों को जाग्रत करना ही नहीं

अपितु पाठकों के हृदय को अपनी ओर आकर्षित करना भी है। काव्य के श्रवण मात्र से उसका भाव हमारे हृदय में उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है जिस प्रकार शुष्केन्धन में अग्नि के लगते ही सर्वत्र अग्नि का प्रसार हो जाता है। इस कार्य के लिए अर्थात् भाव के प्रसार के लिए कवि को प्रसाद शैली का अवलम्बन लेना पढ़ता है। ऐसी कविता में प्रसाद गुण का प्रयोग होता है। प्रसाद गुण के द्वारा ही कवि श्रोताओं एवं पाठकों के हृदय को अभिभूत कर लेता है। कविताओं की इन विविध आवश्यकताओं के आधार पर ही तीन गुणों का विभाजन किया गया है।

गुणों के भेद

गुण के प्रधान तीन प्रकार माने गये हैं– माधुर्य, ओज एवं प्रसाद। माधुर्य—जिस काव्य की रचना से अन्तःकरण आनन्द से द्रवीभूत हो जाये उसे माधुर्य गुण की संज्ञा दी जाती है।

"आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृंगारे द्रुति कारणम्" ।[81]

अन्तःकरण के द्रवीभूत होने से यही तात्पर्य है चित्त का पिघल जाना। प्रेम या करुण प्रसंगों को सुनकर मनुष्य का चित्त द्रवित हो जाता है। अतः शीघ्र ही चित्त के द्रवीभूत होने के कारण इसे माधुर्य गुण कहते हैं। माधुर्य गुण में मधुरता व्यंजक शब्दों का प्रयोग होता है। इसमें टवर्ग, लम्बे-लम्बे समास एवं कठोर वर्णों का अभाव रहता है। मधुर वर्ण, सानुनासिक वर्ण अर्थात् वर्ग के पंचम अक्षर ङ, ञ, ण, न, म छोटे-छोटे समास एवं कोमल वर्णों का प्रयोग माधुर्य गुण में होता है। यह श्रृंगार करण एवं शान्त रसों का गुण है —

करुणे, विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।
मूर्ध्निवर्गान्त्यगास्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू
अवृत्तिर्मध्य वृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा।[19]

सारांश यह है कि जिसके कारण चित्त द्रुत हो जाता है, आर्द्र प्राय हो जाता है, पिघल सा जाता है, उस आह्लाद विशेष का नाम माधुर्य है। क्योंकि करुण विप्रलम्भ एवं शान्त रसों में माधुर्य द्वारा चित्त क्रमशः अधिकाधिक द्रवीभूत हो जाता है अतः माधुर्य गुण का इन रसों में सन्निवेश माना जाता है।

उदाहरण के रूप में यह पद प्रस्तुत किया जा सकता है—

अनङ्गरङ्ग प्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापर चिन्तनानि।

स्तनों के भार से संनतांगी उस नायिका के, कामदेव की रंगस्थली के समान उस अलौकिक शरीर को हावभावमयी चेष्टाओं से इस प्रकार अधीन कर लिया है, जिससे वे भंगियाँ युवकों के चित्तों को सहसा ही अन्य विषयों की चिन्ता से रहित अर्थात् केवल उसी के चिन्तन में तत्पर कर देती है। यहां शृंगार रस का वर्णन है। मधुर एवं कोमल पदों के प्राचुर्य से यहां माधुर्य गुण का सुन्दर समन्वय हुआ है। विश्वनाथ ने मम्मट के द्वारा निर्दिष्ट माधुर्य गुण के लक्षण पर आक्षेप किया कि माधुर्य को द्रुति का कारण कहना उचित नहीं क्योंकि द्रुति यदि किसी का कार्य हो तभी उसका कोई कारण हो सकता है किन्तु द्रुति तो स्वयं रस रूप आह्लाद से अभिन्न है अतएव जैसे रस कार्य नहीं उसी प्रकार द्रुति भी कार्य नहीं हो सकती और जब द्रुति कार्य नहीं तो उसका कारण कैसे हो सकती है। किन्तु विश्वनाथ का यह आक्षेप निराधार है। क्योंकि द्रुति और माधुर्य अभिन्न नहीं है। द्रुति सामाजिकों के अनुभव सिद्ध सुकुमार चित्त की एक प्रकार की अवस्था है और यह शृंगार आदि मधुर रसों के आस्वाद से, मन के काठिन्य आदि के हट जाने पर उत्पन्न होती है। माधुर्य द्रुति का प्रयोजक है। इसके अतिरिक्त जगन्नाथ ने भी माधुर्य को द्रुति का प्रयोजक माना है—

"द्रुत्यादि चित्तवृत्ति प्रयोजकत्वम्.........माधुर्यादिकमस्तु।"[20]

यही नहीं स्वयं विश्वनाथ ने भी रस आदि से अनुगत आनन्द के उद्बोध को द्रुति का कारण कहा है।[21] अर्थात् उन्होंने द्रुति को कार्य रूप बताया है।

ओज गुण

जिस काव्य की रचना के श्रवण करने से चित्त का विस्तार एवं मन में तेज उत्पन्न होता है, वह ओज गुण है। ओज गुण से युक्त रचना के आस्वादन से चित्त में दीप्ति एवं आवेग उत्पन्न होते हैं। इसका प्रयोग वीर, बीभत्स एवं रौद्र रस में होता है। इसमें द्वित्व वर्ण, संयुक्त वर्ण, रेफ, कठोर वर्ण लम्बे-लम्बे समास तथा टवर्ग का प्रयोग होता है—

दीप्त्यात्म विस्मृते र्हेतुरोजो वीररस स्थितिः।[22]

बीभत्सरौद्र रसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।[23]

हनुमन्नाटक से यहां इसका उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्ण शक्रेभकुम्भाः

युष्मद्देहेषु लज्जां-दधति परममी सायका निष्पतन्तः।

सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः

किंचिद् भ्रूभङ्ग लीला नियमित जलधि राममन्वेषयामि ।

सारांश यह है कि अरे क्षुद्रो। ठहरो, मत डरो, ऐरावत के गण्ड मण्डल का भेदन करने वाले मेरे बाण तुम्हारे शरीर पर गिरने में लज्जा का अनुभव करते हैं। हे लक्ष्मण। तुम भी हट जाओ तुम मेरे क्रोध के पात्र नहीं हो। मैं मेघनाद हूँ, मैं तो तनिक सी टेढी भौंहें करने मात्र से समुद्र को वश में करने वाले राम का अन्वेषण कर रहा हूँ। यहां वीर रस का वर्णन है। कठोर वर्णों एवं लम्बे समास वाले शब्दों का प्रयोग होने से इस में ओज गुण है।

प्रसाद

सूखे ईधन में अग्नि की तरह चित्त में तत्क्षण व्याप्त हो जाने वाले गुण को प्रसाद कहते हैं। प्रसाद गुण का व्यवहार सभी रसों एवं सभी रचनाओं में होता है। इसमें ऐसे सरल शब्द व्यवहृत होते हैं, जिनके श्रवण करते ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है—

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छ जलवत् सहसैव यः ।

व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहित स्थितिः ।[24]

अर्थात् सूखे काष्ठ में अग्नि के समान अथवा धुले हुए वस्त्र में स्वच्छ जल के समान जो सहसा चित्त में व्याप्त हो जाय वह सभी रसों एव सभी रचनाओं में रहने वाला प्रसाद गुण कहलाता है। विश्वनाथ ने भी मम्मट के मत का ही अनुमोदन किया है।[25]

कादम्बरी गुणों की खनि है। ओज गुण की बहुलता के होते हुए भी इसमें माधुर्य एवं प्रसाद की किसी प्रकार न्यूनता नहीं। ओज गुण को तो गद्य का जीवन ही कहा गया है—

"ओजः समास भूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम् ।"

तथापि पद पद पर माधुर्य एवं यथावसर प्रसाद गुण का अनुपम सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है।

चण्डाल कन्या के वर्णन में बाणभट्ट ने माधुर्य गुण का समुचित सन्निवेश किया है—

"अङ्ग वारण शिरो नक्षत्र मालायमानेन रोमराजिलतालबालकेन मेखलादाम्ना परिगत जघनाम्, अतिस्थूल मुक्ता फलघटितेन शुचिना हारेण गंगास्रोतसेव कालिन्दीशङ्कया कृत कण्ठग्रहाम्, शरदमिव

विकसित पुण्डरीक लोचनाम्, आलेख्यगतामिव दर्शनमात्रफलाम्, मधुमास कुसुम समृद्धिमिव अजातिम्, अनंग कुसुम चापलेखामिव मुष्टिग्राह्यमध्याम् यक्षाधिपलक्ष्मीमिवालकोद्भासिनीम् अचिरोपरूढ-यौवनाम् अतिशय रूपाकृतिमनिमिषलोचनो ददर्श ।"[26]

अर्थात् काम देव रुपी गज के मस्तक की नक्षत्र माला के समान रोमावली रूपी लता के आलवाल की तरह शोभायमान मेखला दाम से आभूषित जघन वाली उस नायिका की कामदेव की रगंस्थली की तरह प्रतीयमान अलौकिक लावण्य प्रभा अत्यन्त मोहमयी है। राजा शूद्रक उसके लावण्य की छटा को अपलक नेत्रों से देख रहा है। प्रस्तुत अवतरण से चण्डाल कन्या के अभिनव यौवन और अतशय रूपाकृति के शृंगार रसमय प्रवाह में राजा तन्मय होकर उसे देखने लगता है। मधुर एवं कोमल पदों के प्राचुर्य से यहां माधुर्य गुण अपने आमोद का प्रसार कर रहा है।

इसी प्रकार पुण्डरीक के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए महाश्वेता के इन शब्दों में माधुर्य की स्रोतस्विनी सी बहती हुई दृष्टिगोचर होती है—

[27]**"अहो। रूपातिशयनिष्पादनोपकरणकोशस्य अक्षीणता विधातुः यत्त्रिभुवनाद्भुत रूपसम्भारं भगवन्तं कुसुमायुधमुत्पाद्य तदाकारातिशय रूपराशिः अयमपरो मुनिमायामयो मकरकेतुः उत्पादितः। मन्ये च सकल जगन्नयनानन्दकरं शशिविम्बं विरचयता लक्ष्मीलीलावास-भवनानि कमलानि सृजता प्रजापतिना एतदाननाकारकरण कौशला-भ्यास एव कृतः, अन्यथा किमिव हि सदृश वस्तु विरचनायाः कारणम् ।"**

अर्थात् विधाता के असाधारण सौन्दर्य निर्माण के उपकरणों की कमी अल्पता नहीं होती क्योंकि उसने त्रिलोकी में आश्चर्य जनक रूपराशि विशिष्ट भगवान् काम को उत्पन्न करके भी उससे बढ़कर यह दूसरा कामदेव बनाया। ऐसा लगता है कि ब्रह्मा ने समस्त जगत् के नयनों को आनन्द देने वाले चन्द्र मण्डल को एवं लक्ष्मी के लीलागृह कमलों को उत्पन्न करके इस कुमार की मुखाकृति के निर्माण करने में दक्ष होने के लिए पहले अभ्यास किया था अन्यथा एक प्रकार की अनेक वस्तुओं के निर्माण का प्रयोजन ही क्या हो सकता है।

प्रस्तुत उदाहरण में शृंगार रसमय कोमल एवं मधुर शब्दों का विन्यास है अतः यह माधुर्य गुण का सुन्दर एवं मनोरम रूप प्रस्तुत करता है। महाश्वेता के यौवनागम के सन्दर्भ में भी—

"क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नव पल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पदम् ।"[28]

उसके अनन्तर क्रमशः वसन्त काल में मधुमास के समान, मधुमास में नव किसलय के समान, नव पल्लव में पुष्प के समान, पुष्प में मधुकर के समान तथा मधुकर में मद के समान नवयौवन ने महाश्वेता के अंगों में प्रवेश किया ।

प्रस्तुत वाक्य में माधुर्य गुण की अनुपम छवि दर्शनीय है । सरस एवं सरल वर्णों का प्रयोग होने से तथा समासों की अल्पता से यहां माधुर्य गुण का क्षेत्र है ।

ओज

कादम्बरी ओज गुण का तो भाण्डागार है । ओजो गुण का जितना सुन्दर समन्वय यहां उल्लसित होता है वह अपूर्व एवं अनुपम है । संस्कृत साहित्य के कवियों में बाण भट्ट की विशेषता इसी के रसानुगुण समुचित विन्यास में है ।

चन्द्रापीड के आखेट वर्णन-प्रसंग में ओजो गुण का चमत्कार दर्शनीय है—

"प्रभातायाञ्च निशीथिन्यां समुत्थाय समभ्यनुज्ञातः पित्रा अभिनव मृगया कौतुकाकृष्यमाणहृदयो भगवत्यनुदित इव सहस्ररश्मावारुह्येन्द्रायुधम्, अग्रतो बालेव प्रमाणानाकर्षद्भिः चामीकर शृंखलाभिः कोलेयकान्, जरद्व्याघ्र चर्मशवल वसन कंचुक धारिभिरनेक वर्ण पट्ट चीरिकोद्बद्ध मौलिभिरुपचित श्मश्रु गहन मुखैरेक कर्णावसक्त हेमतालीपुटैराबद्ध निविड कक्षैरनवरत श्रमोपचितोरुपिण्डकैः कोदण्डपाणिभिः श्वपोषकैरनवरत कृत कोलाहलैः प्रधावद्भिर्द्विगुणोक्रियमाण गमनोत्साहो बहुगजतुरग पदाति परिवृतो वनं ययौ ।"[29]

प्रस्तुत अवतरण में द्वित्व वर्ण, संयुक्त वर्ण, रेफ, कठोर वर्ण, टवर्ग, तथा लम्बे-लम्बे दीर्घकाय समासों की सुन्दर एवं मनोहारिणी सज्जा की गयी है । टवर्ग का बहुल प्रयोग, द्वित्व वर्ण तथा समास की कठिनता से यह वर्णन अत्यन्त प्रसंगानुकूल अत एव रमणीय है और ओजोगुण की सरस मन्दाकिनी अनायास ही सहृदयों के समक्ष यथार्थ दृश्य को उपस्थित कर देती है ।

चण्डाल पक्करण के वर्णन में भी बारण भट्ट को ओजस्विता दृष्टिपथ में अवतरित होती है—

"नीयमानश्च तथा तेन तन्मोचनप्रत्याशयैवाग्रतो दत्तदृष्टिराविष्टैरिव बीभत्स विन्यासै व्यावृत्तैश्चावर्तकानायपरिभ्रमणानिभृतैश्च मृगाव पाटित जीर्णवागुरा संग्रथन व्यग्रैश्चोत्त्रुटितं कूटपाशसंग्रथनायस्तैश्च हस्तस्थित सकाण्ड कोदण्डैश्च प्रासचण्ड पाणिभिश्च सेलग्राहिभिश्च नाना विध ग्राहक विहंगवाचालन कुशलैः कौलेयक मुक्ति संचारण चतुरैश्चण्डाल शिशुभिर्वृन्दशो दिशिदिशि मृगयां क्रीडद्भिः दूरत एवावेद्य मानम् इतस्ततो विस्रगन्धि धूमोद्गमानुमीयमान सान्द्रवंश वनान्तरित वेश्म संनिवेशम् सर्वत्र करकप्राय वृत्तिवाटम्, अस्थिप्राय रथ्यावकर कूटम् उत्कृत्त मांसमेदो वसासृक् कर्दमप्राय कुटीराजिरम् आखेटक प्रायाजीवम्, पिशित प्रायमशनम्, वसाप्रायस्नेहम् कोशेयप्राय परिधानं, चर्मप्रायास्तरणम्, अव्यवस्थित गम्यागम्याङ्गनोपभोगम्, अपुण्यकर्मैकापणं पक्वणमपश्यम्," ।[30]

नरक वासियों के हृदयों को उद्विग्न करने वाले बीभत्स दृश्य को देख कर सहृदयों का सरस चित्त उद्वेलित हो उठता है।

प्रस्तुत वर्णन में द्वित्ववर्ण, दीर्घ समास, रेफ, कठोर वर्ण तथा टवर्ग का प्रचुर प्रयोग हुआ है। बीभत्स वर्णन में ओज गुण का सुन्दर सामंजस्य स्वीकार किया जाता है।

अतः यहां ओजोगुण का मनोरम स्थल है, जो सहृदय के सरस मानस को आवर्जित किये बिना नहीं रहना। ओजो गुण के अनेक उदाहरण अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं। स्थानाभाव के कारण कतिपय का ही उल्लेख यहां पर्याप्त है।

प्रसाद

दीर्घ समास वहुला इस कादम्बरी में भी स्थान-स्थान पर प्रसाद गुण के शोभन उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। ये वर्णन बिना आयास के ही सर्व सामान्य जन के लिए बोध गम्य हो जाते हैं।

पुण्डरीक के कामावेश को लक्षित कर कपिंजल के द्वारा दिये गये उपदेश में प्रसाद गुण युक्त शैली का आश्रय लिया गया है—

"धैर्यधना हि साधवः। किं यः कश्चित् प्राकृत इव विक्लवीभवन्त-

मात्मानं न रुणत्सि। कुतस्तव अपूर्वोऽयं अद्य इन्द्रियोपप्लवः। येनासि एवं कृतः। क्व ते तद्धैर्यम्। क्वासाविन्द्रियजयः, क्व तद्वशित्वं चेतसः, क्व सा प्रशान्तिः, क्व तत् कुल क्रमागतं ब्रह्मचर्यम्, क्व सा सर्व विषय निरुत्सुकता, क्व ते गुरूपदेशाः, क्व तानि श्रुतानि, क्व ताः वैराग्य बुद्धयः, क्व तदुपभोग विद्वेषित्वम् क्व सा दुःख पराङ्मुखता, क्वासौ तपस्यभिनिवेशः, क्व सा संयमिता, क्व सा भोगानामुपरि अरुचिः क्व तद्यौवनानुशासनम्।"[31]

प्रस्तुत अवतरण में नितान्त सरल शब्दों का व्यवहार किया गया है जिनके श्रवण करते ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है। अतः यहां प्रसाद गुण है। इसका प्रयोग सभी रसो में हो सकता है। सभी रचनाओं में इनकी अवस्थिति हो सकती है।

इसी प्रकार का वर्णन चन्द्रापीड के मृत शरीर को देखकर विलावसवती के विलाप के प्रसंग में द्रष्टव्य है—

"एहि तात, दुर्लभक चिराद् दृष्टोऽसि। देहि मे प्रतिवचनम्, आलोकय सकृदपि माम्, अनुचितं जातं तवैतदवस्थानम्, उत्थाय अङ्कोपगमनेन मे सम्पादय तनयोचितं स्नेहम्, न चानाकर्णितपूर्वं बाल्येऽपि त्वया मद्वचनम् अद्य किमेवं विलपन्त्या अपि न शृणोषि, जात केन रोषितोऽसि! एषा तोषयामि वत्स! पादयोर्निपत्य। पुत्र चन्द्रापीड! प्रणम तावत् प्रत्युद्गम्य त्वत्स्नेहादेवातिदूरमागतस्यापि पितुः पादौ! क्व सा गता ते गुरु भक्तिः, क्व ते गुणाः, क्व स स्नेहः, क्व सा धर्मज्ञता, क्व तत् पितृपक्षपातित्वम्, क्व सा बन्धु प्रीतिः, क्व सा परिजन वत्सलता, कथमभाग्यैर्मे सर्वमेकपद एव उत्सृज्यैवमौदासीन्यमवलम्ब्यावस्थितोऽसि अथवा यथा ते सुखं तथा तिष्ठ, वयमुदासीन हृदयास्त्वयि इति कृतातंप्रलापा समुपसृत्य पुनः पुनर्गाढमालिङ्ग्याङ्गानि शिरः समाघ्राय कपोलौ चुम्बित्वा चन्द्रापीडस्य चरणावुत्तमाङ्गे कृत्वोन्मुक्तकण्ठमरोदीत्।"[32]

कितना सरल एवं सरस आर्त प्रलाप है। प्रस्तुत अवतरण में करुण रस का सुन्दर परिपाक है। प्रसाद गुण का विन्यास करुण रस में हुआ है यह सर्वत्र–स्थिति माना गया है। सहृदय पाठक समास बहुला कादम्बरी की भाषा

का अध्ययन करते-करते इस प्रकार के सरल एवं बोध गम्य वर्णनों के द्वारा अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्य शैली को समृद्ध करने में गुणों की उपयोगिता निहित है। रसानुकूल प्रयोग के द्वारा ये काव्य की शोभा की अभिवृद्धि करने वाले हैं। कादम्बरी में भी रसानुकूल गुणों के प्रयोग होने से अपूर्व लावण्य की सृष्टि हुई है। सहृदय पाठक का अन्तःकरण काव्य का श्रवण करते ही द्रवीभूत होने लगता है, प्रेम या करुण प्रसंगों को सुनकर मनुष्य का चित अकस्मात् आर्द्र हो जाता है तभी वह उस भाव भूमि पर आसीन होता है और उसका चित्त आनन्द से आप्लावित होने लगता है।

कादम्बरी इस प्रकार के सरस एवं गुण युक्त प्रसंगों से ओत प्रोत है। कवि की यह विलक्षण प्रतिभा एवं अद्भुत कल्पना शक्ति से अनुस्यू यह काव्य कितना रसमय एव आवर्जक है। यह केवल अनुभव गम्य है, वर्णन की सीमा में उसे आबद्ध किया जाना सम्भव नहीं।

सन्दर्भ

1. अग्नि पुराण–346/1
2. काव्यालंकार सूत्र 3/1/2
3. सरस्वती कण्ठाभरण 1/59
4. नाट्य शास्त्र 16/91
5. नाट्य शास्त्र 16/95
6. नाट्य शास्त्र 17/95
7. नाट्य शास्त्र
8. काव्यालंकार 2,1,2,3
9. काव्यादर्श 2 1,3
10. काव्यादर्श 1/41/42
11. काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति 3,1,4
12. ध्वन्यालोक 2/6
13. काव्य प्रकाश 8/66
14. काव्य प्रकाश–विश्वेश्वर पृ० 378

15. काव्यालंकार सूत्र 3/1/2
16. काव्यालंकार सूत्र 3/1/3
17. काव्य प्रकाश 8/67
18. काव्य प्रकाश 8/68
19. काव्य प्रकाश 8/69 व 74
20. रस गंगाधर पृ० 55
21. साहित्य दर्पण 8/2 वृत्ति
22. काव्य प्रकाश–8/65
23. काव्य प्रकाश–8/70
24. काव्य प्रकाश–8/70-71
25. साहित्य दर्पण 8/8
26. कादम्बरी पृ० 32-34
27. कादम्बरी पृ० 423-24
28. कादम्बरी पृ० 414
29. कादम्बरी पृ० 302
30. कादम्बरी पृ० 198-200 (उत्तरार्द्ध)
31. कादम्बरी पृ० 438
32. कादम्बरी पृ० 178-79 (उत्तरार्द्ध)

———

कादम्बरी और दोष

षष्ठ परिच्छेद

प्राचीन काव्य शास्त्र के मनीषियों ने काव्य के हृदयावर्जक एवं प्रभाव पूर्ण होने के लिए उसका निर्दोष होना आवश्यक माना है। काव्य-तत्त्व की मीमांसा करते हुए साहित्य के आचार्यो ने उसकी निर्दोषता पर अधिक बल दिया है। प्राय: सभी आचार्यों ने दोष की हेयता प्रदर्शित करने में अपना मतैक्य प्रगट किया है।

दोष–विवेचन का इतिहास आचार्य भरत से ही प्रारम्भ हो जाता है तथा काव्य प्रकाश तक आते-आते उसमें वैज्ञानिकता का समावेश हो जाता है। दोष के सम्बन्ध में विचारकों के दो दल दृष्टिगोचर होते हैं– एक तो वे हैं जो नितान्त निदुंष्ट रचना को ही काव्यत्व प्रदान करने के पक्ष में हैं तथा दूसरा वर्ग है उन आचार्यों का है जो अपेक्षाकृत उदार विचार वाले हैं। प्रथम वर्ग में भामह, दण्डी, रुद्रट, केशव मिश्र एवं वाग्भट परिगणित होते हैं तथा दूसरे वर्ग में हैं– भरत एवं विश्वनाथ।

भरत ने नाटकों के विवेचन में दोष पर विचार करते हुए कहा है कि संसार में कोई भी वस्तु दोष-रहित नहीं अतः विद्वानों को इस पर अधिक विचार नहीं करना चाहिये—

न च किञ्चद् गुणहीनं दोषैः परिवर्जितं न वा किञ्चित्।

तस्मान्नाट्य प्रकृतौ दोषाः नात्यर्थतो ग्राह्याः।[1]

भामह ने अधिक गहनता से विचार करते हुए प्रतिपादित किया कि काव्य में एक भी दोष युक्त शब्द का समावेश नहीं होना चाहिये। दोष युक्त काव्य कुपुत्र की तरह निन्दनीय होता है। कविता नहीं लिखना न तो कोई अधर्म है, और न व्याधिकारक एवं दण्डदायक परन्तु कुत्सित काव्य या सदोष काव्य की रचना करना तो साक्षात् मृत्यु है—

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्षणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ।
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृत्युमाहुर्मनीषिणः ।[2]

दण्डी भामह से भी कुछ आगे बढ कर हैं । उनका कथन है कि दोष-रहित एवं गुण तथा अलंकार से युक्त काव्य कामधेनु की तरह है किन्तु दाष युक्त काव्य कवि या प्रयोग कर्ता की मूर्खता का परिचायक होता है । जिस प्रकार सुन्दर शरीर पर श्वेत कुष्ठ का दाग उसे असुन्दर एव गर्हा के योग्य वना देता है उसी प्रकार दोषों के कारण काव्य भी दूषित हो जाता है—

गौर्गौः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुं नैव शंसति ।
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कदाचन
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।[3]

आचार्य रुद्रट के अनुसार अलंकार-शून्य काव्य निर्दोष होने पर भी मध्यम श्रेणी का गिना जाता है ।

वाक्यं भवति तु दुष्टं संकीर्णं गर्भितं गतार्थं च
यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यम् ।[4]

इसी प्रकार केशव मिश्र एवं वाग्भट ने भी दोष युक्त काव्य को क्रमशः हेय तथा विषवत् त्याज्य स्वीकार किया है ।

दोष का स्वरूप

दोष का स्वरूप विवेचन करते समय दो प्रकार की सरणियां दृष्टि-गोचर होती हैं । ध्वनि वादी आचार्यों ने रस के अपकर्षक तत्त्वों को ही दोष माना तो पूर्ववर्ती आचार्यों का दोष-विवेचन गुण के साथ ही सम्बद्ध रहा । भरत ने गुण का वर्णन करते समय दोष का लक्षण प्रस्तुत किया तथा उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि गुण दोषों के विपर्यय हैं—

एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः ।[5]

दण्डी ने गुण को काव्य की सम्पत्ति एवं दोषों को काव्य की विपत्ति के रूप में अङ्गीकार किया है । उनकी दृष्टि में गुण के समावेश से काव्य के सौन्दर्य में उत्कर्ष होता है तथा दोष के कारण उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है ।

वामन ने भरत के विपरीत दोष को गुण का विपर्यास माना है-गुण विपर्यासात्मानो दोषाः ।[6]

अग्नि पुराण में दोष को काव्यास्वाद का उद्वेगजनक तत्त्व माना है। सारांश में वह तत्त्व, जो काव्यानन्द में उद्वेगजनक सिद्ध हो, उसे दोष कहा गया है ।[7]

आनन्द वर्धन ने रस के आधार पर दोषों के स्वरूप का निरूपण करते हुए संस्कृत काव्य शास्त्र के इतिहास में नवीन धारा को अग्रसर किया । उन्होंने नित्य और अनित्य के भेद से दोषों को दो प्रकार से निरूपित किया । नित्य दोष रसापकर्ष के हेतु होते हैं तथा अनित्य दोष श्रुति कटुत्व आदि—

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।[8]

आनन्द वर्धन की मान्यताओं से प्रभावित होकर मम्मट ने दोषों को परिभाषित करते हुए प्रतिपादित किया कि जिससे मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो, उसे दोष कहते हैं । काव्य में मुख्य अर्थ तो रस ही होता है अतः जो रस के अपकर्षक हो उन्हें दोष कहा गया है—

मुख्यार्थ हति र्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ।[9]

अर्थात् कवि का अभिप्रेत अर्थ ही मुख्यार्थ होता है, कवि जिस अभिप्राय से कुछ कहना चाहता है, उसे मुख्यार्थ कहते हैं । इस मुख्य अर्थ में यदि किसी कारण वश बाधा उपस्थित हो, तो उसे दोष की सज्ञा दी जाती है। काव्य में मुख्य अर्थ रस ही होता है । परन्तु कदाचित् उसका आश्रित वाच्य अर्थ भी मुख्य होता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि रसहीन काव्य में भी दोष की सत्ता रह सकती है। रस के कारण ही काव्य में काव्यत्व अथवा सौन्दर्य की प्रतिष्ठा होती है। यदि रस में किसी प्रकार से बाधा उपस्थित हो गयी तो वहां दोष आ जायगा । नीरस काव्य में भी वाक्य अथवा अर्थ में बाधा पहुँचने के कारण दोष आ जाता है । नीरस काव्य में मुख्यार्थ की प्रतीति में बाधा उपस्थित होने पर अथवा अर्थ-प्रतीति में विलम्ब होने से ही दोष आ जाता है। इसी प्रकार रस तथा वाच्य अर्थ इन दोनों के उपयोग में आने वाले शब्दों में भी दोष आ जाते हैं ।

इस प्रकार आचार्य मम्मट के अनुसार दोष तीन प्रकार के हुए- शब्द दोष, अर्थ दोष एवं रस दोष । शब्द दोष के तीन विभाग हैं—पद दोष, पदांश दोष एवं वाक्य दोष ।

काव्य में रस की प्रधानता होने से रस दोष मुख्य होता है। रस की प्रतीति अर्थ के द्वारा होती है तथा अर्थ का ज्ञान शब्द पर निर्भर है अतः शब्द तथा अर्थ दोष रस दोष से गौण हैं। शब्द भी पद तथा वाक्य के रूप में उपस्थित होकर अर्थ को प्रस्तुत करते हैं। पद के किसी अंश में दोष हो सकता है अतः उसे पदांश दोष कहते हैं। इस प्रकार दोष के पांच प्रकार हुए— (1) पद दोष (2) पदांश दोष (3) वाक्य दोष (4) अर्थ दोष (5) रस दोष।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दोष की स्थिति तीन प्रकार से हो सकती है—

(1) काव्य के आस्वाद के रुक जाने से।

(2) काव्य की उत्कृष्टता को नष्ट करने वाली किसी वस्तु के बीच में आ जाने से।

(3) काव्य के आस्वाद में विलम्ब करने वाले कारणों की स्थिति हो जाने से।

मम्मट द्वारा प्रतिपादित दोष की परिभाषा अत्यन्त व्यापक एवं युक्तियुक्त है। परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने इसका अनुसरण किया है। विश्वनाथ का दोष-लक्षण मम्मट से पूर्ण प्रभावित है। उन्होंने रस के अपकर्ष को दोष कहा है—

रसापकर्षका दोषास्ते पुनः पञ्चधा स्मृता ।[10]

पदे तदंशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत् ।

विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है अतः उनकी दृष्टि में रस के अपकर्ष करने वाले तत्त्वों से बढ कर कोई दोष नहीं है।

रस के अपकर्षकारक तत्त्वों में साक्षात् एवं परम्परया रस के अपकर्ष का स्वभाव मानना युक्तियुक्त ही है।[11] साक्षात् रस के अपकर्ष की ये तीन सम्भावनाएं हैं—

(1) रस की प्रतीति का अभाव

(2) रस की विलम्ब से प्रतीति

(3) रस-प्रतीति में चमत्कार की मात्रा की न्यूनता

इस दृष्टि से काव्य के परम हेय तत्त्व रस दोष ही सिद्ध होते हैं। रस दोष की उत्पत्ति कवि की असमर्थता से सम्बद्ध है। कवि की अव्युत्पन्नता भी काव्य के अपकर्ष का कारण है। इस अव्युत्पन्नता से उन दोषों का सम्बन्ध है, जो परम्परया रस के अपकर्ष कारक तत्त्व हुआ करते हैं। जिस प्रकार

मानव के शरीर में काणत्व, खञ्जत्व आदि दोष होते हैं उस प्रकार काव्य के शब्दार्थ रूप शरीर में श्रुतिकटुत्व, अपुष्टार्थत्व आदि दोष हुआ करते हैं एवं मानव के मूर्खत्व, अलसत्व आदि के समान काव्य में वे दोष है जिन्हें रस दोष की संज्ञा दी जाती है।

प्रस्तुत विवेचन का यही तात्पर्य है कि दोष सर्वथा हेय एवं विषवत् त्याज्य हैं। ये काव्य की असफलता के कारण हैं अतः काव्य रचना के समय कवि को इन पर विचार करना चाहिये।

ध्वनिकार ने अनौचित्य को रस-भंग का मूल कारण स्वीकार किया है। रसों को आनन्दानुभूति में प्रधान साधन माना गया है अतः रस निष्पत्ति में किसी प्रकार का व्यतिक्रम होना या व्यवधान पड़ जाना सहृदय के लिए उद्वेग का कारण बन जाता है। रसानुभूति ही आनन्दानुभूति की चरम सीमा मानी गयी है। अतः वह काव्यानन्द की वास्तविक अनुभूति से वंचित रह जाता है। रस के आस्वाद में अवरोध या विघात का आ जाना काव्य के समस्त सौन्दर्य का विघातक हो जाता है।

यद्यपि विश्वनाथ ने दोष-विवेचन करते समय यह कहा कि संसार की ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो दोष रहित हो, तथापि उनकी इस मान्यता को सामान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। दोष किसी भी रूप में रहे हों तिरस्करणीय एवं हेय हैं ही। दोष-शून्य काव्य ही सहृदय हृदया-वर्जक होता है। औचित्यपूर्ण काव्य ही श्रेष्ठ होता है अतः उसमें अनौचित्य का सर्वथा परिहार होना चाहिये।

दोषों के भेद

काव्य में रस के प्राधान्य होने से रस दोषों को प्रामुख्य दिया जाता है। रस की प्रतीति अर्थ के द्वारा होती है और अर्थ का ज्ञान शब्द पर निर्भर करता है। अतः शब्द तथा अर्थ दोष रस दोष से गौण माने गये हैं। शब्द भी पद तथा वाक्य के रूप में उपस्थित होकर अर्थ का उपकार करते हैं। पद के किसी अंश में दोष की सत्ता हो सकती है अतः उसे पदांश दोष कहा जा सकता है। इस प्रकार दोष के पांच प्रकार हो सकते हैं– पद दोष, पदांश दोष, वाक्य दोष, अर्थ दोष एवं रस दोष।

मम्मट ने दोषों की सख्या सत्तर स्वीकार की है।

(1) शब्द दोष—37
(2) अर्थ दोष—23
(3) रस दोष—10

शब्द दोष

वाक्यार्थ के बोध होने में सर्व प्रथम जो दोष उपस्थित होते हैं, उन्हें शब्द दोष कहते हैं। मम्मट ने इनका विवरण प्रस्तुत किया है।[12]

इनमें प्रथम तेरह पदगत एवं समास गत हैं। क्लिष्टत्व आदि अवशिष्ट तीन समास गत ही हैं। अश्लीलत्व दोष तीन प्रकार का होता है।

वाक्य दोष

मम्मट ने वाक्य दोषों की संख्या इक्कीस मानी है।[13]

रस दोष

रसास्वाद के बाधक तत्त्वों को रस दोष कहा जाता है। रस की महत्ता आस्वाद में निहित है। यदि रसास्वाद में किसी प्रकार का अवरोध या व्याघात या त्रुटि आकर उपस्थित हो जाती है तो वहां स्थिति उद्वेग कारक हो जाती है। रसास्वाद की सफलता विभाव आदि पर अवलम्बित है। रस वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। यह विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के द्वारा व्यञ्जित होता है। रस-दोष का सर्व प्रथम वैज्ञानिक विवेचन आनन्द वर्धन ने किया है। मम्मट ने ध्वन्यालोक का अनुसरण करते हुए रस-दोषों का सविस्तर वर्णन किया है। इनका विश्लेषण ध्वनि वादियों द्वारा निरूपित रस सिद्धान्त के आधार पर है। विश्वनाथ ने भी मम्मट का अनुसरण करते हुए रस-दोषों का निरूपण किया है। मम्मट ने रस-दोषों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।[14]

आचार्य मम्मट का दोष निरूपण ध्वन्यालोक से प्रभावित है।

विश्वनाथ ने मम्मट द्वारा वर्णित प्रायः सभी रस दोषों का उल्लेख करते हुए भी उनमें एक और भेद की वृद्धि की है और वह है अनौचित्य दोष—

अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगतामताः।[15]

विरोधी रसों का एक साथ वर्णन करने में भी दोष की सत्ता हो जाती है। जिस प्रकार करुण, रौद्र, बीभत्स, वीर, भयानक एवं शान्त रस का शृंगार के साथ विरोध है। हास्य के विरोधी हैं भयानक एवं करुण। हास्य और शृंगार करुण के विरोधी है। हास्य, भयानक एवं शृंगार का रौद्र रस से विरोध है। भयानक रस के विरोधी हैं–हास्य, शृंगार, वीर, रौद्र एवं शान्त। शान्त रस का विरोध है शृंगार, हास्य, रौद्र, भयानक एव वीर रसों से। शृंगार रस बीभत्स का विरोधी है तथा वीर रस के विरोधी हैं–भयानक एवं शान्त रस।

रस विरोध परिहार

रसों का परस्पर विरोध तीन कारणों से होता है—

(1) किन्हीं दो रसों के एक आलम्बन का होना। यथा वीर अथवा शृंगार रस के एक ही आलम्बन का होना। इस प्रकार दो रसों के एक आलम्बन होने से रस में विरोध आ जाता है।

(2) दो रसों में आश्रय का एक होना भी रस-विरोध का हेतु होता है।[15] जैसे–वीर एवं भयानक रसों के एक आश्रय का होना।

(3) रसों का नैरन्तर्येण वर्णन होना। जैसे-शान्त एवं शृंगार का निरन्तरता से वर्णन होना। इन विरोधों का परिहार इस प्रकार हो सकता है—

आलम्बन एवं आश्रय की एकता के कारण विरोध होने पर उन विरोधी रसों का वर्णन आलम्बन अथवा आश्रय के भेद से करने पर विरोध का परिहार हो जाता है। जहां कालिक या नैरन्तर्य के कारण विरोध हो वहां उसका परिहार व्यवधान से वर्णन करने से हो जाता है। आचार्य मम्मट ने इसका वर्णन करते हुए कहा है—

आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः।[16]

अर्थात् जो रस आश्रय के ऐक्य में विरोधी है, उसे भिन्न आश्रय में वर्णित करने से उसका विरोध-परिहार हो जाता है और जो नैरन्तर्य से विरोधी रस है उसको दूसरे अविरोधी रस से व्यवहित कर देना चाहिये।

मम्मट की यह मान्यता ध्वनि कार से प्रभावित है। ध्वनि कार का इस विषय में यह कथन है—

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि।
निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता।[17]

मम्मट की दृष्टि में वीर तथा भयानक रस का एक आश्रय में विरोध होने पर भयानक रस का वर्णन प्रतिनायक के सम्बन्ध से करने पर उसका परिहार हो जाता है। इसी प्रकार नैरन्तर्य के कारण विरोध होने पर अर्थात् शृंगार और शान्त रस में नैरन्तर्य के कारण विरोध होने पर दोनों के बीच में अन्य रस का समावेश कर देना चाहिये। उदाहरण के लिए जैसे शान्त रस प्रधान नागानन्द नाटक में जीमूत वाहन एवं मलयवती के शृंगारात्मक वार्तालाप करने के पूर्व अद्भुत रस का समावेश करने से रसों के विरोध का परिहार हो जाता है। मम्मट ने रस-विरोध के परिहार के तीन अन्य साधन भी प्रस्तुत किये हैं।[18]

(1) विरोधी रस का स्मर्यमाणरूप में वर्णन

(2) प्रस्तुत रस के साथ किसी रस का साम्य भाव से वर्णन

(3) एक रस का दूसरे रस का अङ्गी बन जाना

(1) यदि प्रधान रस के साथ किसी विरोधी रस का स्मृति रूप में समावेश किया जाय तो वहां रस-विरोध दूर हो जाता है ।

जैसे—महाभारत के युद्ध में भूरिश्रवा के कट कर गिरे हुए हाथ को देख कर उसकी पत्नी का यह कहकर विलाप करना कि यही वह कर है जो करधनी को खींचता था, पीन स्तनों का मर्दन करता था तथा नाभि, ऊरू एवं जंघाओं का स्पर्श किया करता था—

अयं स रशनोत्कर्षी पीन स्तन विमर्दनः ।

नाभ्यूरू जघनस्पर्शी नीविविस्रंसनः करः ।[19]

यहां पूर्व अवस्थावर्ति श्रृंगार रस का करुण रस के विरुद्ध स्मरण रूप में वर्णन हुआ है अतः इसके द्वारा करुण रस की पुष्टि होती है ।

(2) रस का साम्य भाव से विवक्षित होना – दो रसों में समानता पूर्वक वर्णन करने से भी रस-विरोध का निराकरण हो जाता है । उदाहरण के लिए सद्यः जात अपने बच्चे को खाने के लिए उद्यत भूखी सिंहिनी को अपना शरीर देने वाले बुद्ध के प्रति कहीं गयी उक्ति में श्रृंगार एवं दया वीर-परस्पर विरोधी रसों को साम्य भाव से प्रदर्शित किया गया है—

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे ।
दन्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ।[20]

सार यह है कि बुद्ध के सघन एवं रोमाञ्च युक्त शरीर पर रक्त-पिपासु सिंहिनी के द्वारा किये गये दन्त क्षतों तथा नखक्षतों को मुनियों ने उत्कण्ठा पूर्वक देखा । कामिनी द्वारा कृत नखक्षतों एवं दन्तक्षतों द्वारा जिस प्रकार श्रृंगार रस की प्रतीति होती है उसी प्रकार इस श्लोक में सिंहिनी के द्वारा किये गये दन्तक्षतों एवं नखक्षतों से दया वीर रस का बोध होता है । यहां श्रृंगार एवं दया वीर रस की व्यञ्जना के समान रूप से होने के कारण रस विरोध निराकृत हो गया है ।

(3) प्रधान भूत तृतीय रस के अङ्गभूत रसों में अविरोध होना-इसमें विरोधी रसों में कोई प्रधान न होकर दोनों ही किसी तृतीय रस के अङ्ग बनते हैं ।

कादम्बरी में दोष

सरस एवं प्रौढ़ गद्य -काव्य होते हुए भी कादम्बरी में कुछ दोष आ गये है । यद्यपि उनकी संख्या बहुत ही न्यून है और इसीलिए कतिपय दोषों के विद्यमान रहने पर भी कादम्बरी में किसी प्रकार की न्यूनता का आभास नहीं होता । इतने विशाल एवं विस्तृत गद्य महासागर में कतिपय दोष इसी प्रकार है जैसे कि चन्द्रमा में कलंक । वैसे दोष तो काव्य सौन्दर्य के अपकर्षक होते ही है परन्तु इस काव्य में कवि ने जो अपनी प्रतिभा की विलक्षणता, कल्पना की उत्कृष्टता, भाषा की प्रौढता एवं प्राञ्जलता तथा भावों की उदात्तता का समावेश किया है वह अद्भुत है और उसी के चाकचक्य में समस्त दोष तिरोहित हो जाते हैं । एक समीक्षक के नाते उनका अपने यथार्थ स्वरूप में प्रस्तुतीकरण आवश्यक एवं नितान्त अपेक्षित है ।

च्युत संस्कृति

मम्मट के अनुसार च्युत संस्कृति दोष वहां होता है जहां व्याकरण के विरुद्ध शब्दों का प्रयोग हो । च्युत संस्कृति का अर्थ है-संस्कार अर्थात् व्याकरण के लक्षण से च्युत होना अर्थात् व्याकरण के नियमों का यथावत् नहीं पालन करना ।

कादम्बरी के कुसुम मंजरी-प्राप्ति के वर्णन में यह दोष आ गया है–

"मम तु तत्करतलस्पर्शलोभेन तत्क्षणमपरमिव पारिजात कुसुमावतंस स्थाने पुलकमासीत्" ।[22]

प्रस्तुत वाक्य में रोमांच के अर्थ में 'पुलकम्' नपुसंकान्त प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। यह शब्द पुंल्लिङ्ग में ही प्रयुक्त होना चाहिये था। अतः यहां च्युत संस्कृति दोष है ।

अप्रयुक्त

व्याकरण कोष आदि के द्वारा सिद्ध होने पर भी ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय जो काव्य में अप्रचलित हों तो उस स्थिति में अप्रयुक्तता दोष माना जाता है–

"अप्रयुक्तं तथाम्नातमपि कविभिर्नादृतम्" ।[23]

कादम्बरी के वर्णन में अप्रयुक्तता दोष आ गया है—

"पृथिवीमिव समुत्सारित महाकुल भूभृद्वर व्यतिकर शेष भोग निषण्णाम्" ।[24]

अर्थात् वह उच्चकुल के राजाओं के साथ विवाह करना अस्वीकार कर पतिसंसर्ग सुख के अतिरिक्त अन्यान्य सुखभोगों पर अवस्थित थी।

प्रस्तुत वाक्यांश में समुत्सारित शब्द का प्राप्ति के अर्थ में प्रयोग सिद्ध है तथापि उस अर्थ में उसके प्रयाग का अभाव है अतः यहां अप्रयुक्तता दोष की सत्ता मानी जा सकती है परन्तु काव्य शास्त्र के आचार्यो के अनुसार श्लेष आदि में यह दोष प्रसक्त नहीं होता। आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि में श्लेष आदि में अप्रयुक्तता दोष नहीं होता—

स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तते।[25]

इस प्रकार दर्पणकार के आधार पर यह श्लेष आदि में दोष नहीं रहता। यहां 'समुत्सारित' के श्लेष अलंकार के आधार पर दो अर्थ हैं। पृथिवी के पक्ष में समुत्सारित का अर्थ है दूरी कृत और पक्षान्तर में इससे अभिप्रेत है— 'स्वसमीपं प्रापितः'' ।

अतः यहां इस दोष का परिहार हो जाता है।

अनुचितार्थ

जब किसी शब्द का प्रयोग करने से अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार हो तो वहां अनुचितार्थ दोष होता है।

कादम्बरी के पुण्डरीक के द्वारा प्रदत्त कुसुम मंजरी के वर्णन में इस दोष का अस्तित्व माना जा सकता है—

''मम तु तत्करतल स्पर्शलोभेन तत्क्षणमपरमिव पारिजात कुसुमावतंस स्थाने हृदयम् आसीत्''।[26]

प्रस्तुत वाक्य में 'पुलकम्' के स्थान पर कहीं 'हृदयम्' पाठ भी उपलब्ध होता है, जो सम्भवतः च्युत संस्कृति दोष को दूरीकृत करने के लिए किया गया है। किन्तु 'हृदयम्' का प्रयोग करने से वहां साम्य के न होने से अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार हो जाता है अतः अनुचितार्थ का वह क्षेत्र बन जाता है।

अवाचक

जिस अभीष्ट अर्थ के लिए किसी शब्द का प्रयोग हो किन्तु उससे वह अर्थ प्रतीत न होता हो तो वहां अवाचक दोष होता है।

कादम्बरी के चन्द्रोदय वर्णन में अवाचक दोष स्पष्टतः परिलक्षित होता है—

"ततो मया गुरुचन गौरवेण सखी प्रेम्णा च क्षीरोदेन सार्द्धं सा तरलिका–'सखि। कादम्बरी! किं दुःखितमपि जनमतितरां दुःखयसि। जीवन्तीमिच्छसि चेन्मां तत् कुरु गुरुवचनमवितथम्' इति सन्दिश्य विर्सजिता"।[27]

अर्थात् यदि मुझे जीवित देखने की अभिलाषा है तो माता पिता के वचन को सत्य करो।

प्रस्तुत वाक्य में 'तत्' के स्थान में 'तदा' पाठ होना चाहिये। यहां तत् का प्रयोग अपने अभीष्ट अर्थ के बोधन में समर्थ नहीं है। अतः यहां 'अवाचकत्व' दोष है—

इसी प्रकार चन्द्रापीड के प्रति महाश्वेता के आलाप के प्रसंग में भी यह दोष आ गया है—

"महाश्वेता तु तच्छ्रुत्वा सुचिरं विचार्य 'गच्छ, स्वयमेवाहमागत्य यथार्हमाचरिष्यामीत्युक्त्वा केयूरकं प्राहिणोत्"।[28]

प्रस्तुत वाक्य में गमनार्थ में आङ् पूर्वक गम् धातु का प्रयोग हुआ है। आगम शब्द का प्रयोग आने के अर्थ में होता है अतः जाने के अर्थ में आगत्य का प्रयोग अवाचक है अतः अवाचकत्व दोष के निवारण करने के लिए 'गत्वा' शब्द का प्रयोग उपयुक्त होगा।

न्यून पद

अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए वाचक पद के प्रयोग न होने को न्यूनपदत्व दोष के नाम से अभिहित करते हैं। पदों की न्यूनता से वह अर्थ स्पष्ट रूप से निकल नहीं पाता।

कादम्बरी वर्णना के प्रसंग में कतिपय विद्वानों ने इस दोष की सत्ता की आशंका की है—

"अभिनवयौवनपवनक्षोभितस्य रागसागरस्य तरङ्गाभ्यामिवोद्गताभ्यां विद्रुमलता लोहिताभ्यामधराभ्यां रक्तावदात स्वच्छकान्तिना मदिरारस पूर्णमाणिक्यशुक्तिसम्पुटच्छविना कपोलयुगलेन…………… लोचनमयमिव जीवलोकं कर्तुमुद्यताम्"।[29]

अर्थात् उसके प्रवाल के समान ओष्ठ युगल नवयौवन रूप वायु वेग से उद्वेलित अनुरागसागर में उठती हुई तरगों के समान दृष्टिगोचर होते थे।

प्रस्तुत वाक्य में (तरंगाभ्याम्) के साथ 'रक्त' विशेषण के न उपादान करने से यहां न्यून पदत्व की आशंका की जाती है परन्तु कवि समय के अनुसार क्रोध और राग को रक्त वर्ण का माना गया है और यहां अनुराग सागर के रक्त होने से उसमें उठने वाली तरंगों का भी रक्त होना माना जा सकता है अतः यहां न्यून पदत्व दोष का अवसर नहीं।

अधिक पद

काव्य में आवश्यकता से अधिक पद का प्रयोग करने पर अधिक पदत्व दोष माना जाता है। किसी वाक्य में किसी पद के न होने पर भी अर्थ का स्पष्ट रूप से बोध हो जाता है तथा उसकी काव्य में कोई आवश्यकता नहीं होती तो वहां अधिक पदत्व दोष कहा जाता है।

रक्त ध्वज के वर्णन में अधिक पदत्व दोष दृष्टिगोचर होता है—

'जिह्वालता लोहिनीभिः रक्त पताकाभिः, केशकलापकान्तिना च कृष्ण चामरावचूलेन प्रत्यग्रविशसितानां जीवानामिवावयवैरुपचित दण्डमण्डनम्'।[30]

अर्थात् उक्त ध्वज के ऊपर लता के समान लम्बमान जिह्वा के समान रक्तवर्ण रक्त पताकाएं और कलाप के समान सौन्दर्य सम्पन्न तथा अधोमुख चामरों से ऐसा पतीत होता था कि मानो सद्यः निहत प्राणियों के अवयवों के ही अलंकारों से उसे सुसज्जित किया गया हो। प्रस्तुत वाक्य में 'लोहिनीभिः रक्तपताकाभिः' में लोहिनी का अर्थ भी रक्त है अतः रक्त पताकाभिः में रक्त पद का अधिक प्रयोग किया गया है अतः यह अधिक पदत्व दोष का क्षेत्र है।

गर्भितता

जहां एक वाक्य के अन्दर दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो जाय तो उसे गर्भितता दोष की संज्ञा दी जाती है। आचार्य मम्मट के अनुसार एक वाक्य के मध्य में जहां दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो जाय, उसे गर्भितता दोष कहा गया है।[31]

कादम्बरी के चिन्ता वर्णन–प्रसंग में कतिपय विद्वान् गर्भितता दोष की शंका करते हैं—

"सर्वथा हतास्मि मन्दपुण्या, मरणं मेऽद्य श्रेयो न लज्जाकरं जीवितम्। श्रुत्वेतं वृत्तान्तं किं वक्ष्यति अम्बा तातो वा गन्धर्व लोको वा। किं करोमि, कोऽत्र प्रतीकारः, केनोपायेन स्खलितमिदं प्रच्छादयामि, कस्य वा चापलमिदमेतेषां दुर्विनीतानामिन्द्रियाणां कथयामि, क्व वानेन दग्धहृदयेन पञ्चबाणेन न खलु जानामि गृहीता गच्छामि"।[32]

प्रस्तुत वाक्य में 'न खलु जानामि'–इस का वाक्य दूसरे वाक्य में प्रवेश होने से गर्भितता दोष की आशंका की जाती है परन्तु दर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार किसी विच्छित्ति विशेष के प्रतिपादन से गर्भितत्व कहीं गुण भी हो जाता है[33] अतः यहां उसे दोष न मानकर गुण ही मानना समीचीन होगा।

संकीर्णता

जब एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में आ जाते हैं तो वहां संकीर्णता पदत्व दोष कहा जाता है। मम्मट एवं विश्वनाथ दोनों ने ही इसका विश्लेषण किया है। मम्मट के अनुसार अन्य वाक्य के पद का अन्य वाक्य में प्रवेश पा जाना ही संकीर्णता पद दोष है।[34]

विश्वनाथ के अनुसार दूसरे वाक्य के पदों का दूसरे वाक्य के पदों में अनुप्रवेश ही संकीर्णता दोष है—

"वाक्यान्तर पदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः संकीर्णत्वम्"।[35]

कादम्बरी के प्रत्युत्तर वर्णन में संकीर्णता पद दोष का अवसर है–

"त्वत्प्रेम्णाचास्मिन् वस्तुनि मया कुमारिकाजनविरुद्धं स्वातन्त्र्यमालम्ब्याङ्गीकृतमयशः, समवधीरितो विनयः, गुरुवचनमतिक्रान्तम्, न गणितो लोकापवादः, वनिताजनस्य सहजमाभरणमुत्सृष्टा लज्जा सा कथय कथमिव पुनरत्र प्रवर्तते।"[36]

प्रस्तुत वाक्य में 'कथय' पद दूसरे वाक्य में अनुप्रविष्ट हो गया है अतः यहां इस दोष के निवारण के लिए 'कथय' पद का पृथक् पाठ करना अपेक्षित है।

भग्न प्रक्रम

जहां आरम्भ किये हुए प्रस्ताव में जिस क्रम रीति से जो बात कही जाय उसका क्रम उसी रीति से न चलकर अन्त से पूर्व ही अर्थात् मध्य में टूट जाय उसे भग्न प्रक्रमत्व दोष के नाम से अभिहित किया जाता है। आचार्य मम्मट के अनुसार प्रकरण का भंग हो जाना ही भग्न प्रक्रम दोष है–भग्न प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र।[37]

कथा मुखान्तर्गत शूद्रक के विलास–वर्णन में भग्न प्रक्रमता दोष आ गया है–

"ताभिश्च समुन्नत कुचकुम्भमण्डलाभिर्वारिमध्य प्रविष्टः करिणीभिरिव वनकरी परिवृतस्तत् क्षणं रराज राजा ।"[38]

प्रस्तुत वाक्य "उस काल में वह उस प्रकार शोभित हुआ जिस प्रकार वन करी करिणियों के साथ स्नान करता हुआ शोभित होता है" में काल भेद होने पर भी उपमागत भग्न प्रक्रमता दोष स्पष्ट हो जाता है ।

इसी प्रकार निम्न वाक्य में भी भग्न प्रक्रमता दोष है–

"द्रोणी सलिलादुत्थाय च स्नानपीठममलस्फटिकधवल वरुण इव राजहंसमारुरोह ।"[39]

प्रस्तुत उदाहरण में 'वरुणो यथा राजहंसमारोहति तथैवायमप्यारुरोह' ऐसा अर्थ करने पर काल भेद होने पर भी यहां उपमागत भग्न प्रक्रमता दोष का अवसर है ।

अपुष्टत्व

जहां ऐसे पद का प्रयोग हो, जिसके नहीं रहने पर भी अर्थ को क्षति न पहुँचे वहां अपुष्टत्व दोष होता है । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार किसी पद के मुख्य अर्थ के अनुपकारी होने पर अपुष्टत्व दोष होता है ।[40]

महाश्वेता के आतिथ्यांगीकार के प्रसग में आयी हुई ये पंक्तियां इस दोष को स्पष्ट कर देती है—

"अतिदूरपातिनीनाञ्च धवलशिलातलप्रतिघातोत्पतन फेनिलानामपां प्रस्रवणैरुत्कोटिग्राववविटङ्क विपाट्यमानै-रुच्चरद् ध्वनिभिरवशीर्यमाण तुषार शिशिर शीकरासारै-राबध्यमान नीहाराम् ।"[40]

प्रस्तुत अवतरण में 'धवल शिलातल' में धवल पद का प्रयोग हुआ है परन्तु इसके नहीं रहने पर भी अर्थ को कोई क्षति नहीं पहुँच सकती अतः यहाँ 'अपुष्टत्व' दोष के निराकरण के लिए धवल पद का परित्याग करना ही समीचीन है इसके अतिरिक्त यदि धवल का अर्थ श्वेत किया जाय तो भी इस दोष का निराकरण हो सकता है ।

इसी प्रकार पुण्डरीक विषयक चिन्ता-वर्णन में भी यह दोष स्पष्टतया भासमान हो रहा है —

"गतायाञ्च तस्यामस्तमुपगते भगवति हारीतहरित वाजिनि सरोजिनी जीवितेश्वरे चक्रवाकसुहृदि सवितरि ।"[42]

प्रस्तुत वाक्य में भगवान् सविता के जो तीन विशेषण–हारीत हरित

वाजिनि सरोजिनी जीवितेश्वरे तथा चक्रवाकसुहृदि, प्रयुक्त किये गये हैं वे प्रस्तुत अर्थ को किसी प्रकार भी उपकृत नहीं करते अतएव हेय हो हैं अन्यथा अपुष्टत्व दोष वज्रलेप के समान निश्चित है।

पुनरुक्तता

जहां एक ही शब्द और अर्थ की बार बार आवृत्ति हो वहां पुनरुक्तता दोष होता है।

महाश्वेता वर्णन में पुनरुक्ति दोष का रूप परिलक्षित होता है–

"निरन्तर भस्मोल्लुण्ठन सिताङ्गीं रतिमिव मदनदेहनिमित्तं हरप्रसादनार्थमागृहीत हराराधनाम्।"[43]

प्रस्तुत वाक्य में 'हर' पद की आवृत्ति हुई है अर्थात् दो बार उपादान किया गया है अतः पुनरुक्तता दोष का यह स्थान है। इस दोष का परिहार 'आगृहीत तदाराधनाम्' के पाठ परिवर्तन से किया जा सकता है।

इसी प्रकार पुण्डरीक वर्णन में भी यह दोष है–

"अतितेजस्वितया प्रचलत्तडिल्लतापंजरमध्यगतमिव ग्रीष्म दिवस दिवसकरमण्डलोदरप्रविष्टमिव ज्वलन ज्वालाकलाप-मध्यस्थितमिव विभाव्यमानम्।"[44]

प्रस्तुत उद्धरण में 'दिवस दिवसकर' में दिवस पद को दो बार कहा गया है अतः आवृत्ति होने से पुनरुक्ति दोष यहां दृष्टिगोचर होता है। ग्रीष्म दिवस के स्थानपर ग्रीष्म समय रूप पाठपरिवर्तन से पुनरुक्ति दोष का परिहार यहां हो सकता है।

अनवीकृत

जहां अनेक अर्थों का एक ही प्रकार से कथन किया जाय और उसमें कोई नवीनता या विलक्षणता न रहे तो वहां अनवीकृत दोष होता है।

तरलिका के आगमन के प्रसंग–वर्णन में इस वाक्य में अनवीकृत दोष स्फुट है—

"कर्णान्तायतस्य स्वभावधवलस्य धवलिम्ना लोचनयुगलस्य धवलतया इव दिगन्तराणि कुमुदवनानीव वर्षता पुण्डरीक-मयमिव दिवसं कुर्वता।"[45]

प्रस्तुत अवतरण में धवल पद का बार-बार अभिधान किया गया है तथा इससे कोई विलक्षणता की सृष्टि भी नहीं होती अतः यहां 'अनवीकृत दोष'

होता है। परन्तु 'स्वभाव धवलस्य लोचन युगलस्य कान्त्या दिगन्तराणि लिम्पता इव'–पाठ के परिवर्तन से अनवीकृत दोष का परिहार हो सकता है।

चन्द्रापीड के आखेट वर्णन में भी इस दोष की शंका की जाती है —

"प्रजवि तुरंगमाधिरूढैरल्पावशिष्टैः सह राजपुत्रैः एवं मृगपतिः, एवं वराहः, एवं महिषः, एवं शरभः एवं हरिणः, इति तमेव मृगयावृत्तान्तमुच्चारयन् स्वभवनमाजगाम।"[46]

प्रस्तुत अवतरण में 'एवं' पद का एक ही प्रकार से कथन किया गया है तथा किसी विलक्षणता के अभाव में इसमें अनवीकृत दोष का अवसर है तथापि प्रकृत वाक्य में वैचित्र्य विशेष द्योतित होता है अतः रस का अपकर्षक न होने से यहां एवं पद दोष युक्त नहीं।

श्रुति कटु

कानों को कठोर लगने वाली रचना में श्रुति कटुत्व दोष की स्थिति मानी गयी है—

"श्रुति कटु परुष वर्णरूपं दुष्टम्"।[47]

आचार्य विश्वनाथ ने इसे दुःश्रवत्व दोष भी कहा है। जो अक्षर कठोर होने के कारण कानों को बुरे प्रतीत हों वहां-वहां विश्वनाथ ने दुःश्रवत्व या श्रुति कटुत्व दोष को अंगी।है[48]

कादम्बरी के कुसुम मंजरी की प्राप्ति के वृतान्त के वर्णन में दुः-श्रत्व दोष की झलक दृष्टिपथ में आती है–

"तदेतत् कात्स्र्नेन योऽयं यस्य चायं, याचेयम यथा चास्य श्रवणशिखरं समारूढा तत्सर्वमावेदितम्।"[49]

प्रस्तुत वाक्य में 'कात्स्र्नेन शब्द कानों को कठोर प्रतीत होता है अतः यहां दुःश्रवत्व अथवा श्रुतिकटु दोष होता है। यहां कात्स्र्नेन के स्थान में साकल्येन का प्रयोग करने से इस दोष का परिहार हो जाता है।

विद्या विरुद्ध

शास्त्र के विरुद्ध वर्णन करने में विद्या विरुद्ध दोष कहा जाता है। शास्त्र के अनुसार एक परम्परा प्रचलित रहती है। जब कोई वर्णन शास्त्रोक्त विधि के विरुद्ध किया जाता है तो उसमें विद्या-विरुद्ध दोष होता है।

कादम्बरी के वर्णन में कतिपय विद्वान् विद्या-विरुद्ध दोष की कल्पना करते हैं—

"रत्न कुण्डल प्रतिबिम्ब सान्द्रदत्त नवनखपद मण्डलाशंकया चामरग्राहिणीं विहस्य कपोले प्रसाद व्याजेन दत्तेन आत्म कर्णपूर पल्लवेनाच्छादयन्तीम् ।"[50]

मणिमय कुण्डल का प्रतिबिम्ब चामरग्राहिणी के कपोल पर पड़ने से वहां नायक दत्त गोलाकार अर्धनख चिह्न जान कर अनुग्रह के बहाने दिया गया कर्णपल्लव रख कर उसे आच्छादित करती हुई।

प्रस्तुत वाक्यांश में कपोल देश पर नखक्षत का वर्णन किया गया है जो शास्त्र संमत नहीं है अतः कतिपय विद्वानों की दृष्टि में यहां विद्या विरुद्धत्व दोष बनता है। साहित्य दर्पण कार के अनुसार "अधरे करजक्षते मृगाक्ष्याः"[51] अर्थात् सुन्दरी के अधर पर करज-क्षत होना चाहिये। परन्तु काम शास्त्र के अनुसार कपोल देश पर भी नखक्षत का वर्णन किया जा सकता है—

"वक्षस्थले च कर्णान्ते कपोले बाहुमूलके।
ग्रीवायां कण्ठदेशे च नखधातं समाचरेत्।"

अतः यहां यह दोष नहीं है।

अविमृष्ट विधेयांश

जब विधेय अर्थ अर्थात् अभीष्ट अर्थ के अंश की प्रधानता पर विचार न किया जाय तो वहां अविमृष्ट विधेयांश दोष कहा जाता है।[52] अर्थात् पद में जिस पदार्थ का प्रधान रूप से वर्णन होना चाहिये उसको समास के द्वारा अथवा अन्य प्रकार से गौण कर देना अविमृष्ट विधेयांश दोष होता है। मम्मट के अनुसार विधेय रूप पद के अप्रधान होने से यह दोष होता है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विधेय अर्थ का प्रधान रूप से विमर्श न किया जाना अविमृष्ट-विधेयांश दोष है।[53]

कादम्बरी के चन्द्रापीडोपहार वर्णन में अविमृष्टविधेयांश दोष का अवसर है—

"अप्रतिपाद्या हि परस्वता सज्जनविभवानाम्।"[54]

अर्थात् सज्जनों की सम्पत्ति में स्वभावतः दूसरों का अधिकार होता है अतः वर्णन आदि द्वारा उसे सम्पन्न नहीं करना चाहिये किन्तु परोपकार रूप फल से वह स्वतः सिद्ध है। इससे कादम्बरी की धन सम्पत्ति में आपका भी स्वत्व है और दान का फल केवल सौहार्द प्रकटन मात्र है—यह बात ध्वनित होती है।

प्रस्तुत वाक्य में 'अप्रतिपाद्या' पद में नञर्थ का प्राधान्येन उपादान

उचित है अन्यथा समास करने पर नञार्थ के गौण हो जाने से यहां अविमृष्ट विधेयांश दोष बनता है ।

इसी प्रकार कादम्बरी वार्ता श्रवण-वर्णन में भी यह दोष लक्षित होता है—

"न च तद्भूतमेतावति त्रिभुवने अस्य शरशरव्यतां यन्न यातं याति यास्यति वा ।"[55]

अर्थात् इस विशाल त्रिभुवन में कोई ऐसा प्राणी ही नहीं जो काम देव के बाण का लक्ष्य हुआ ही नहीं है, या होता ही नहीं है या होगा ही नहीं ।

प्रस्तुत वाक्य में यत् और तत् शब्दों का प्रयोग हुआ है वैसे 'यत् पद का प्रयोग पहले होना चाहिये तदनन्तर 'तत्' शब्द का प्रयोग होना चाहिये । अतः यहां वाक्य-गत अविमृष्ट विधेयांश दोष बनता है । इस दोष का निराकरण यत् शब्द के पूर्वपाठ से अर्थात् तत् शब्द के पहले यत् का प्रयोग करने से हो सकता है ।

रस दोष

बाण भट्ट की कृति में रस दोषों का प्रायः अभाव ही है । तथापि कहीं-कहीं दोष की स्थिति काव्य में रसापकर्षक हो जाती है ।

रस, स्थायि भाव अथवा व्यभिचारि भाव का स्व शब्द से कथन 'स्वशब्द वाच्यता' दोष कहलाता है । आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ ने रस दोषों का पर्याप्त विवेचन किया है ।

स्वशब्द वाच्यता

जहां रस, स्थायिभाव या संचारि भावों का उनके वाचक शब्दों से कथन किया जाता है, वह स्वशब्द वाच्यता दोष के अंतर्गत आता है । रस व्यंग्य होता है । उसका आस्वाद केवल व्यञ्जना शक्ति के द्वारा सम्भव होता है । अभिधा के द्वारा रस की अभिव्यक्ति नहीं होती । अतः रस के नाम ग्रहण मात्र से ही दोष की स्थिति बन जाती है ।

महाश्वेता के अभिसार के वर्णन-प्रसंग में यह दोष दृष्टिगोचर होता है—

"चन्द्रोदयानन्दनिर्भरे महोदधाविव रतिरसमय इव, उत्सवमय इव, विलासमय इव, प्रीतिमय इव जीवलोके । अत्र स्थायिभावस्य रसस्य च रतिरसेत्यनेनाभिधानात् दोषः सभापतति ।[56]"

प्रस्तुत वाक्यांश में रतिरस शब्द से स्थायि भाव और रस का अभिधान होने से शृंगार रस का 'रतिरस' द्वारा अर्थात् अपने वाचक शब्द द्वारा कथन हुआ है, यह 'स्वशब्द वाच्यता' दोष का क्षेत्र है। इस वाक्य में 'रतिरसमय इव' के स्थान पर "औत्सुक्यमय इव" पाठ परिवर्तन से इस दोष का निराकरण हो जाता है।

कादम्बरी काव्यान्तर्गत सन्ध्या के वर्णन में अलंकार दोष परिलक्षित होता है। उपमान की प्रसिद्धता और उपमेय की न्यूनता सर्वथा सिद्ध कविसत्य है।

उपमान उपमेय से सदैव अधिक गुणवाला होता है। परन्तु इसके विरुद्ध कथन करने पर दोष की सत्ता मानी जाती है। कादम्बरी का यह प्रसंग द्रष्टव्य है—

"उद्यत् सप्तर्षिसार्थस्पर्शपरिजिहीर्षयेव संहृतपादः पारावत पादपाटलरागो रविरम्बरतलादलम्बत।"[57]

प्रस्तुत वाक्य में जगद्वन्द्य सूर्य की प्रभा में पारावत चरण के साम्य की कल्पना करने से उपमा का अनौचित्य प्रतीत होता है तथापि संध्याकाल में अस्त होते हुए तेजोविरहित रक्तता के साम्य से सूर्य की प्रभा की अतिशय मन्दता का ध्वनन होता है अतः यहां उपमा का अनौचित्य नहीं रहता।

पाश्चात्य विद्वान् वेबर ने बाण की शैली के दोषों को प्रदर्शित कर उसे दण्डी की तुलना में अरुचिकर एवं अति सूक्ष्मता तथा पुनरुक्तता शब्दों पर विशेषणों का भार लादने का तथा ऐसे शब्दों की रचना का दोषी ठहराया है। उनका कहना है कि क्रिया के दर्शन अनेक पृष्ठों के अनन्तर होते हैं और बीच में विशेषणों का और उन विशेषणों के भी विशेषणों का समावेश किया गया है। ऐसी स्थिति में बाण का गद्य एक भारतीय जंगल है जिसमें यात्री तब तक आगे नहीं बढ़ सकता जब तक वह झाड़ियों को काटकर अपने लिए मार्ग नहीं बना लेता और जहाँ इसके बाद भी उसे भयानक अज्ञात शब्दों के रूप में दुष्ट जंगली पशुओं का सामना करना पड़ता है।[58]

पाश्चात्य विद्वानों के इस आक्षेप पर विचार करने से पूर्व बाण कालीन मान्यताओं पर विचार करना आवश्यक होगा। महाकवि बाण के समय अलंकृत गद्य शैली समादृत थी। 'ओजः समास भूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्' उस समय गद्य का प्राण था। समास बहुलता बाण कालीन गद्य शैली की विशेषता थी।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों को बाण की शैली के हृदयंगम करने में भले ही कठिनाई होती हो पर जिस भाषा में बाण ने रचना की है उसके

पण्डितों ने उनकी शैली की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। अतः यह आक्षेप निर्मूल एवं निराधार है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बाण भट्ट रचित कादम्बरी में कतिपय दोषों का समावेश हो गया है। दोष तो दोष ही हैं और वे रस के अपकर्षक तो होते ही हैं। परन्तु कादम्बरी की विशालता तथा उत्कृष्टता में वे नगण्य हैं। उन दोषों का बहुत सरलता से निवारण किया जा सकता है। वे दोष इस प्रकार के नहीं है जिनसे काव्य के सौन्दर्य में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित हो। काव्य में रसमयता का प्रवाह इस प्रकार नैरन्तर्येण प्रबाहित होता हुआ गतिशील होता है कि दोष की ओर ध्यान ही नहीं जाता।

अनेक गुणों के समूह में कतिपय दोष भी चन्द्रमा के किरणों में अंक के समान नगण्य हैं। चन्द्रमा के गुणों के समान कादम्बरी के गुणों पर ही दृष्टि जाती है दोष तो उनमें तिरोहित हो जाते हैं।

सन्दर्भ

1. नाट्य शास्त्र 17/47
2. काव्यालंकार 1/11-12
3. काव्यादर्श 1/6-7
4. काव्यालंकार 6/40
5. नाट्य शास्त्र 17/95
6. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 2/1,1
7. उद्वेग जनको दोषः। अग्निपुराण
8. ध्वन्यालोक 2/11
9. काव्य प्रकाश 7/49
10. साहित्य दर्पण 7/1
11. साहित्य दर्पण की टीका —डा० सत्यव्रत सिंह पृ० 559 (भाग 2)
12. काव्य प्रकाश 7/50-51
13. काव्य प्रकाश 7/53-54

14. काव्य प्रकाश 7/62
15. साहित्य दर्पण 7/15
16. काव्य प्रकाश 7/64
17. ध्वन्यालोक 3/27
18. स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्।

—काव्य प्रकाश-7/65

19. काव्य प्रकाश श्लोक-116
20. काव्य प्रकाश-श्लोक 339
21. काव्य प्रकाश-7/50
22. कादम्बरी पृ० 436
23. काव्य प्रकाश 7/50 की वृत्ति
24. कादम्बरी पृ० 546
25. साहित्य दर्पण 7/17
26. कादम्बरी पृ० 436
27. कादम्बरी-पृ० 517
28. कादम्बरी-पृ० 524
29. कादम्बरी पृ० 542
30. कादम्बरी पृ० 635-36
31. काव्य प्रकाश-7/54
32. कादम्बरी पृ०567
33. गर्भितत्वं गुणः क्वापि। साहित्य दर्पण 7/28
34. काव्य प्रकाश-7/54
35. साहित्य दर्पण-7/8
36. कादम्बरी-पृ० 524
37. काव्य प्रकाश-7/8
38. कादम्बरी पृ० 46
39. कादम्बरी पृ० 46
40. साहित्य दर्पण-7/9
41. कादम्बरी पृ० 404
42. कादम्बरी पृ० 471-72
43. कादम्बरी पृ० 391
44. कादम्बरी पृ० 419

45. कादम्बरी पृ० 520
46. कादम्बरी पृ० 304
47. काव्य प्रकाश–6/50 की वृत्ति
48. साहित्य दर्पण–7/2 की वृत्ति
49. कादम्बरी पृ० 435-36
50. कादम्बरी पृ० 546
51. साहित्य दर्पण–13 वां दोष
52. काव्य प्रकाश–7/51
53. साहित्य दर्पण–7/3
54. कादम्बरी–पृ० 581
55. कादम्बरी पृ० 665
56. कादम्बरी पृ० 479
57. कादम्बरी पृ० 147
58. बेवर का निबन्ध

———

कादम्बरी में अलंकार–विवेचन

सप्तम–परिच्छेद

काव्य मानव की अन्तरात्मा को तृप्ति प्रदान करने वाला तत्त्व है। इस तृप्ति का कारण काव्यगत सौन्दर्य कहा जाता है। काव्य के इस सौन्दर्य की सिसृक्षा हेतु काव्यकार सतत प्रयत्नशील रहता है। काव्य गत सौन्दर्य के महत्त्व शाली उपकरणों के रूप में अलंकार, गुण, रीति आदि को मनीषियों ने स्वीकृत किया है। इन में काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने अलंकार को विशेष रूप से सौन्दर्य वर्द्धक तत्त्व अङ्गीकार किया है। आचार्य वामन[1] ने काव्य में अलंकार की अवस्थिति होने से उसको ग्राह्य अर्थात् उपादेय माना है।

काव्य-शास्त्र के इतिहास के पर्यालोचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि विद्वानों की दृष्टि अलंकारों के विवेचन की ओर प्रारम्भ से ही रही है। इतना ही नहीं प्रत्युत एक दीर्घ अवधि तक अलंकार को काव्य सर्वस्व के रूप में स्वीकार किया गया। काव्यांगों में अलंकार विवेचन की प्रधानता के कारण ही सम्भवतः बहुत समय तक काव्य-शास्त्र को अलंकार शास्त्र के नाम से अभिहित किया गया।

अलंकार के शास्त्रीय वस्तु-रूप जानने के लिए अलंकार के स्वरूप एवं लक्षण निर्देश की जिज्ञासा का होना सहज सम्भाव्य है। इसके साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि अलंकार को कला की संज्ञा से अभिहित किया जाय अथवा शास्त्र की अभिधा से। वस्तुतः अलंकार अपने प्रयोग पक्ष में कला है और उस अलंकार कला के विवेचन पक्ष में वह शास्त्र का अभिधान ग्रहण करता है।

अलंकार की परिभाषा

काव्य-शास्त्र में अलंकार की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उसके स्वरूप का कथन किया गया है। परन्तु इसके साथ ही अधिकांश परिभाषाओं में काव्य में अलंकार के स्थान - निर्धारण के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। इसके

अतिरिक्त अलंकार के क्षेत्र का भी इस प्रसंग में आचार्यों ने विचार किया है। अतः उसके समन्वित विवेचन में अलंकार के स्वरूप एवं लक्षण का अध्ययन यहां अभीष्ट है।

आचार्य भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्य शास्त्र में चार अलंकारों का निरूपण किया परन्तु उन्होंने स्वतंत्र रूप से अलंकार की कोई परिभाषा नहीं दी। वे नाटक की दृष्टि से विवेचना कर रहे थे अतएव सम्भवतः उन्हें परिभाषा देना अभिमत भी नहीं था।

भरत के अनन्तर भामह ने अलंकारों को काव्य में आवश्यक माना और स्पष्टतः अलंकार की महनीयता का समर्थन करते हुए वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों की बीज रूपा अथवा मूलवर्तिनी सिद्ध किया। भामह ने शब्द और अर्थ की वक्रता या वैचित्र्य को अलंकार के नाम से अभिहित किया।[2]

यहां वक्रोक्ति का अभिप्राय शब्द और अर्थ की विचित्रता से है। इस प्रकार काव्य के क्षेत्र में भामह ने वक्रता का पक्ष ग्रहण कर अलंकार को काव्य का प्राण प्रमाणित किया।

भामह ने वक्रोक्ति पर बल दिया और दण्डी ने श्लेष और अतिशयोक्ति पर परन्तु उसे काव्य का अनिवार्य धर्म सिद्ध कर दण्डी ने भामह की अलंकार सम्बन्धी विचार सरणि को ही अग्रसर किया। उन्होंने अलंकार को काव्य की शोभा में अभिवृद्धि करने वाला धर्म प्रतिपादित किया—

"काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते"।[3]

धर्म की स्थिति में स्थिरता है काव्य में शोभा या सौन्दर्य सहज गुण के समान है। दण्डी ने एक और लक्षण प्रस्तुत किया जिसके अनुसार सन्धि तथा उसके अङ्ग वृत्ति तथा उसके अङ्ग एवं लक्षणा आदि को भी अलंकार के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।[4] भामह की वक्रोक्ति एवं दण्डी की अतिशयोक्ति प्रायः एक ही मानी गयी है परन्तु अलंकार की व्यापकता एवं प्रकार की दृष्टि से दण्डी का दृष्टिकोण अधिक उदार है। दण्डी के लक्षण ने अलंकारों का पक्ष पुष्ट किया गया।

वामन ने अलंकार की द्विपक्षीय परिभाषा प्रस्तुत की। एक ओर परम्परागत लक्षण को वे सहसा पदच्युत नहीं कर सकते थे अतः ग्रन्थ के आरम्भ में तो उन्होंने काव्य की ग्राह्यता अलंकार से प्रमाणित की, जो कि दण्डी के लक्षण का परिष्कृत रूप है कि सन्धि, वृत्ति तथा उनके अङ्ग आदि अलंकार के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। वामन की परिभाषा ने काव्य में अलंकार के स्वरूप को प्रधान सिद्ध किया और सौन्दर्य मात्र को अलंकार माना—

काव्यं ग्राह्यमलंकारात् । सौन्दर्यमलंकारः ।[5]

परन्तु दूसरा मत भी वामन ने प्रस्तुत किया है कि काव्य की शोभा के करने वाले धर्म गुण हैं और उस शोभा की अतिशयता को करने वाले अलंकार हैं। यहां से अलंकार को काव्य का अस्थिर धर्म मानने की परम्परा आरम्भ हो गयी। वस्तुतः वामन ने शोभा कर्तृत्व और शोभा वर्धकत्व को लेकर गुणालंकार का जो विभेद किया उसी से अलंकार काव्य में प्रथम श्रेणी से हटकर द्वितीय श्रेणी के गिने जाने लगे।

आचार्य रुद्रट ने रस और अलंकार का पार्थक्य निरूपित किया तथा रसवत्, ऊर्जस्वि, समाहित और प्रेयस् को अलंकार के क्षेत्र से बाहर निकाला। उनके प्रथम प्रयास ने अलंकार और अलंकार्य के क्षेत्र की सीमा का निर्धारण किया तथा रस को प्रामुख्य देने के कारण वामन के समान रुद्रट ने भी अलंकार को द्वितीय स्थान पर अधिष्ठित किया।

'सौन्दर्यमलंकारः' वाली वामन की परिभाषा का क्रम विच्छिन्न नहीं हुआ यह व्यक्ति विवेक कार महिम भट्ट के अलंकार के लिए किये गये चारुत्व के प्रयोग एवं शब्दार्थ की विच्छिति के रूप में प्रस्फुटित हुआ—

चारुत्वमलंकारः तथा च शब्दार्थयोर्विच्छितिरलंकारः ।[6]

सार यह है कि महिम भट्ट ने चारुता एवं शब्द और अर्थ को अलंकार की अभिधा से अभिहित किया है।

आचार्य कुन्तक ने काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता के पक्ष को संपुष्ट किया और उन्होंने निर्देशित किया कि अलंकार सहित[7] सम्पूर्ण अर्थात् सावयव समस्त शब्दार्थ को काव्यत्व की आख्या से बोधित किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि अलंकार काव्य के स्वरूपाधायक धर्म होते हैं।

इसी परम्परा में आचार्य भोजराज भी रस को अलंकार मानने पर विमोहित हो गये। यद्यपि वे रसवादी आचार्य हैं तथापि उनकी दृष्टि में रीति, गुण आदि भी अलंकार के अन्तर्गत आ जाते हैं। अलंकार की इस व्यापक परिभाषा से प्रभावित होकर वाग्भट भी यह कहने पर विवश हुए कि दोषों से मुक्त, और गुणों से युक्त होने पर भी अलंकार के बिना वचन अर्थात् काव्य चमत्कृत नहीं होता—

दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः ।
स्त्रीरूपमिव यो भाति तं ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम् ।[7]

इसका तात्पर्य यही हुआ कि अलंकार काव्य का अनिवार्य अङ्ग है

ग्रौर काव्य में इसकी ग्रवस्थिति ग्रनिवार्यतः होनी चाहिये। इसी परम्परा में ग्रलंकार शेखर के कर्ता केशव मिश्र ने ग्रलंकार को शोभा के लिए बताया।

ग्राचार्य जयदेव ने ग्रग्नि में उष्णता के समान काव्य में ग्रलंकारों को ग्रनिवार्य एवं ग्रावश्यक प्रतिपादित किया। मम्मट ने काव्य लक्षण में ग्रलंकारों की काव्य में ग्रनिवार्य सत्ता का खुलकर विरोध नहीं किया ग्रपितु 'क्वापि' से सहज भाव से कहा कि ग्रलंकार रहें या कभी न भी रहें तो भी काव्य का शरीर नीरस एवं शोभा रहित नहीं होगा।

इसी दृष्टि से उन्होंने ग्रलंकारों को इस प्रकार परिभाषित किया है–

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।

हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।[8]

तात्पर्य यह है कि ग्रलंकार जातुचित् ग्रर्थात् कभी-कभी उस रस को ग्रलंकृत करते हैं, सदा नहीं। वे कटक कुण्डल ग्रादि ग्राभूषणों की तरह काव्य में ग्रलंकृत करने वाले चमत्कारक ग्रस्थिर धर्म हैं।

ग्राचार्य जयदेव[9] ने चन्द्रलोक में मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्य लक्षण के "ग्रनलंकृतिः पुनः क्वापि" ग्रंग का विरोध किया ग्रौर यहां तक दुर्भेद्य ग्राग्रह किया कि काव्य में ग्रलकारों की ग्रवस्थिति को न मानना ग्रग्नि में उष्णता को न मानने के समान है। उन्होंने ग्रलंकारों को हारादिवत् मानते हुए भी वृत्ति, रस तथा ग्रलंकार युक्त वाणी को काव्यता प्रदान की।

काव्य-शास्त्र की इस लम्बी परम्परा का विवेचन करने से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि काव्य-शास्त्र में वामन के मत का समर्थन होता रहा। इसीलिए भामह द्वारा प्रवर्तित तथा दण्डी एवं वामन द्वारा ग्रनुमोदित काव्य का ग्रलंकार स्वरूप परवर्ती ग्राचार्यों द्वारा सम्पुष्ट होता रहा तथा रीतिवादी ग्राचार्यों के ग्राश्रय पर ग्रवस्थित रहा।

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रमुख ग्राचार्य के रूप में ग्रानन्दवर्धन ने ग्रलंकार को कटक कुण्डलादिवत् मानने के साथ ही उन्हें चारुत्व हेतु भी माना। वामन के लक्षण में 'हेतु' शब्द जोड़कर उसे चारुत्व हेतु[10] कह कर ग्रलकार को साधन पद पर स्थापित कर दिया। इस साधन रूप स्वीकरण का ही परवर्ती ग्राचार्यों ने ग्रनुसरण किया। विशेषतः रसवादी ग्राचार्यों ने इस मत पर इतना ग्राग्रह किया कि ग्रलंकार का पहला लक्षण कहीं तिरोहित हो गया ग्रौर रस-ध्वनि के प्राङ्गण में तो ग्रलंकार रस का सेवक ही बन कर रह गया। ध्वनि कार के द्वारा ग्रङ्गाश्रित[11] मानने से ही ग्रलंकारों की स्थिति ग्रङ्गी से न्यून बन कर रह गयी।

ध्वनिकार के इस मत का अनुगमन करते हुए राजशेखर ने अलंकार की शोभाधायक स्थिति की घोषणा करते हुए उसे रस का अनुकारक भी माना है।

आचार्य कुन्तक[12] विचित्राभिधारूपा वक्रोक्ति के सबल व्याख्याता होकर भी काव्य की सालंकारता के पक्ष का समर्थन करते रहे क्योंकि वक्रोक्ति की संस्थापना उनका लक्ष्य था परन्तु दूसरी ओर वे अलंकार को कटक आदि की तरह शोभातिशय कारक कहते रहे।

आचार्य मम्मट ने अपने लक्षण[13] में अलंकारों को रस का उपकारक एवं अङ्गभूत कहा है। काव्य में अनुप्रास, उपमा आदि की स्थिति हार आदि के समान निश्चित कर दी गयी। आचार्य हेमचन्द्र[14] एवं विद्यानाथ[15] ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के स्वरों में स्वर मिला दिये। इनके लक्षणों में कुछ नवीनता दृष्टिगोचर नहीं होती।

आचार्य विश्वनाथ ने दण्डी के अलंकार-लक्षण पर कठोर आधात किया। रसात्मक वाक्य को काव्य मानने वाले उन्हें अलंकार की स्थिरता कथमपि सह्य नहीं हुई। उन्होंने शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म, रूप शोभा-तिशायी तथा रस आदि के उपकारकों को अलंकार की अभिधा से बोध्य कहा इससे अलंकारों की काव्य में सहज एवं अनिवार्य स्थिति हट गयी। अभिनव गुप्त भी इसी मत के समर्थक थे कि रस युक्त काव्य में अलंकार स्वभावतः प्रयोग किये जाने चाहिये। रस-हीन काव्य में तो वे अलंकार भार से लदे शव के समान हो जायेंगे, जिस प्रकार यति के शरीर पर धारण किये गये अलंकार हास्यास्पद होंगे। इसीलिए अलंकार के लक्षण में आनन्द वर्धन ने सहानुभूति पूर्ण सहृदयता प्रकट की और उसका पोषण परवर्ती अभिनव गुप्त एवं मम्मट जैसे विशिष्ट आचार्यों ने किया। शेष आचार्यों ने तो अलंकार को बहिरंग साधन ही माना।

काव्य में अलंकार का स्थान

शारीरिक सुषमा की अभिवृद्धि करने वाले सभी पदार्थ परिधान, आभूषण आदि अलंकारों की श्रेणी में गिने जाते हैं। आभूषणों के द्वारा जैसे चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न होती है वैसी ही प्रसन्नता अलंकारों से सहृदय के हृदय में प्रस्फुटित होती है। जिस प्रकार आभूषण सुवर्ण से बनते हैं उसी प्रकार अलंकार भी सुवर्ण अर्थात् सुन्दर वर्णों से बनते हैं। जिस प्रकार सुवर्ण-रचित-खचित आभूषणों में चारुत्व, कला-कौशल, चमत्कार, प्रतिभा की चारुता होती है उसी प्रकार अलंकारों में भी ये ही सब मनोरंजक साधन रहते हैं उनमें भी

काव्य-कला कौशल अथवा चातुर्य, चमत्कार एवं काव्य-प्रतिभा तथा मनोरंजक चारुता प्रकट होती है। अब यह विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि उन अलंकारों का काव्य में क्या स्थान है और काव्य में अलंकारों को कितना महत्त्व दिया गया है। इस प्रश्न का समाधान, जितना दिखायी देता हैं, उतना सरल नही है। इसके लिए पहले काव्य में, जो काव्यत्व का आधार है, उसका परिज्ञान आवश्यक है। इसमें सभी आचार्यों में मतैक्य है कि काव्यत्व चमत्कार पर निर्भर है। किन्तु उस चमत्कार के आधायक तत्त्व के विषय में आचार्यो में मत वैषम्य है। ध्वनि के प्रतिपादक ध्वन्यालोक की रचना से पूर्व काव्य में रस, गुण, अलंकार ही चमत्कारक पदार्थ स्वीकृत किये गये थे। अतः काव्यत्व के आधान के लिए रस, गुण एवं अलंकार इन तीनों की स्थिति अपेक्षित है।

शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्।[16]

इस प्रकार सत्काव्य में अलंकार विद्यमान रह कर भी शोभाधायक नहीं अपितु शोभा का वर्धक मात्र रह गया। अलंकार काव्यात्मा के उपकारक हैं। अस्थिर धर्म कहकर विश्वनाथ मम्मट से भी आगे बढ गये और उन्होंने अलंकारों को हीन प्रमाणित कर दिया। संस्कृत काव्य शास्त्रीय परम्परा के अन्तिम आचार्य नरसिंह ने भी ध्वनि कार का ही अनुसरण करते हुए अलंकारों को चारुत्वातिशय हेतु हा माना। इस प्रकार अलंकार साधन मात्र बनकर रह गया।

आनन्द वर्धन ने यद्यपि अलंकारों को साधन पद दिया परन्तु वे एक समन्वय वादी मत प्रस्तुत करने के लिए विवश हो गये। उन्होंने अलंकार-ध्वनि को स्वीकार कर ध्वनि क्षेत्र में अलंकारों को मान्य स्थान दिया। ध्वनि-क्षेत्र से वे अलंकारों को दूर नहीं हटा सके।

ध्वनिकार ने 'कटक कुण्डलादिवत्' कहकर भी अलंकारों को सहज, प्राकृत तथा आन्तरिक ही माना। तथ्य यह है कि काव्य में अलंकारों का अन्तरंग अथवा बहिरंग होना कविकृत प्रयोग पर निर्भर है। अलंकार रसाभिव्यक्ति के सहायक हैं। यहां विवेच्य यह है कि किन-किन स्थानों पर रसाभिव्यक्ति प्रभाव पूर्ण बन जाती है। आनन्द वर्धन का कथन है कि रस की अभिव्यक्ति वाच्य विशेष से होती है। उस वाच्य विशेष के प्रतिपादक शब्दों में रस आदि के प्रकाशक रूपक आदि अलंकार वाच्य विशेष ही हैं! इस कारण रस की अभिव्यक्ति में इन रूपक आदि अलंकारों की बहिरंगता नहीं है। बहिरंगता तो प्रयत्न साध्य यमक आदि अलंकारों में होती है।[17]

इस सम्बन्ध में आचार्यों की विविध मान्यताओं को यहां प्रस्तुत करना असंगत न होगा ।

आचार्य भरत ने सर्वोपरि चमत्काराधायक पदार्थ के रूप में रस को ही स्वीकार किया है । यद्यपि नाट्य शास्त्र में अलंकार एवं गुणों का भी निरूपण उपलब्ध होता है तथापि इन्हें अधिक महत्त्व नहीं दिया गया । आचार्य भरत ने रस के बिना काव्य की काव्यता को स्वीकार नहीं किया—

"नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते" ।[18]

अग्नि पुराण में गुण एवं अलंकार की सत्ता को काव्य के लिए आव' श्यक माना गया है । उन्होंने जिस प्रकार रस को काव्य का जीवनाधार बताया है उसी प्रकार अलंकार-रहित काव्य को विधवा स्त्री के समान चमत्कार एवं आकर्षण हीन, तथा गुणहीन काव्य को कुरूपा स्त्री के समान चित्ताकर्षण से रहित माना है–"अलंकार रहिता विधवेव सरस्वती" ।[19]

अलंकार सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि होने पर भी भामह अलंकार और गुण का लक्षण प्रस्तुत नहीं कर सके । रस की महनीयता को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने रसों को रसवद् अलंकार के नाम से और भावों को प्रेय अलंकार के नाम से अलंकारों के अन्तर्गत ही अङ्गीकृत किया है । आचार्य दण्डी ने भी अलंकार का ही कोई विशेष लक्षण प्रतिपादित नहीं किया पर अलंकार प्रकरण के प्रारम्भ में अलंकारों को काव्य की शोभा की अभिवृद्धि करने वाले धर्म कहा है—

काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।[20]

इसके अतिरिक्त उन्होंने शृंगारादि रस से अन्वित रचना को मधुर गुण वाली कहकर अलंकारों को रस के पोषक बताया है तथा रस को प्राधान्य अर्पित करते हुए भामह के अनुसार रस और भाव विषय को रसवद् एवं य अलंकारों का विषय निर्दिष्ट कर अलंकारों में ही रसों एवं भावों का समावेश कर दिया ।[21] इनके मतों का आदर करते हुए उद्भट ने भी रस और भाव आदि को अलंकारों के अन्तर्गत अङ्गीकृत किया है ।

इन तीनों आचार्यों की मान्यताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुख्यतः अलंकार की स्थिति ही काव्यत्व सम्पादन के लिए पर्याप्त है । चाहे वह रसवद् अलंकार युक्त हो अथवा उपमा आदि अलंकारों से युक्त हो ।

ध्वनिमत की स्थापना से पूर्व प्रधानतः रस और अलंकारों पर ही काव्यत्व निर्भर था परन्तु ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तन के पश्चात् ध्वनि को ही काव्य की आत्मा निरूपित करके काव्य में सर्वोपरि स्थान व्यंग्यार्थ को ही

दिया गया है। काव्य में सर्व प्रधान पदार्थ पर विचार करके यह स्थिर किया गया कि रस वाच्यार्थ ग्रौर लक्ष्यार्थ नहीं, वह इन दोनों से भिन्न व्यञ्जना वृत्ति का व्यापार-व्यंग्यार्थ है। ग्रतएव ध्वनिकारों ने रस को काव्य में सर्वश्रेष्ठ पदार्थ मानते हुए भी ग्रपने ध्वनि-सिद्धान्त के ग्रन्तर्गत रस का समावेश करके रस को ध्वनि का ही एक प्रधान भेद नियत कर दिया है। ध्वनि को काव्य की ग्रात्मा कहने से ध्वनिकारों का तात्पर्य व्यंग्यार्थ का काव्य में प्राधान्य मात्र सूचित करने का प्रतीत होता है न कि काव्य की व्यापकता को ध्वनि या व्यंग्यार्थ में सीमित करने का। क्योंकि ध्वनिकारों ने स्पष्ट कहा है कि ध्वनि ग्रौर गुणी-भूत व्यंग्यात्मक काव्यार्थ का विश्राम नहीं ग्रर्थात् कोई ग्रन्त नहीं ग्रौर इस प्रकार व्यंग्यार्थ रहित शुद्ध वाच्यार्थ रूप ग्रलंकारात्मक काव्यार्थ की भी ग्रनन्तता प्रदर्शित कर ग्रलंकारों में भी काव्यत्व को स्वीकार किया है।[23] इसके ग्रतिरिक्त ध्वनिकारों को स्वभावोक्ति ग्रादि स्वभाव बोधक रचना में काव्यत्व ग्रभिमत है।[24] ग्रलंकारों के सम्बन्ध में उनका यह दृष्टिकोण[25] स्पष्ट कर देता है कि ध्वनिकारों को केवल रसादि व्यंग्यार्थ ग्रथवा ध्वनि में ही नहीं ग्रपितु केवल वाच्यार्थ रूप ग्रलंकारों की सत्ता भी काव्यत्व में ग्रभीष्ट है।

ग्राचार्य मम्मट सामान्यतः ध्वनिकारों से प्रभावित है। उन्होंने जिस प्रकार केवल व्यंग्य प्रधान रचना में काव्यत्व स्वीकृत किया है उसी प्रकार व्यंग्य-रहित ग्रलंकार-समन्वित रचना में भी काव्यत्व को ग्रङ्गीकृत किया है

मम्मट ने काव्य की सामान्य परिभाषा देकर व्यंग्यार्थ के ग्राधार पर ही काव्य के तीन भेद माने हैं। उन्होंने व्यंग्य-प्रधान काव्य को उत्तम, गौण व्यंग्य वाले काव्य को मध्यम तथा व्यंग्य रहित ग्रलंकारात्मक-काव्य को ग्रधम बताया है। इसके ग्रतिरिक्त जब मम्मट ने ध्वनि के मुख्य भेदों में संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि के ग्रन्तर्गत वस्तु से वस्तु ध्वनि वाले काव्यों का समावेश किया है तो यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मम्मट को नीरस एवं ग्रस्फुट ग्रलंकार वाली रचना मे भी काव्यत्व स्वीकृत है क्योंकि वस्तु ध्वनि में न तो रस की सत्ता होती है ग्रौर न ही स्फुट ग्रलंकार की ग्रवस्थिति। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार हार ग्रादि ग्राभूषण मनुष्य के ग्रङ्गों में धारण किये जाने पर प्रथम उसके ग्रङ्ग को शोभित करते हैं, चमत्कृत करते हैं, फिर उन चमत्कृत ग्रङ्गों के द्वारा मनुष्य की शोभा को बढाते हैं उसी प्रकार शब्द ग्रौर ग्रर्थ के ग्रलंकार प्रथम शब्द ग्रौर ग्रर्थ को चमत्कार युक्त करते हैं फिर उसके द्वारा रस को उपकृत करते हैं।[26]

जयदेव का ग्रलंकार का सामान्य लक्षण प्रायः मम्मट का ग्रनुगमन करता है किन्तु उन्होंने ग्रलंकारों को काव्य में ग्रतिशय प्राधान्य दिया है। जयदेव

ने मम्मट के काव्यलक्षण के अलंकृती पुनः क्वापि–इस अंश पर आक्षेप करते हुए रस-ध्वनि युक्त होते हुए भी अलंकार-हीन रचना को काव्य की श्रेणी में स्थान नहीं दिया है—

अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।[27]

विश्वनाथ ने यद्यपि अलंकार का सामान्य लक्षण तो प्रायः मम्मट के अनुसार ही प्रस्तुत किया किन्तु काव्य-लक्षण में काव्य को एक मात्र रस में ही मर्यादित कर दिया है। परन्तु अन्ततोगत्वा विश्वनाथ को भी ध्वनिकार एवं मम्मट का अनुसरण करने के लिए बाध्य होना पड़ा तथा वस्तु ध्वनि एवं अलंकारात्मक रचना में भी उन्हें काव्यत्व स्वीकार करना पड़ा ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य को परिभाषित करते हुए रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य की संज्ञा दी है। रमणीयता चमत्कार पर ही निर्भर रहती है। अतएव जगन्नाथ के मतानुसार भी रस, वस्तु ध्वनि एवं अलंकार-प्रत्येक में स्वतन्त्र रूप से काव्यत्व माना जा सकता है। शैली के भिन्न होने पर भी पंडित राज जगन्नाथ की मान्यता ध्वनिकार एवं मम्मट के अनुकूल ही है।

अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सभी साहित्याचार्यों ने काव्य में अलंकारों को प्रमुख स्थान प्रदान किया है। यह वह काव्य का उपकरण है जो काव्य के मुख्य अर्थ के बोध में उपकारक है तथा उसके उत्कर्ष का आधान करने वाला है। शरीर और आत्मा चाहे कैसी भी हो अलंकार तो चमत्कार उत्पन्न करके शोभा में अभिवृद्धि तो करते ही हैं। अलंकार अलंकार्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व माना गया है। जो स्त्री वा पुरुष अलंकार विहीन है वह भी मनुष्य है पर जो अलंकार युक्त है, वह अधिक शोभा युक्त एवं उत्कृष्ट समझा जाता है। उनकी अवस्थिति हानि कारक तो कदापि नहीं।

अलंकारों की संख्या

अलंकारो के वर्गीकरण से ही सम्बन्धित विषय है अलंकारों की संख्या क्योंकि इन्हीं के आधार पर कोई वर्गीकरण प्रस्तुत किया जा सकता है। रुचि वैविध्य के कारण अलंकारों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में ऐकमत्य संभव नहीं। अलंकार निरूपक आचार्यों ने भरत से लेकर अब तक चार अलंकारों से अपना क्रम आरम्भ किया और उनकी संख्या लगभग 150 तक पहुँच गयी।

कादम्बरी में अलंकार योजना

कवि मानस में भावाभिव्यक्ति की स्वतः उद्बुद्ध तरंग राशियों के साथ ही अनादिकाल से अज्ञातरूप में ही अलंकारों ने जन्म ग्रहण किया होगा। अलंकार अभिव्यक्ति का साधन तथा प्रकार है अतः अनिवार्य रूप से उसका प्रसार होता रहा। विद्वानों की शास्त्रीय बुद्धि ने इन प्रकारों को ग्रहण कर इनका नाम करण किया और तभी अलंकार शास्त्र का उदय हुआ। परिणामतः आचार्यों के द्वारा अलंकार विवेचन की परम्परा विकसित होती गयी। अलंकारों के क्रमिक अध्ययन की सर्व सामान्य प्रणाली इन्हीं आलंकारिकों की कृतियों का अध्ययन करना है। प्रस्तुत संदर्भ में कादम्बरी के परिप्रेक्ष्य में इन अलंकारों का अध्ययन करना अपेक्षणीय है।

कादम्बरी अलंकारों का सागर है। प्रायः सभी अलंकारों का महाकवि बाण ने समुचित समावेश किया है। अलंकारों की मधुर झंकृतियाँ सहृदय के चित्त को सहसा आवर्जित करती हैं। वस्तुतः रसानुगुण अलंकारों के सुन्दर-विन्यास से कल्पना एवं संघटना के अनुरूप संघटन से संस्कृत साहित्य में कादम्बरी प्राचीन एवं अर्वाचीन कथाओं को अतिशयित करने वाली अनुपमा एवं अद्वितीया है हृदय ग्राहिणी उपमाओं, चमत्कारोत्पादक श्लेष अलंकारों, सुन्दर परिसंख्या अलंकारों की बहुलता तथा सुपरिनिष्ठित विरोधाभास अलंकारों के विलक्षण समावेश से जो कयनीयता काव्य में हठात् आ गयी है, वह अपूर्व एवं अनिर्वचनीय है। यह कहना अत्युक्ति नहीं कि कोई भी कवि, जो सुन्दर काव्य-रचना के लिए प्रयत्नशील हो तो वह काव्य रचना कादम्बरी के अलंकारों का उच्छिष्ट सा ही प्रतीत होगी। अलंकार-योजना में वह रचना कादम्बरी का अनुसरण मात्र ही अभासित होगी।

कादम्बरी अलंकारों के विकास की चरम परिणति है। उस विकास का मुख्य कारण है, आचार्यों द्वारा उक्तियों के नवीन चमत्कारक रूपों का अन्वेषण तथा स्वविवेचन से उनका नवीन अलंकारों के नाम रूपों में प्रस्तुतीकरण। यही कारण है कि अलंकारों की निश्चित सीमावधि निश्चित नहीं की जा सकती और न यह ही कहा जा सकता है कि अब नवीन अलंकारों के उदय होने की सम्भावना नहीं है।

अलंकारों के सम्बन्ध में सूक्ष्म-चिन्तन के अनवरत होते रहने से उनके भेदोपभेदों की संख्या में वृद्धि होती रही है। अलंकारों के विकास के समान ही आलंकारिक मनीषियों की मेधा ने अलंकारों का लक्षण-विकास भी किया है।

शब्द और अर्थ का आधार मानकर आचार्यों ने अलंकारों का दो वर्गों शब्दालंकार एवं अर्थालंकार- में निरूपण किया है। यद्यपि प्रधानता अर्थालंकारों को ही रही हैं तथापि शब्दार्थ की अन्विति में शब्द के पहले रहने से 'वागर्थाविव' की पद्धति से भी प्रथम शब्दालंकारों का विवेचन करना उपयुक्त है।

शब्दालंकार–अनुप्रास

संस्कृत काव्य-शास्त्र में सर्व प्रथम भामह ने अनुप्रास अलंकार का लक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने अनुप्रासों को नानार्थक तथा सदृशाक्षरों वाले माना है। इनके प्रयोग से वाणी में चारुता आ जाती है।[28] आचार्य दण्डी ने अनुप्रास को रसावह कहकर लक्षण में गति देते हुए कहा कि पादों और पदों में होने वाली वर्णावृत्ति में पूर्वानुभव-संस्कार बोध तथा अदूरता की क्षमता आवश्यक है।[29]

दण्डी ने अपने लक्षण से नानार्थत्व को पृथक् कर दिया है।[30] आचार्य उद्भट ने समान रूप-व्यञ्जनों के न्यास को अनुप्रास अलंकार के लक्षण में आवश्यक माना है। इस व्यञ्जन-न्यास की पृथक्ता से ही अनुप्रास के भेदों की चर्चा भी उद्भट ने की है।[31] आचार्य वामन ने उद्भट के समान ही स्वरूप-व्यञ्जना-न्यास को अलंकार लक्षण में अनिवार्य मानते हुए 'अनुल्वणत्व' पद को उसमें और जोड़ दिया। इससे अनुप्रास-लक्षण में कोमलता का सन्निवेश हुआ।[32]

आचार्य मम्मट कृत अनुप्रास अलंकार के लक्षण में वर्ण-साम्य की ही प्रधानता को स्वीकार किया गया। उन्होंने स्वरों में विषमता होने पर व्यञ्जन-सादृश्य को वर्णसाम्य स्वीकार किया है। फलतः पिछले लक्षणों से इसमें अन्तर आ गया।[33] आचार्य विश्वनाथ ने अनुप्रास लक्षण में वर्ण साम्य की अपेक्षा शब्द साम्य की प्रधानता को स्वीकार किया है। उन्होंने मम्मट के समान ही स्वर की विषमता को माना है

अनुप्रासः शब्द साम्य वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।[34]

इन विद्वानों के अतिरिक्त अन्य किसी विद्वान् ने किसी नवीन तत्त्व का निवेश नहीं किया वे केवल पराम्परागत तथ्य का ही नवीनीकरण करते रहे।

वृत्त्यनुप्रास

आचार्य मम्मट[35] ने एक वर्ण की अथवा अनेक वर्णों की भी अनेक बार आवृत्ति को वृत्त्यनुप्रास माना है। अर्थात् एक वर्ण का और अपि शब्द से अनेक व्यञ्जनों का एक बार या अनेक बार सादृश्य वृत्त्यनुप्रास कहलाता है।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अनेक व्यञ्जनों की एक ही प्रकार से समानता होने पर अथवा अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति होने पर अथवा अनेक प्रकार से अनेक बार अनेक वर्णों की आवृत्ति होने पर किंवा एक ही वर्ण की एक बार आवृत्ति होने पर या एक ही वर्ण को अनेक बार आवृत्ति होने पर वृत्त्यनुप्रास होता है।

यहां एकधा का तात्पर्य केवल स्वरूप से ही है न कि क्रम से। अनेकधा का तात्पर्य स्वरूप एवं क्रम दोनों से है। सकृद् के साथ अपि के योग से असकृद् का भी बोध होता है।

कादम्बरी में अनेक स्थलों पर वृत्त्यनुप्रास की सुन्दर योजना दृष्टिगोचर होती है शूद्रक वर्णन में इसकी छटा दर्शनीय है—

"प्रतापानुरागावनत–समस्त सामन्त चक्रः, चक्रवर्तिलक्षणोपेतः, चक्रधर इव करकमलोपलक्ष्यमाण शंखचक्रलांछनः"।[36]

यहां 'चक्र' पद की अनेक बार (असकृद्) आवृत्ति हुई है अतः वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

पुण्डरीक के मन के विकृत हो जाने पर कपिंजल द्वारा उपदेश कथन के अनन्तर पुण्डरीक की उक्ति—

"सखे। किम्बहुनोक्तेन, सर्वथा सुस्थोऽसि। आशीविष विषवेग विषमाणामेतेषां कुसुमसायकानां पतितोऽसि न गोचरे। सुख मुपदिश्यते परस्य"।[37]

इस गद्य भाग में 'विष' शब्द की असकृत् आवृत्ति के होने से वृत्त्यनुप्रास अलंकार है। इसके अतिरिक्त उज्जयिनी के महाकालेश्वर की पूजा करते हुए सूर्य के अश्व प्रतिदिन सिर नमित कर अर्थात् अधोमुख होकर चलते हैं—

"यस्यामुत्तुङ्ग सौधोत्संग संगीत संगिनीनामंगनानामतिमधुरेण गीतरवेणाकृष्यमाणाधोमुख रथतुरङ्गः पुरः पर्यस्त रथपताका पटः कृत महाकाल प्रणाम इव प्रतिदिनं लक्ष्यते गच्छन् दिवसकरः"।[38]

प्रस्तुत वाक्य में 'ङ्ग' शब्द की असकृत् आवृत्ति ने काव्य को अपूर्व चमत्कार से आप्यायित कर किया है वृत्त्यनुप्रास की यह छटा अत्यन्त मनोरम एवं हृदयावर्जक है।

छेकानुप्रास

छेकानुप्रास का लक्षण इस प्रकार स्थिर किया जा सकता है कि जहां दो व्यञ्जन युग्मों की अव्यवधान से आवृत्ति हो उसे छेकानुप्रास की संज्ञा से बोधित किया जाता है।

कादम्बरी के कथामुख के पम्पानामक सरोवर वर्णन में छेकानुप्रास की शोभा दर्शनीय है—

"सारसितसमदसारसम्" ।[39]

यहां सारस शब्द की एक बार आवृत्ति हुई है। शिव सिद्धायतन का वर्णन करते हुए महाकवि बाण ने छेकानुप्रास की अनुपम छटा दर्शायी है—

"अन्तरान्तरा कैलाश तरङ्गिणी तरङ्गित सिकतिलतलभूमिभागैः" ।[40]

इसी प्रकार—

"क्वचिदुदरारूढ निर्गतोन्नालनलिनीच्छदच्छादित मुखान् प्रवेश्यमानान्" ।

कादम्बरी के हिमगृह के इस वर्णन में नल एवं च्छद शब्दों की एक बार आवृति यहां छेकानुप्रास की शोभा की अभिवृद्धि करती है।

आचार्य विश्वनाथ ने अन्त्यानुप्रास का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा कि आदि स्वर के साथ जहां व्यञ्जन की आवृत्ति हो वहां अन्त्यानुप्रास होता है।

वहां अनुप्रास होने के लिए अन्त में तुक का होना आवश्यक माना गया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में यही अन्त्यानुप्रास है। कादम्बरी में महाश्वेता और चन्द्रापीड के संध्या वन्दन के वर्णन में अनुप्रासों की विमल छटा दृष्टिगोचर होती है—

"रजनि जल विन्दुजाल जनित जडिम्नि बहल वन कुसुम परिमलानुमित गमने चलितलता विटप गहने प्रवृत्ते च पवने" ।[41]

प्रस्तुत वाक्यांश में अलंकार के तीनों भेदों-वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास एवं अन्त्यानुप्रासों का रुचिर विन्यास हुआ है। अन्त में जो 'ने' की तुक बन गयी है वही यहां अन्त्यानुप्रास को प्रदर्शित करती है।

लाटानुप्रास के लक्षण आचार्य मम्मट[42] एवं विश्वनाथ ने प्रस्तुत किये हैं। इन दोनों के लक्षणों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। तात्पर्य का भेद होते हुए जहां शब्द और अर्थ की आवृत्ति ही उसे लाटानुप्रास कहते हैं—

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रत.।

लाटानुप्रास इत्युक्तः ।[43]

इसके अतिरिक्त मम्मट के द्वारा प्रस्तुत वृत्ति से भी इस लक्षण का स्पष्टीकरण हो जाता है। उनका कथन है कि शब्द और अर्थ का अभेद होने पर भी अन्वय मात्र के भेद से तथा एक समास में एवं भिन्न समासों में अथवा समास और असमास में नाम अर्थात् प्रतिपादिक की (पद की नहीं) आवृत्ति

होने पर भी लाटानुप्रास होता है।[44] लाट देश के व्यक्तियों का प्रिय होने से इसका नाम लाटानुप्रास रखा गया है।

कुछ काव्य शास्त्रियों ने कादम्बरी के कथामुखान्तर्गत शूद्रक के वर्णन में लाटानुप्रास के देखने का प्रयास किया है—

"आसीदशेषनरपति शिरः समभ्यर्चित शासनः पाकशासन इव अपरः .... राजा शूद्रको नाम"।[45]

प्रस्तुत वाक्यांश में शासन पद की आवृत्ति से कतिपय विद्वान् लाटानुप्रास की अवस्थिति मानते हैं परन्तु वस्तुतः यहां शासन पद की आवृत्ति से यमक अलंकार है लाटानुप्रास नहीं। लाटानुप्रास के लक्षण के अनुसार शक्य अर्थ के अभिन्न होने पर केवल तात्पर्यमात्र के भिन्न होने से लाटानुप्रास का वह विषय बनता है। परन्तु इस वाक्यांश में शक्य अर्थ में भी भेद दृष्टिगोचर होता है अतः यह प्रस्तुत अलंकार की सीमा से बाह्य है।

यमक

आचार्य भरत ने शब्दाभ्यास से यमक के लक्षण का प्रारम्भ किया। पाद चर्चा भी उन्होंने की। आचार्य भामह ने पादाभ्यास को यमक-लक्षण में प्रामुख्य प्रदान किया। इनके अनन्तर आचार्य दण्डी ने भेदोपभेदों के साथ लक्षण की इतनी विस्तृत विवेचना की कि संस्कृत-काव्यशास्त्र के किसी आचार्य को नवीन लक्षण-निर्माण करने का साहस नहीं हुआ।

आचार्य मम्मट[46] ने अर्थवान् एवं भिन्न अर्थ वाले वर्णों की आवृत्ति को यमक की संज्ञा दी है। इस संदर्भ में आचार्य विश्वनाथ[47] का लक्षण अधिक स्पष्ट एवं तथ्यों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने वाला है। यह लक्षण काव्य शास्त्र में अधिक प्रचलित हुआ—

"सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वर व्यञ्जन संहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते।[48]

यहां कभी दोनों ही पद सार्थक हों तो कदाचित् दोनों ही पद निरर्थक हों, कहीं-कहीं प्रथम पद की सार्थकता स्पष्ट हो तो और कही उत्तर पद ही सार्थक हो। दूसरी अनिवार्य आवश्यकता है दोनों पदों के पृथक् अर्थात् भिन्न-भिन्न अर्थ-युक्त होने की तथा तृतीय आवश्यकता के अनुसार दोनों पदों की उसी क्रम से आवृत्ति होनी चाहिये। दमो मोदः इस अलंकार का विषय नहीं।

दण्डी की दृष्टि में व्यवधान रहित अथवा व्यवधान युक्त रूप वाले वर्ण समुदाय की पुनरावृत्ति यमक कही जाती है तथा वह यमक श्लोक के पदों के आदि, मध्य तथा अन्त में दृष्टिगोचर होता है।

काव्य शास्त्र के आचार्यों ने पादों के आदि, मध्य, अन्त, चरण का पूर्वार्द्ध चरण का अपरार्द्ध अथवा चरणों के क्रम से भेदोपभेदों की अनन्त संख्या की कल्पना की है परन्तु विषय-विस्तार के भय उनके अनन्त भेदों में न जाकर यमकालंकार तक ही यह विवेचन सीमित रखा गया है।

कादम्बरी में यमक अलंकारों का रुचिर सन्निवेश हुआ है। यमक के सौन्दर्य से काव्य-रचना का चमत्कार तथा तज्जन्य आनन्द कितना बढ जाता है यह केवल सहृदय संवेद्य ही है। कथा मुख के अन्तर्गत अगस्त्य ऋषि के आश्रम-वर्णन में यह वाक्य दर्शनीय है—

> **"यत्र च दशरथ वचनमनुपालयन्नुत्सृष्टराज्यो दशवदन लक्ष्मी विभ्रमविरामो रामो महामुनिमगस्त्यमनुचरन् सह सीतया लक्ष्मणो-परचितरुचिरपर्णशालः पञ्चवट्यां कञ्चित् कालं सुखमुवास"।**[49]

प्रस्तुत वाक्य में 'विरामो-रामो' पद में यमक अलंकार स्पष्ट है। 'विरामो रामो' में दोनों वर्ण समुदायों में 'रामो' सार्थक है परन्तु प्रथम वर्ण संघात में 'रामो' का कोई अर्थ नहीं। दोनों ही पद भिन्नार्थक है तथा उनकी उसी क्रम से आवृत्ति हुई है।

इसी प्रकार केयूरक के साथ पत्रलेखा के गमन के वर्णग में भी यमक की सुन्दर योजना परिलक्षित होती है—

> **"निर्वृत्ते च चन्द्रोदये विद्रुते हर्ष नयन जलकण नीहारिणि वियद्विहारिणि मनोहारिणि विद्याधराभिसारिकाजने चन्द्रापीडः सुप्तामवलोक्य महाश्वेतां पल्लव शयने शनैः शनैः समुपाविशत्"।**[50]

प्रकृत वाक्य में 'वियद्विहारिणि मनोहारिणि' पद में हारिणि की आवृत्ति हुई है, अतः यहां यमक अलंकार स्फुट है।

जैसा कि पहले भी निर्दिष्ट किया जा चुका है कि कथा मुखान्तर्गत शूद्रक-वर्णन के इस वर्ण-समुदाय में लाटानुप्रास नहीं यमक अलंकार है—

> **"आसीदशेष नरपति शिरः समभ्यर्चित शासनः पाकाशासन इव अपरः...................................राजा शूद्रको नाम"।**[51]

प्रस्तुत वाक्यांश में "शासनः पाकशासन इव"– इन दो वर्ण समुदायों में शासन की आवृत्ति होने से यमक अलंकार की सीमा के अन्तर्गत यह लिया जाता है। यहां अर्थवान् एवं भिन्नार्थक दो वर्ण संघातों की उसी क्रम से आवृत्ति हुई है अतः यह यमक का विषय है।

पुनरुक्तवदाभास

आचार्य मम्मट ने पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार को शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार–इन दोनों वर्गों में रखा है। उनके अनुसार समानार्थक होने पर भी विभिन्न स्वरूपों में रहने वाली समानार्थता सी जहां प्रतीत होती है, वहां पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार कहलाता है –

"पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा
एकार्थतैव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम्" ।[52]

अर्थात् भिन्न रूप के कहीं-कहीं दोनों सार्थक और कहीं दोनों या एक के अर्थ रहित शब्दों में आपाततः समानार्थकता की प्रतीति जहां होती है, वह पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार होता है। वह शब्द तथा अर्थ दोनों में रहने वाला होता है। सभंग तथा अभंग रूप केवल शब्दगत होता है और इसी प्रकार वह शब्द और अर्थ दोनों में हो सकता है।

कादम्बरी के कथामुखान्तर्गत प्रभात वर्णन में इस अलङ्कार का सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है–

"गज रुधिर रक्त हरिसटा लोहिनीभिः..........................स्पष्टजाते
प्रत्यूषसि ....मृगया कोलाहल ध्वनिरुदचरत्" ।[55]

प्रस्तुत गद्यांश में रुधिर और रक्त शब्दों की आपाततः अर्थात् प्रारम्भ में पुनरुक्ति सी प्रतीत होती है परन्तु अन्त में पुनरुक्ति नहीं रहती। यहां रुधिरं शोणितं तेन रक्ता लोहितवर्णा अर्थात् रुधिर से लाल वर्ण की–यह अर्थ करने पर पुनरुक्ति नहीं है। प्रकृत में रुधिर का अर्थ रक्त है और रक्त का अर्थ 'लाल वर्ण' है। इसी प्रकार चाण्डाल कन्या के वर्णन के इस उद्धरण में भी रुधिर और रक्त का वही अर्थ है –

"अचिर मृदित महिषासुर रुधिर रक्तचरणामिव कात्यायनीम्" ।[54]

यहां भी श्रवण मात्र से ही पुनरुक्ति सी प्रतीत होती है परन्तु अन्त में पौनरुक्त्य का भास मात्र होता है।

इस प्रकार चन्द्रापीड की दिग्विजय यात्रा वर्णन का यह वाक्य द्रष्टव्य है—

"आजिघ्रन्निव मकरन्दमधुविन्दुपंकलग्नः कर्णोत्पलानि" ।

प्रस्तुत वाक्य-खण्ड में आपाततः मकरन्द और मधु समानार्थक से प्रतीत होते है परन्तु मकरन्द का अर्थ किंजल्क करने से यहां पुनरुक्ति का निराकरण हो जाता है अतः पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है।

श्लेष

श्लेष शब्द और अर्थ पर आश्रित होने से दो प्रकार का होता है। इसे शब्दालङ्कार मात्र मानने की चर्चा भी काव्य शास्त्र में हुई है। शब्द निष्ठ होते हुए भी अर्थ के कारण इसका महत्त्व अधिक है। श्लेष शब्द 'जतु काष्ठन्याय'[55] तथा 'एक वृन्तन्याय'[56] पर आधारित है। श्लेष अलंकार की महिमा का वर्णन सर्वप्रथम दण्डी ने किया है। उन्होंने उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक आदि में उसकी गोचरता सिद्ध की[57] तथा अन्य अलङ्कारों में भी उसका योग स्वीकार किया। उन्होंने वक्रोक्तियों में भी श्लेष को ही शोभाकारक माना—

"श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्"।[58]

आचार्य मम्मट ने शब्दालङ्कार के प्रकरण में श्लेष का लक्षण प्रस्तुत किया और उसे शब्दालङ्कार ही माना क्योंकि उसमें शब्द की ही प्रधानता रहती है और परिवृत्यसहता का तत्त्व विद्यमान रहता है। श्लेष अर्थालङ्कार तभी हो सकता है जब उस पद के स्थान पर पर्याय वाची पद रख देने पर भी अर्थ की द्व्यर्थकता में अन्तर न आये। मम्मट के अनन्तर अर्थ-श्लेष का लक्षण जयदेव ने प्रस्तुत किया। परवर्ती काव्य शास्त्र के आचार्यों ने भी प्राय सभी ने इसका लक्षण किया परन्तु किसी ने भी किसी नये तथ्य का संयोजन नहीं किया।

कादम्बरी में श्लेष अलङ्कार का चमत्कार सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। कथामुख के अन्तर्गत चाण्डाल कन्या के वर्णन में श्लेष की छटा ने काव्य को अनुपम सौन्दर्य प्रदान किया है—

"प्रावृषमिव घनकेशजालाम्, मलयमेखलामिव चन्दन पल्लवावतंसाम्, नक्षत्रमालामिव चित्रश्रवणाभरणभूषिताम्...... अरण्य भूमिमिव अक्षत रूप सम्पन्नाम् अतिशयरूपाकृतिमनिषमेलोचनो ददर्श"।[59]

यहां वर्षाकाल के समान चाण्डाल कन्या को बताया है। वर्षाकाल के पक्ष में धनाः मेधाः केशजालानि यस्याम् तथा चाण्डाल कन्या के पक्ष में धनाः सान्द्राः ये केशाः शिरोरुहाः तेषां जालानि समूहाः यस्याः ताम्-इस प्रकार अर्थ करके श्लेष अलङ्कार की यहां सृष्टि हुई। इसी प्रकार चित्रा और भरणी-नक्षत्रों से युक्त नक्षत्रमाला के समान विचित्र आभरणों से युक्त चाण्डाल कन्या का वर्णन श्लेष-गर्भित है। अक्षतरूप सम्पन्नाम् में सभंग श्लेष अलङ्कार है। अक्षत रूप सम्पदा वाली चाण्डाल कन्या की वन भूमि के साथ समानता अक्ष नामक वृक्ष से युक्त होने के कारण हुई है। चाण्डाल दारिका के पक्ष मे अक्षत रूप सम्पन्नाम् तथा अरण्य भूमि के अर्थ में अक्ष तरु सम्पन्नाम् होगा।

इसी प्रकार जाबालि ऋषि के आश्रम वर्णन में श्लेषालङ्कार की छटा अपूर्व है–

"असुरारिमिव प्रकटितवराहनरसिंहरूपम्, सांख्यमिव कपिलाधिष्ठितम, मधुरोपवनमिव बलावलीढदर्पित धेनुकम्, उदयनमिव आनन्दित वत्सकुलम्......................आश्रममपश्यम्" :[60]

(1) वराह और नरसिंह रूप धारण करने वाले विष्णु के समान वराह, नर, सिंह और रूप (मृग) आदि से युक्त जावालि आश्रम को,

(2) सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि से अधिष्ठित सांख्य के समान कपिल वर्ण की गायों से अधिष्ठित जावालि आश्रम को,

(3) बली और दर्पयुक्त धेनुक नामक राक्षक से युक्त मथुरा के उपवन के समान बलशाली एवं गर्वयुक्त नव प्रसव युक्त गायों से युक्त जावालि-आश्रम को,

(4) वत्स कुल को सुखी बनाने वाले उदयन के समान सुख से विहार करने वाले बछड़ों के कुल से युक्त उस आश्रम को, देखा।

प्रस्तुत वाक्य में 'वराह नरसिंह रूपम्, कपिलाधिष्ठितम्, बलावलीढ दर्पित धेमुकम् तथा आनन्दित वत्सकुलम्' में शब्दों के दो-दो अर्थ होने के कारण श्लेष अलङ्कार है।

कादम्बरी के कथामुख में राजा को लक्ष्य करके पढी गयी आर्या में सभंग श्लेस स्पष्टतया परिलक्षित हो रहा है—

"स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः।

चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्" ।[61]

प्रकृत पद्य में 'विमुक्ता हारम्' पद में सभंग श्लेष अलङ्कार है। रिपुस्त्रियों के पक्ष में वि = विगतः मुक्ता हारः मौक्तिकमाला यस्मात् तत् स्तनयुगम् इस व्युत्पत्ति से पति-विनाश के कारण रिपुस्त्रियों के स्तन युगल का हारों से रहित होना प्रदर्शित किया गया है। जिस प्रकार कोई तपस्वी तीनों काल स्नान करके हवन की अग्नि के समीप विद्यमान रहता हुआ आहार का परित्याग करता है उसी प्रकार पति के वियोग जन्य अश्रुओं से स्नान करता हुआ पति-विनाश-जनित हृदय स्थित शोकाग्नि के समीप रहकर मुक्ता के हार से वंचित होकर तपोनिरत सा रहता है।

इसी प्रकार अभंग श्लेष की छटा भी कथामुख के अन्तर्गग शाल्मली वृक्ष के वर्णन में द्रष्टव्य है—

"नव जलधर व्यूह इव नभसि दर्शितोन्नतिः .... विन्ध्याटवी मवस्थितो महान् जीर्णः शालमली बृक्षः" ।[62]

शबर सेनापति के वर्णन में—

"कैश्चित् मृगपतिभिरिव गजकुम्भमुक्तानिकरसनाथपाणिभिः .... परिवृतं .... शबर सेनापतिमपश्यम्" ।[63]

प्रथम उद्धरण में वह शालमली वृक्ष वन पंक्तियों से आवृत रहने के कारण वनमाला धारी विष्णु और आकाश में ऊंचाई तक छाये रहने के कारण नवीन मेध माला के समान प्रतीत होता था । नभसि शब्द आकाश और श्रावण मास दोनों अर्थों का बोधक है ।

द्वितीय उद्धरण में मृगपति के पंजो की तरह गज मुक्ताओं के समूह से उनकी मुट्ठियां परिपूर्ण थी ।

इस प्रकार ये दोनों वाक्यांश अभङ्ग-श्लेष का सुन्दर रूप प्रस्तुत करते हैं ।

उपमा

काव्य शास्त्र के मनीषियों द्वारा स्वीकृत अर्थालङ्कारों में उपमा को सर्वप्रथम गिना जाता है । अलङ्कार के मूल रूप में रस की अवस्थिति मानी गयी है । सादृश्यमूलक अलङ्कारों की तो यह आधार शिला है । विभिन्न आचार्यों ने इसके वैष्ट्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन किया है । आचार्य दण्डी[64] ने उपमा को अलङ्कार प्रपंच भूता, वामन[65] ने अलङ्कारों का मूल, राजशेखर[66] ने अलङ्कारों का शिरोरत्न, काव्य-सम्पदा का सर्वस्व एवं कवि वंश की माता, रुय्यक[67] ने अनेक अलङ्कार बीज रूपा तथा अप्पय दीक्षित[68] ने उसे शैलूषी कहा है ।

काव्य शास्त्र के आचार्यों में सर्वप्रथम आचार्य भरत[69] ने ही उपमा का विशद विवेचन किया । उन्होंने उपमा के लक्षण में सादृश्य में आकृति समाश्रय की मुख्यता स्वीकार की है । उनके उपमा के लक्षण में साम्य के हेतु की प्रधानता रहते हुए भी उसमें गुण और आकृति समाश्रय को प्रमुखता प्रदान की गयी है ।

साधारण धर्म के शब्द से उक्त होने अथवा अपेक्षित वाक्यार्थ में अन्वित होने पर 'इव' आदि पदों अथवा चमत्कार पूर्ण क्रिया के द्वारा साम्य के वाच्य होने की अवस्था में उपमालङ्कार माना जाता है । इस प्रकार कुन्तक के उपमा-लक्षण में तीन विशिष्ट तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं —

(1) मनोहारित्व,

(2) उत्कर्षवान् उपमान से साम्य तथा

(3) क्रिया पद की सुन्दरता ।

लक्षण में क्रिया सौन्दर्य की नवीन योजना का श्रेय कुन्तक को है ।

आचार्य भोज ने उपमा लक्षण में किसी नवीन तत्त्व का सन्निवेश नहीं किया । उन्होंने उसमें उपमान और उपमेय में अन्वय सामान्य (आकृति) का योग प्रधानत: स्वीकार किया ।[70]

आचार्य मम्मट ने उपमा लक्षण में केवल साधर्म्य की सत्ता का प्रतिपादन किया । लक्षण की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि उपमान और उपमेय का ही साधर्म्य होता है, कार्य कारण आदि का नहीं । इसलिए उनका समानधर्म-सम्बन्ध योजना ही उपमा कही गयी ।

आचार्य विश्वनाथ[71] ने उपमा के लक्षण में और सूक्ष्मता प्रस्तुत कर दी । इन्होंने एक वाक्य में दो पदार्थों के वैधर्म्य रहित वाच्य सादृश्य को उपमा की आख्या से बोधित किया है ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने उपमा के लक्षण में वाक्यार्थ या उपस्कारक सुन्दर सादृश्य को आवश्यक तत्व स्वीकार किया । लक्षण में दिये गये सुन्दर पद से तात्पर्य सौन्दर्य का होना है । सौन्दर्य का अभिप्राय चमत्कार जनकता; और विलक्षण आनन्द प्रदान करने की क्षमता है, जो सहृदय हृदय से प्रमाणित हो—

"सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारमुपमालंकृतिः" ।[72]

इस प्रकार पण्डितराज की दृष्टि में वाक्यार्थ को शोभित करने वाले जिस सादृश्य से सहृदयों के हृदय में एक विलक्षण आनन्द की उत्पत्ति हो, वह सादृश्य उपमालङ्कार की संज्ञा से अभिधेय है । इस प्रकार पण्डितराज का लक्षण अत्यन्त स्वस्थ और निर्दुष्ट है । इसके अनन्तर आचार्य विश्वेश्वर ने मम्मट से प्रभावित होकर उपमा के लक्षण में अधिक स्पष्ट शब्दों में चमत्कार-प्रयोजक सादृश्य की चर्चा की है ।[73] इस प्रकार उपमा-लक्षण में आचार्यों की रुचि भिन्नता का परिचय प्राप्त होता है ।

संस्कृत काव्य शास्त्र में आचार्यों ने उपमा के भेदोपभेदों की विस्तृत चर्चा की है । पण्डितराज जगन्नाथ ने उसके अनन्त भेद होने के कारण अन्त में उसे कवि बोध्या कह कर विराम लिया ।

रसिक हृदयों को मदमत्त कर देने वाली सुमधुर रस बरसाने वाली कादम्बरी मदिरा के समान है विशेष क्या कहा जाय इसमें हृदय ग्राहिणी

उपमाओं का रसायन किस गत जीवन को उल्लसित नहीं कर देता। कादम्बरी में महाकवि बाण ने उपमा अलंकार का सरस एवं विलक्षण प्रयोग किया है। यह अलंकार स्वतः ही प्रसृत होता सा प्रतीत होता है तथा कहीं भी कृत्रिमता की गन्ध भी इसकी योजना में नहीं है।

कथामुख के अन्तर्गत शूद्रक के वर्णन में उपमा का चमत्कार द्रष्टव्य है—

> **"चक्रधर इव कर कमलोपलक्ष्यमाण शंखचक्रलांछनः, हर इव जित-मन्मथः, गुह इव अप्रतिहतशक्तिः, कमलयोनिरिव विमानीकृत राजहंसः............ राजा शूद्रको नाम"** ।[74]

प्रस्तुत वाक्य में उपमेय राजा शूद्रक है तथा उपमान हैं चक्रधर, हर, गुह तथा कमल योनि,। यहां उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध रूप साधारण धर्म का उपादान किया गया है तथा 'इव' शब्द उसका वाचक शब्द है अतः पूर्णोपमा अलंकार का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार संध्या वर्णन में —

> **"अस्तमुपगते च भगवति सहस्रदीधितावपरार्णवतटात् उल्लसन्ती विद्रुम लतेव पाटला सन्ध्या समदृश्यत"** ।[75]

यहां विद्रुमलता 'इव' से उपमालङ्कार की सृष्टि होती है। पाटला सध्या-उपमेय का विद्रुमलता के साथ स्पष्ट साम्य 'इव' शब्द से बोधित होता है अतः यहां पूर्णोपमा अलंकार हुआ। उपमान और उपमेय का स्पष्ट भेद होते हुए यहां उनका साधर्म्य प्रतिपादित किया गया है।

उपमा के दो भेद माने गये हैं – पूर्णोपमा एवं लुप्तोपमा। पूर्णोपमा के विवेचन के अनन्तर उसके श्रौती और आर्थी भेद से यहां विवेचन अपेक्षित है।

आचार्य मम्मट ने[76] इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि उपमावाचक शब्दों में यथा, वा, इव आदि शब्दों तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दों के अर्थ बोधन में कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होता है। यथा, इव, वा आदि शब्द उपमान पद के विशेषण होते हैं और श्रवण करने के साथ ही साधारण धर्म के सम्बन्ध रूप सादृश्य का बोध कराते हैं इसलिए उनके प्रयोग में श्रौती उपमा कही जाती है। इसके विपरीत तुल्य, सदृश आदि दूसरे प्रकार के उपमा-वाचक शब्द, कभी उपमान के साथ कभी उपमेय के साथ और कभी दोनों के साथ अन्वित होते हैं। अतः उनमें विचार करने के अनन्तर साधारण धर्म के सम्बन्ध की प्रतीति होती है। इसलिए उनके प्रयोग में आर्थी उपमा मानी जाती है।

श्रौती उपमा

चन्द्रापीड के विद्यालय से निर्गमन के समय अश्व के वर्णन में श्रौती उपमा की छटा दर्शनीय है—

"उद्दण्ड मयूरातपत्र सहस्रान्धकारिताष्टदिङ्मुखतया स्फुरित शतमन्यु चापकलापकल्माषितमिव जलधरवृन्दम्" ।[77]

इस वाक्यांश में 'जलधर वृन्दम्' उपमान है 'अश्वसैन्यम्' उपमेय है तथा 'कल्माषितम्' यह साधारण धर्म है । जलधर वृन्द के समान नानावर्णता अश्वसैन्य में भी है । अतः यह पूर्णोपमा अलंकार है । 'इव' यहां उपमा प्रतिपादक शब्द है अतः श्रौती उपमा हुई ।

चन्द्रापीड के दिग्विजय यात्रा के वर्णन में भी यह अलङ्कार स्पष्ट है—

"विकच कुवलय वनमिव नवोदकेन गगनतलमवष्टभ्यमानमलक्ष्यत क्षीरोदफेन पाण्डुना क्षितिक्षोदेन" ।[78]

प्रस्तुत वाक्य में 'विकच कुवलय वनम्' उपमान है, 'गगन तलम्' उपमेय है 'आच्छाद्यमानता' दोनों में साधारण धर्म है । दो भिन्न-भिन्न पदों में साधर्म्य का बोध होता है अतः यहां पूर्णोपमा अलङ्कार है । यहां उपमा वाचक 'इव' शब्द का प्रयोग हुआ है अतः श्रौती उपमा हुई ।

आर्थी उपमा

तुल्य, सदृश आदि पदों के प्रयोग में साधर्म्य के आर्थ होने से अर्थात् 'इव' आदि के समान वाच्य न होने के कारण आर्थी उपमा[79] कही जाती है । यहां साधारण धर्म के सम्बन्ध का विचार करने पर तुल्यता की प्रतीति होती है । कथा मुख के अन्तर्गत राजा शूद्रक के वर्णन में आर्थी उपमा स्पष्टतया परिलक्षित होती है—

"यश्च मनसि धर्मेण, कोपे यमेन, प्रसादे धनदेन, प्रतापे वह्निना, भुजे भुवा, दृशि श्रिया, वाचि सरस्वत्या, मुखे शशिना, बले मरुता, प्रज्ञायां सुरगुरुणा, रूपे मनसिजेन, तेजसि सवित्रा च वसता सर्वदेवमयस्य प्रकटित विश्वरूपाकृतेरनुकरोति भगवतो नारायणस्य" ।[80]

यहां राजा शूद्रक (यश्च) उपमेय है, भगवान् नारायण उपमान है साधारण धर्म-'प्रकटित विश्व रूपाकृति' दोनों-राजा शूद्रक एवं नारायण में समान है । दो भिन्न भिन्न पदार्थों का सादृश्य यहां प्रदर्शित किया गया है अतः पूर्णोपमा अलङ्कार है । प्रस्तुत वाक्य में औपम्य वाचक पद का प्रयोग नहीं हुआ है अतः आर्थी उपमा हुई ।

इसके अतिरिक्त राजा शूद्रक के वर्णन में मंत्रियों का वर्णन भी द्रष्टव्य है—

"अमरगुरुमपि प्रज्ञयोपहसद्भिः.................अमात्यैः परिवृतः"[81]

'अमर गुरु' यहां उपमान है, 'अमात्य' उपमेय है। औपम्य बोधक 'इव' आदि शब्दों के उपादान का अभाव है और यहां तुल्यता की प्रतीति होती है अतः आर्थी उपमा अलंकार है।

लुप्तोपमा

पूर्णोपमा में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और उपमावाचक शब्द–ये चारों शब्दतः उपात्त होते हैं। अर्थात् उपमा की समस्त सामग्री के शब्दतः उपस्थित रहने के कारण ही इसको पूर्णोपमा कहा जाता है। लुप्तोपमा में यह समस्त सामग्री शब्दतः उपात्त नहीं होती। उपमान आदि चारों में से किसी न किसी का अभाव अवश्य रहता है। अतएव इसे लुप्तोपमा कहा जाता है। यह लोप उपमान आदि चारों में से कभी किसी एक का, कभी किन्हीं दो का और कभी किन्हीं तीन का भी हो सकता है। इस प्रकार लुप्तोपमा के उन्नीस भेदों की कल्पना की गयी है 1. धर्मलुप्ता, 2. वाचक लुप्ता, 3. उपमान लुप्ता, 4. धर्म-वाचक लुप्ता, 5. धर्म-उपमान लुप्ता 6. वाचक-उपमेय लुप्ता तथा 7. उपमान, उपमावाचक तथा साधारण धर्म लुप्ता।

चन्द्रापीड-दिग्विजय-यात्रा के प्रसंग में 'रज' वर्णन के इस वाक्य में लुप्तोपमा अलंकार स्पष्ट है—

"महावराहकेशर निकर कर्बुरेण, प्रलयानल धूमराजिमांसलेन.......

त्रिभुवनमलङ्ध्यत रजसा।"[82]

प्रस्तुत वाक्यांश में दोनों ही पदों में लुप्तोपमा अलंकार है। यहां उपमावाचक शब्द का लोप हुआ है।

राजा तारापीड के राजभोग विलास का यह वर्णन लुप्तोपमा अलंकार से परिपुष्ट है—

"स राजा बाल एव सुरकुञ्जरकरपीवरेण, राजलक्ष्मी लीलोपधानेन, सकल जगदभय प्रदान शौण्डेन, रणयज्ञ दीक्षायूपेन, स्फुरदसिलता मरीचिजालजटिलेन, निखिलारातिकुलप्रलय धूमकेतुना बाहुदण्डेन विजित्य सप्तद्वीपबलयां वसुन्धरां.................कर्तव्य शेष मपरमपश्यत्।"[83]

प्रस्तुत वाक्य में सुर कुञ्जरस्य करवत् पीवरेण बाहुदण्डेन में 'बाहुदण्ड'

उपमेय है 'सुरकुञ्जर कर' उपमान है 'पीवरता' इनमें समान होने से साधारण धर्म है तथा वाचक का लोप होने से अर्थात् शब्दतः उपात्त न होने से इसमें वाचक लुप्ता उपमा है।

चन्द्रापीड के विद्यालय से निर्गमन के वर्णन में अनेक प्रकार की उपमाएँ एकत्र चित्रित हैं—

"सकल राजन्यकुलकुमुदखण्ड चन्द्रमण्डलेनेव तुरङ्गमसेनास्रवन्ती-पुलिनायमानेन, क्षीरोदफेनधवलित वासुकिफणामण्डलच्छबिना स्थूलमुक्ताकलापजालकावृतेन, उपरिचिह्नीकृत केसरिणमुद्वहता अतिमहता कार्तस्वरदण्डेन ध्रियमाणेनातपत्रेण निवारितातपः............ नगराभिमुखं प्रतस्थे।"[84]

प्रस्तुत वाक्य में 'सकल राजन्य कुल कुमुदखड' में लुप्तोपमा, चन्द्र मण्डलेनेव में श्रौती उपमा, तुरङ्गमसेना' में निरङ्ग रूपक तथा पुलिनायमानेन में क्यङ्गता उपमा तथा वासुकिफणामण्डलच्छबिना' में लुप्तोपमा अलंकार हे।

मालोपमा

साधारण धर्म के भिन्न होने पर अनेक उपमानों के उपादान को आचार्य मम्मट[85] ने मालोपमा की संज्ञा दी है। मम्मट ने इसका अन्य उपमा भेदों में अर्न्तभाव मानकर, लक्षण नहीं दिया। आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा अधिक स्पष्ट एवं युक्ति युक्त है—मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते।[86]

सार यह है कि एक उपमेय का अनेक उपमानों से जहाँ सादृश्य का बोध कराया जाय वहा मालोपमा अलंकार होता है।

कादम्बरी कथा के विलासवती के वर्णन के प्रसंग में मालोपमा की छटा दर्शनीय है—

अथ तस्य चन्द्रलेखेव हरजटाकलापस्य, कौस्तुभप्रभेव कैटभारिवक्षः-स्थलस्य, वनमालेव मुसलायुधस्य, वेलेव सागरस्य, मदलेखेव दिग्ग-जस्य, लतेव पादपस्य, कुसुमोन्नतिरिव सुरभिमासस्य, चन्द्रिकेव चन्द्रमसः, कमलिनीव सरसः, तारकापंक्तिरिव नभसः, हंसमालेव मानसस्य, चन्दनवनराजिरिव मलयस्य, फणामणिशिखेव शेषस्य, भूषणमभूत् त्रिभुवनविस्मयजननी जननीव वनिता विभ्रमाणां सकलान्तः पुर प्रधानभूता महिषी विलासवती नाम।[87]

प्रस्तुत वाक्य में तस्य 'विलासवती' उपमेय एक है और चन्द्रलेखेव, कौस्तुभप्रभेव, वनमालेव, वेलेव, मदलेखेव, लतेव, कुसुमोन्नतिरिव, चन्द्रिकेव, कमलिनीव, तारकापंक्तिरिव, हंसमालेव, चन्दनवनराजिरिव, फणामणिशिखेव आदि उपमानों की माला अर्थात् अनेक उपमानों का उपादान किया गया है अतः यहां मालोपमा अलंकार है।

महाश्वेता की काम दशा के वर्णन में पुण्डरीक के प्रति महाश्वेता इस प्रकार अनुरक्त थी जिस प्रकार सूर्य के प्रति कमलिनी, चन्द्रमा के प्रति समुद्र का जल और मेघ के प्रति मयूरी—

कमलिनीव सवितुः, सागरवेलेव चन्द्रमसः, मयूरीव जलधरस्य, तस्यैवाभिमुखी..........अतिष्ठम् ।"[88]

यहां अनेक उपमानों का उपादान किया गया है अतः मालोपमा की अनुपम छटा से काव्य की कमनीयता में जो अभिवृद्धि होती है, वह केवल सहृदय हृदय संवेद्य है।

रूपक

रूपक अलंकार को परिभाषित करते हुए आचार्य भरत ने नाना द्रव्यों के अनुषङ्ग द्वारा गुणाश्रित औपम्य, रूप निर्वर्णना, स्वविकल्प विरचित तुल्यावयव लक्षण तथा किंचित् सादृश्य सम्पन्नता का होना आवश्यक प्रतिपादित किया है।[89] आचार्य भामह ने रूपक-लक्षण की दुरूहता को दूर कर सरलता एवं स्पष्टता को उसमें समाहित किया। उनके अनुसार उपमान के साथ समानता को देखकर उपमेय में जो उपमान का आरोप किया जाता है, वही रूपक है।[90] आचार्य दण्डी ने रूपक को उपमा का वह स्वरूप माना, जिसमें प्रकृत एवं अप्रकृत का भेद तिरोहित हो जाता है—

"उपमेव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ।"[91]

आचार्य मम्मट ने गुणातिशयता, किंचित् सादृश्य तथा उपमेय तिरोभूतभेदा आदि कथनों का सर्वथा त्याग किया और उपमान और उपमेय के अभेद वर्णन को रूपक कहा। आचार्य विश्वनाथ ने रूपक के लक्षण में रूपित और निरपह्नवे पदों का निवेश कर परिणाम और अपह्नुति अलंकारों को रूपक से व्यावृत्त करने का प्रयास किया।

पण्डित राज जगन्नाथ[92] का लक्षण अपना वैशिष्टच लिये हुए है। यद्यपि रूपक-लक्षण में कोई नवीनता का समावेश उन्होंने नहीं किया तथापि नवीन शब्दों के विन्यास से विवेचन में नवीनता आ गयी है। उनके 'उपमेयावच्छेदक' शब्द से अपह्नुति, भ्रान्तिमान् अतिशयोक्ति एवं निदर्शना का 'शब्दात्'

से 'आहार्य निश्चय का,' 'निश्चीयमान' पद से वस्तूत्प्रेक्षा का निवारण कर दिया गया है।

इस प्रकार रूपक के लक्षण को सादृश्य मूलक अलंकारों में विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया। अभेदात्मकता ने मम्मट के काल में बल पकडा और जगन्नाथ के युग में सूक्ष्मता की चरम सीमा का स्पर्श करता हुआ यह अलंकार चमत्कारिकता से विकसित हुआ।

कादम्बरी में रूपक अलंकार के उदाहरण अनायास ही आ गये हैं। पम्पा नामक सरोवर के वर्णन के सन्दर्भ में यह वाक्य रूपक से अनुप्राणित है —

"अनवरत मज्जदुन्मद शबरकामिनी कुच-कलस लुलितजलम्।"[93]

प्रस्तुत वाक्य में कुच एवं कलश इस विग्रह से उपमेय 'कुच' में उपमान 'कलश' का अभेदारोप किया गया है अतः यहां रूपक अलंकार हुआ।

रूपक अलंकार के साङ्ग और निरङ्ग रूप से दो भेद किये गये है।

जब उपमान के समस्त अङ्गों अर्थात् अवयवों का उपमेय के समस्त अङ्गों से साम्य प्रदर्शन किया जाय अर्थात् उपमेय के समस्त अवयवों पर उपमान के समस्त अवयवों का अभेदारोप हो तब साङ्ग रूपक अलंकार कहा जाता है।

विलासवती के दुःख-कारण के प्रश्न के वर्णन में साङ्ग रूपक स्पष्टतया परिलक्षित होता है—

"कुसुमशरसरः कलहंसकौ कस्मात् पादपङ्कजस्पर्शेन नानुगृहीतौ मणिनूपुरौ।"[94]

प्रकृत उद्धरण में कुसुम शरस्य यत् सरः इति कुसुमशरसरः में तथा पादौ एव पङ्कजे इति पादपङ्कजे में समस्त वस्तु विषयक साङ्गरूपक अलंकार स्पष्ट है।

साङ्गरूपक के विपरीत शुद्ध अर्थात् अङ्गाङ्गीभाव से रहित, अन्य रूपकों से अमिश्रित केवल एक अद्वितीय रूपक निरङ्ग रूपक कहलाता है।[95]

कथामुख के अन्तर्गत शूद्रक के वर्णन में इस अलंकार के दर्शन होते हैं—

"उत्पातकेतुरिवाहित जनस्य.........राजा शूद्रको नाम।"[96]

प्रकृत वाक्यांश में उपमेय राजा में उपमान भूत केवल उत्पात केतु का अभेदारोप किया गया है अतः इसमें रूपक अलंकार हुआ।

इसी प्रकार राजा शूद्रक के वर्णन में भी यह अलंकार स्पष्ट है—

"यस्य च हृदयस्थितानपि पतीन् दिधक्षुरिव प्रतापानलो वियोगिनीनामपि रिपुसुन्दरीणामन्तर्जनित दाहो दिवानिशं जज्वाल ।"[97]

इस वाक्य में उपमेय भूत प्रताप में उपमान भूत अग्नि का आरोप किया गया है और यह निरवयव आरोप है, समस्त वस्तुविषयक आरोप नहीं अतः वहां निरङ्गरूपक अलंकार हुआ ।

रूपक का एक भेद और भी है और वह है-परम्परित रूपक । श्लिष्ट अथवा अश्लिष्ट शब्दों के होने पर जो अन्य का आरोप अन्य अर्थ के आरोप का निमित्त बनता है, वह परम्परित रूपक कहलाता है । वह श्लेष मूलक एवं अश्लेष मूलक होने से दो प्रकार का होता है ।

कथामुख के अन्तर्गत चाण्डाल कन्या के वर्णन में इस अलंकार की झांकी दिखाई देती है—

"अनङ्ग वारण शिरोनक्षत्रमालायमानेन रोमराजिलतालबालकेन रशनादाम्ना परिगत जधनस्थलाम् ।"[98]

प्रकृत गद्य-खंड में 'रोम राजि' में 'लतात्व' का आरोप 'रशनादाम' में 'आलबालत्व' के आरोप में निमित्त हुआ है अतः परम्परित रूपक अलंकार हुआ ।

यह श्लेष युक्त न होने के कारण अश्लिष्ट परम्परित रूपक अलंकार के अन्तर्गत समाहित होगा ।

जाबालि आश्रम के वर्णन में रूपक की छवि मनोमोहक बन पड़ी है-

"एष प्रवाहः करुणरसस्य, सन्तरणसेतुः संसारसिन्धोः, आधारः क्षमाम्भसाम्, परशुस्तृष्णालतागहनस्य, सागरः सन्तोषामृतरसस्य, उपदेष्टा सिद्धिमार्गस्य, अस्तगिरिरसद् गृहस्य, मूलमुपशमतरोः, नाभिः प्रज्ञाचक्रस्य,प्रासादो धर्मध्वजस्य, तीर्थं सर्वविद्यावतारणां, वडवानलो लोभार्णवस्य, निकषोपलः शास्त्र रत्नानाम्, दावानलो रागपल्लवस्य, महामन्त्रः क्रोध भुजङ्गस्य, दिवसकरो मोहान्धकारस्य ।"[99]

यहां "करुण रसस्य से लेकर मोहान्धकारस्य" पर्यन्त प्रायः सर्वत्र परम्परित रूपक अलंकार है । इसके अतिरिक्त 'मूलमुपशमतरोः' में 'मूलं' पद श्लेष युक्त है 'मूलं' का अर्थ ब्रह्म अथवा कारण-दोनो होते हैं अतः यहां यह शिलष्ट परम्परित रूपक हुआ ।

इसी प्रकार चन्द्रापीड के यौवनारम्भ वर्णन के प्रसंग में यह अलंकार स्पष्ट है—

"सकल-राजन्यवंश-वन-दावानलस्य परशुरामस्येव अस्य नाराचाः शिखरिशिलातलभिदो बभूवु ।"[100]

प्रस्तुत वाक्य में 'सकल-राजन्य वंश-वन-दावानलस्य' में श्लिष्ट परम्परित रूपक अलंकार है। यहां वंश पद श्लिष्ट है।

अर्थान्तरन्यास

आचार्य भामह ने[101] अर्थान्तरन्यास अलंकार की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उचित अर्थ के आदर के लिए समर्थन के लिए, अन्य अर्थ का न्यास, करना ही अर्थान्तरन्यास का चमत्कारक तत्त्व माना है। 'हि' शब्द का प्रयोग इसीलिए बलदायक तथा अलंकार-साधक माना गया।

आचार्य मम्मट ने सामान्य और विशेष के पारस्परिक समर्थन को स्पष्ट कर दिया—

सामान्यं वा विशेषो वा यदन्येन समर्थ्यते
यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।[102]

अर्थात् आचार्य मम्मट की दृष्टि में सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से साधर्म्य या वैधर्म्य से समर्थन-वर्णन ही अर्थान्तर न्यास की सीमा के अन्तर्गत गिना जाता है।

कादम्बरी के शुक शावक निपात वर्णन में अर्थान्तरन्यास अलंकार की छटा मनोरम है—

[103]**"किमिव हि दुष्करमकरुणानाम् ? यतः स तमनेकतालतुङ्गमभ्रङ्कष शाखाशिखरमपि सोपानैरिवायत्नेनैव पादपमारुह्यताननुपजातोत्पतन-शक्तीन् काँश्चिदल्पदिवसजातान् गर्भच्छविपाटलान्.......काँश्चिदनवरत शिरः-कम्पव्याजेन निवारयत इव प्रतीकारासमर्थान् एकैकशः फलानीव तस्य वनस्पतेः शाखासन्धिभ्यः कोटरान्तरेभ्यश्च शुकशावकानग्रहीत्, अपगतासूंश्च कृत्वा क्षितावपातयत्।**

प्रस्तुत वाक्य में 'किमिव हि दुष्करमकरुणानाम् का' 'यतः स' इत्यादि के द्वारा समर्थन करने से सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार हुआ।

तथा शुक के द्वारा अपनी अवस्था के वर्णन में भी यह अलंकार स्पष्टतथा परिलक्षित होता है—

"सर्वथा न कञ्चिन् न खलीकरोति जीवित तृष्णा, यदीदृशावस्थमपि मामायासयति जलाभिलाषः।"[104]

प्रस्तुत वाक्य में जीवन की तृष्णा किसे तुच्छ नहीं बना डालती इस सामान्य वाक्य का ऐसी दुःखमयी अवस्था में भी आयास का उत्पन्न करना-विशेष वाक्य से समर्थन किया गया है अतः विशेष से सामान्य का समर्थन रूप यह अर्थान्तरन्यास अलंकार हुआ।

इसी प्रकार महाश्वेता के द्वारा दिये गये फलों को देख कर आश्चर्य चकित चन्द्रापीड के कथन में भी यह अलंकार रमणीय है—

"आसीच्च तस्य चेतसि नास्ति असाध्यं नाम तपसाम्। किमतः परमाश्चर्यम्, यदत्र व्यपगतचेतना अपि सचेतना इवास्यै भगवत्यै समतिसृजन्तः फलान्यात्मानुग्रहमुपपादयन्ति वनस्पतयः।"[105]

प्रस्तुत वाक्य में 'नास्ति खल्वसाध्यं नाम तपसाम्' इस सामान्य वस्तु का अचेतनों के द्वारा सचेतनवत् फल प्रदान करना-इस विशेष वस्तु से समर्थन किया गया है अतः विशेष से सामान्य समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार हुआ।

महाश्वेता के द्वारा पुण्डरीक के दर्शनजन्य अनुरक्ति के वर्णन में कारण कार्य समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास की शोभा द्रष्टव्य है—

"कदाचिदनभिमत स्मर विकार दर्शन कुपितोऽयं शापाभिज्ञां करोति माम्। अदूर कोपा हि मुनिजन प्रकृतिः।"[106]

प्रकृत वाक्य में प्रथम वाक्य खण्ड-कदाचित् करोति माम्-रूप कार्य का 'अदूरकोपाहि मुनिजन प्रकृतिः' रूप कार्य से समर्थन किया गया है अतः यहां अर्थान्तरन्यास अलंकार हुआ।

सर्वप्रथम व्यतिरेक

आचार्य भामह ने व्यतिरेक अलंकार का लक्षण-निरूपण किया तथा उपमान वाले अर्थ के विशेष निदर्शन को ही उसमें आवश्यक तत्त्व माना।[107] दण्डी के मतानुसार उपमान और उपमेय में शब्दोपात्त या प्रतीतिगत सादृश्य का भेद कथन ही व्यतिरेक अलंकार के नाम से बोधित होता है। उन्होंने श्लेष को भी व्यतिरेक का आधार स्वीकार किया है।

वामन एवं मम्मट–दोनों ही व्यतिरेक–लक्षण में उपमेय की उत्कृष्टता के पक्षपाती रहे हैं। कुन्तक ने भी श्लेष को व्यतिरेक का आधार स्वीकार किया।[108]

पण्डित राज जगन्नाथ ने भी उपमेय के उत्कर्ष अथवा आधिक्य के दर्शन में ही व्यतिरेक अलंकार माना है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि उपमान से उपमेय का जहां 'विशेषेण अतिरेक' अर्थात् विशेष आधिक्य वर्णन ही व्यतिरेक अलंकार का क्षेत्र है।

शुकनास द्वारा चन्द्रापीड की प्रशंसा के वर्णन में व्यतिरेक अलंकार का सौन्दर्य दर्शनीय है—

"हरिवक्षः स्थल निवासासद्ग्रह व्यसनितया हता खलु लक्ष्मीः, या विग्रहवती भवन्तं नोपसर्पति।"[109]

प्रस्तुत वाक्य में 'लक्ष्मी नारायण के वक्षः स्थल में वास करने के दुराग्रह में फँसकर विधाता द्वारा वंचित हुई है, जो शरीर धारण कर अब भी तुह्मारे निकट नहीं आती है, कह कर कवि ने राजपुत्र चन्द्रापीड को भगवान् नारायण से भी बढ़ कर प्रतिपादित किया है। यहां उपमेय चन्द्रापीड का उपमान रूप भगवान् नारायण से आधिक्य वर्णित किया गया है अतः व्यतिरेक अलंकार है।

इसी प्रकार चन्द्रापीड को प्रदत्त उपहार-वर्णन में भी व्यतिरेक का चमत्कार अनुपम है—

न च नारायणोऽत्रभवन्तमतिरिच्यते, नापि कौस्तुभमणिरणुनापि गुणलवेन शेषमतिशेते नापि कादम्बरीमाकारानुकृतिकलयाप्यल्पीयस्या लक्ष्मीरनुगन्तुमलम्।[110]

प्रकृत वाक्य में उपमेय भूत चन्द्रापीड का उपमान भूत नारायण से, उपमेय रूप हार का उपमान रूप कौस्तुभ मणि से तथा उपमेय रूप कादम्बरी का उपमान स्वरूप लक्ष्मी से आधिक्य प्रदर्शित किया गया है अतः यहां व्यतिरेक अलंकार है।

विभावना

आचार्य भामह ने विभावना अलंकार के लक्षण में कारण के अर्थ में क्रिया शब्द का प्रयोग किया है। 'क्रियते अनया इति क्रिया' उस व्युत्पत्ति से क्रिया शब्द कारण का बोध कराता है। भामह के अनुसार क्रिया का प्रतिषेध

होने पर उससे सम्बद्ध फल का जहाँ विभावन हो वह विभावना अलंकार होता हैं।[111] आचार्य दण्डी ने विभावना के मूल में प्रसिद्ध हेतु की व्यावृत्ति तथा कारणान्तर की कल्पना के साथ ही स्वाभाविकता और विभावन को आवश्यक माना।[112] विभावना के लक्षण में स्वाभाविकता का भी निदर्शन दण्डी ने किया, वह औचित्य पूर्ण है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार अलंकार शास्त्र में इस अलंकार का विकास कवि प्रतिभा से कारण–कार्य की उत्पत्ति सम्बन्धी शाश्वतिकता का विरोध करने के लिए हुआ। अप्पय दीक्षित ने पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों के अतिरिक्त हेतुओं की असमग्रता होने पर भी कार्य जनन अर्थात् कार्योत्पत्ति में प्रतिबन्धकता होने पर भी कार्योत्पत्ति तथा प्रसिद्ध कारण से भिन्न कारण से भी कार्योत्पत्ति को जोड दिया। उन्होंने विरोधी कारण से कार्य जन्म तथा कार्य से कारण जन्म भी विभावना लक्षण में समाविष्ट कर दिया।[113] कार्य से कारण जन्म की उनकी यह चर्चा पूर्वाचार्यों से सर्वथा नवीन है। हेतु की असमग्रता में दण्डी विशेषोक्ति मानते हैं, जो अप्पय दीक्षित के काल में विभावना के लक्षण में समाविष्ट हो गयी। परन्तु अन्ततोगत्वा कारण के बिना कार्योत्पति को ही विभावना माना गया है।

कादम्बरी वार्ता श्रवण के वर्णन में विभावना का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है—

> **"साहं न संकल्पिता पित्रा, न दत्ता मात्रा, नानुमोदिता गुरुभिः, न किञ्चित् सन्दिशामि, न किञ्चित् प्रेषयामि, नाकारं दर्शयामि, कातरेव अनाथेव नीचेव बलादवलिप्तेन गुरुगर्हणीयतां नीता कुमारेण चन्द्रापीडेन।"**[114]

प्रस्तुत वाक्य में कारण के अभाव में महानिन्दनीयता प्राप्ति रूप कार्य की उत्पत्ति हुई हैं, अतः विभावना है। इसी प्रकार कथामुखान्तर्गत राजा शूद्रक के वर्णन प्रसंग में यह अलंकार काव्य शोभा की अभिवृद्धि करता है—

> **"तस्य च अतिविजीगीषुतया महासत्त्वतया च तृणमिव लघुवृत्ति स्त्रैणमाकलयतः प्रथमे वयसि वर्तमानस्यातिरूपवतोऽपि सन्तानार्थिभिरमात्यैरपेक्षितस्यापि सुरत सुखस्योपरि द्वेष इव आसीत्।"**[115]

प्रस्तुत उद्धरण में सुरत सुख में द्वेष होने के कारण के न रहने पर भी सुरत सुख में द्वेष रूपी कार्य की उत्पत्ति होती हैं अतः इसमें विभावना

अलंकार माना जाता है। परन्तु साथ ही यह विशेषोक्ति का भी उदाहरण बन सकता है। कारण के होने पर भी कार्योत्पत्ति के अभाव में विशेषोक्ति कही जाती है। प्रस्तुत वाक्य में तारुण्य, रूपवत्ता तथा अमात्य आदि के द्वारा अपेक्षिततता रूप कारणों के विद्यमान रहने पर भी सुरत सुख रूप कार्य की उत्पत्ति का उपादान नहीं किया गया है अतः यह विशेषोक्ति का भी विषय है।

विशेषोक्ति

आचार्य भरत[116] ने विशेषण को भूषणों के अन्तर्गत मानकर उसका लक्षण प्रस्तुत किया कि बहुत से सिद्ध तथा प्रधान अर्थों को कह कर जहां प्रयोग किया जाता है, और जो विशेषतायुक्त वचन होता है, उसे विशेषण माना गया है। विशेष–युक्तता के लिए भामह भरत के उपकृत हैं। आचार्य भामह[117] ने अपने विशेषोक्ति के लक्षण में प्रतिपादित किया कि एक देश से विगत हो जाने पर भी जहाँ अन्यत्र गुणान्तर की स्थिति विशेषता प्रदान के लिए प्रयुक्त हो, वहां विशेषोक्ति को स्वीकार किया जाता है। आचार्य दण्डी ने जाति, गुण, क्रिया आदि के विफलता—प्रदर्शन द्वारा प्रस्तुत के विशेष दर्शन को विशेषोक्ति की संज्ञा दी।[118]

अन्त में यही कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण कारणों के विद्ययमान रहने पर भी जहाँ कार्य की उत्पत्ति का वर्णन नहीं किया जाय वहीं विशेषोक्ति अलंकार होता है।

लक्ष्मी—निन्दा के सन्दर्भ में विशेषोक्ति अलंकार की झांकी दृष्टिगोचर होती है—

"अप्रत्ययबहुला च दिवसान्तकमलमिवसमुपचितमूलदण्डकोषमण्डलमपि मुञ्चति भूभुजम्।"[119]

प्रस्तुत वाक्य में मूल, दण्ड, कोष मण्डल आदि की वृद्धि रूप कारण के होते हुए भी 'अपरित्याग रूप' कार्य की उत्पत्ति का अभाव कहा गया है। अतः विशेषोक्ति का यह स्थल है।

चन्द्रापीड दिग्विजय—प्रस्थान के वर्णन में वामन द्वारा निर्दिष्ट लक्षण के अनुसार विशेषोक्ति अलंकार है। वामन के अनुसार—"एक गुणहानि कल्पनायां समस्त गुणदाढ्यं विशेषोक्तिः" विशेषोक्ति का लक्षण है। कादम्बरी के इस वाक्य में—

"अनपहृतचेतनेन निद्रागमेन, अनवगणित सूर्येण अन्धकारेण,

अघर्म्मकालोपस्थितेन भूमिगृहेण, अनुदित तारागणनिवहेन बहुल-निशाप्रदोषेण, अपतितसलिलेन जलधर समयेन, अभ्रान्त भुजङ्गेन रसातलेन हरिचरणेनेव संवर्धमानेन त्रिभुवनमलंध्यत रजसा।''[120]

प्रस्तुत उद्धरण में एक गुण की हानि की कल्पना की गयी है अतः वामनोक्त लक्षण के आधार पर यहां विशेषोक्ति अलंकार हुआ।

अतिशयोक्ति

आचार्य भरत[121] ने भूषणों में एक अतिशय को भी स्वीकार किया है। सामान्यजनों में होने वाले बहुत से गुणों का संकीर्तन करके जो विशेष का कीर्तन किया जाता है उसे अतिशय कहा गया है। अर्थात् सामान्यों में विशेष का कीर्तन अतिशय के नाम से व्यवहृत होता है।

आचार्य भामह[122] ने इस अतिशय उक्ति--अतिशयोक्ति को ही सर्वालंकारमूला माना है। अतिशयोक्ति के लक्षण में भामह ने 'लोकातिक्रान्त-गोचर' वचन का निमित्त से कथन ही अतिशयोक्ति माना। गुणों के अतिशय के योग के कारण उन्होंने इसे आदि अलंकार कहा। उनकी दृष्टि में अतिशयोक्ति चमत्काराश्रित अलंकारों की जननी है। अतिशयोक्ति को लोकसीमातिर्वातिनी मानने में दण्डी भामह से उपकृत है। दण्डी[123] ने अतिशयोक्ति के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा कि वाचस्पति से पूजित इस अतिशयोक्ति को कविगण अन्यालंकार परागण अर्थात् अन्य अलंकारों का परम आश्रय, मानते है। आचार्य उद्भट ने इसमें कार्य –कारण का पौर्वापर्य विपर्यय और जोड दिया।

मम्मट पूर्ववर्ती उद्भट के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के लक्षण में अतिशयता की चर्चा तो थी परन्तु मम्मट ने भेदोपभेद-कल्पना के साथ वर्णित अतिशयोक्ति के वर्णन में उपमान द्वारा उपमेय को निगीर्ण करके अध्यवसान करना–प्रस्तुत अर्थ का अन्य रूप से वर्णन, यदि के समानार्थक शब्दों की योजना से कल्पना तथा कार्य और कारण के पौर्वापर्य का विपर्यय–कथन भी समन्वित कर दिया।[124] इस प्रकार अध्यवसाय, पौर्वापर्य-विपर्यय आदि शब्द योजना से लक्षण में नया विकास हुआ। सर्वत्र व्याप्त रहने वाले अतिशयोक्ति अलंकार की सीमाएँ अब सकुचित होने लगी तथा उसका पृथक् स्वरूप निश्चित होने लगा।

उक्त विवरण के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस अलंकार में निगरण और अध्यवसाय पद का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। उपमान द्वारा उपमेय का निगरण और अभेद कथन रूप अध्यवसाय करना ही

अतिशयोक्ति है। आचार्य मम्मट से लेकर अप्पय दीक्षित तक इस लक्षण में शाब्दिक परिवर्तन के अतिरिक्त कोई नवीन तथ्य प्रस्तुत नहीं हुआ। मूल अर्थ वही बना रहा। निगरण की चर्चा सर्व प्रथम मम्मट ने की और वह अप्पय दीक्षित पर आकर सुदृढ हो गयी।

कथा मुखान्तर्गत सन्ध्या वर्णन में अतिशयोक्ति की छटा द्रष्टव्य है—

"उद्यत् सप्तर्षिसार्थस्पर्शपरिजिहीर्षयेव संहृतपादः पारावत पाद पाटल रागो रविरम्बरतलादवालम्बत।"[125]

प्रस्तुत उद्धरण में रश्मि और चरण दोनों में भेद होने पर भी पादश्लेष के द्वारा अभेद का अध्यवसाय किया गया है अतः अतिशयोक्ति अलंकार है।

इसी प्रकार उत्कण्ठित चन्द्रपीड की चिन्ता के वर्णन में भी इस अलंकार का चमत्कार मनोरम है—

"यतस्तिमिरोपहतेव यूनां दृष्टिरल्पमपि कालुष्यं महत् पश्यति।"[126]

प्रकृत वाक्य में मनोवृत्ति और लोचन में भेद होने पर भी श्लेष अलंकार के द्वारा अभेद का अध्यवसाय किया गया है अतः यह अतिशयोक्ति अलकार का स्थल है।

कथा मुखान्तर्गत शूद्रक के वर्णन के प्रसंग में भी इस अलकार का सौन्दर्य आप्यायित है—

"तस्य च राज्ञः कलिकालभयपुञ्जीभूत कृतयुगानुकारिणी त्रिभुवन-प्रसवभूमिरिव विस्तीर्णा मज्जन्मालवविलासिनी कुचतटास्फालन जर्जरितोर्मिमालया जलावगाहनावतारित जयकुंजर कुम्भसिन्दूर-सन्ध्यायमानसलिलया उन्मद कलहंसकुल कोलाहलमुखरीकृतकूलया वेत्रवत्या सरिता परिगता विदिशाभिधाना नगरी राजधान्यासीत्।[127]

प्रस्तुत उद्धरण में 'मज्जन्मालव विलासिनी कुचतटास्फालन जर्जरितोर्मिमालया' में कुच-तट की टक्कर से ऊर्मिमाला के जर्जरित होने में असम्बन्ध में सम्बन्ध के प्रतिपादन होने से अतिशयोक्ति अलंकार हुआ।

इसी प्रकार कथामुखान्तर्गत अगस्त्याश्रम-वर्णन में भी अतिशयोक्ति अलंकार का चमत्कार दर्शनीय है—

"भगवतो रामस्य त्रिभुवन विवरव्यापिनश्चापघोषस्य स्मरन्तो न गृह्णन्ति सम्यक् शष्पकवलमजस्रमश्रुजललुलितदीनदृष्टयो वीक्ष्य शून्या

दश दिशो जराजर्जरित विषाणकोटयो जानकीसम्वर्धिता जीर्ण-मृगाः ।[131]

प्रकृत उद्धरण में शष्पग्रास-ग्रहण के सम्बन्ध होने पर भी उसके असम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है अतः सम्बन्ध में असम्बन्ध प्रतिपादन रूप अतिशयोक्ति अलंकार हुआ ।

उत्प्रेक्षा

भामह[1] ने उत्प्रेक्षालंकार में तीन तत्त्वों को मान्यता प्रदान दी । (1) उपमा के साथ जिसका कुछ भी सामान्य विवक्षित न हो, अर्थात् उपमा के साथ जिसका कुछ भी सम्बन्ध न हो (2) क्रिया और गुण का योग भी उपमेय और उपमान में एक सा न हो तथा (3) जो अतिशय से समन्वित हो, वह उत्प्रेक्षा है । दण्डी के अनुसार उत्प्रेक्षा के लक्षण में चेतन या अचेतन-प्रस्तुत रूप स्वाभाविक गुण क्रिया आदि की अन्य प्रकार-अप्रस्तुत रूप से सम्भावना की जाती है । दण्डी[133] द्वारा प्रतिपादित लक्षण में उत्प्रेक्षा चेतन व अचेतन पदार्थों की सम्भावना के क्षेत्र में प्रवेश कर गयी ।

वाग्भट प्रथम ने उत्प्रेक्षा-लक्षण में औचित्य से कल्पना या सम्भावना का तत्त्व समाविष्ट करु दिया । मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने उत्प्रेक्षालंकार में सम्भावना पर ही बल दिया ।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा के लक्षण में उपमा से भिन्नता, अध्यवसान, सम्भावना और आरोप को समाहित किया गया ।

कथामुख के अन्तर्गत शुकजन्म-वर्णन का यह वाक्य उत्प्रेक्षा से अनुप्राणित है—

"यैः परिणामविरलदलसंहतिरपि स वनस्पतिः विरल दल निचय श्यामल इवोपलक्ष्यते दिवानिशंः निलीनैः ।"[135]

प्रस्तुत वाक्य में वनस्पति में श्यामलत्व गुण की सम्भावना की गयी है तथा 'इव' यहाँ उत्प्रेक्षा बोधक शब्द है अतः यह उत्प्रेक्षा अलंकार का स्थल है ।

चन्द्रापीड के मातृ-पितृ दर्शन के वर्णन में क्रियोत्प्रेक्षा का चमत्कार दर्शनीय है—

"आनन्दजलपूर्यमाणलोचनः समुद्गत पुलकतया सीव्यन्निव, एकी-कुर्वन्निव, पिबन्निव तं पिता विनयावनतमालिलिङ्ग ।"[136]

प्रस्तुत वाक्य में सीव्यन्निव, कुर्वन्निव तथा पिबन्निव-इन तीन क्रियाओं

महाश्वेता के अभिसार वर्णन में भी यह अलंकार स्पष्ट परिलक्षित होता है —

"किञ्चास्य मदनातुरस्येव वपुस्तापाच्छुष्क चन्दनानुलेपपाण्डुता-मुद्वहति मृणाल वलय धवलान् धत्ते करान्, प्रतिमा व्याजेन स्फटिक मणिकुट्टिमेषु निपतति।"[141]

प्रकृत वाक्य में 'प्रतिमा व्याजेन मणिकुट्टिमेषु निपतति में तथा प्रतिमाव्याजेन कुमद सरांसि अवगाहते में प्रतिबिम्ब के छल से वह चन्द्रमा स्फटिक मणि के कुट्टिमों पर तथा कुमुद के सरोवरों में प्रविष्ट होता है। यहां उपमेय को असत्य सिद्ध करके उपमान की स्थापना की गयी है अतः अपह्नुति अलंकार हुआ।

केयूरक के द्वारा वर्णित कादम्बरी की दशा के वर्णन में कैतवापह्नुति की छटा दर्शनीय है—

"तिरोहितदर्शने च देवे, मदलेखास्कन्ध निक्षिप्तमुखी प्रीत्या तं दिगन्तं दुग्धोदधि धवलैः प्लावयन्तीव दृष्टिपातैः सितातपत्रापदेशेन शशिनेर्ष्यया निवार्यमाणरविकरस्पर्शा सुचिरं तत्रैव स्थितवती।"[124]

प्रस्तुत उद्धरण में सितातपत्र के अपह्नव से चन्द्र की स्थापना की गयी है। अतः कैतवापह्नुति अलंकार हुआ।

तुल्ययोगिता

भामह ने सर्वप्रथम तुल्ययोगिता का लक्षण निरूपण किया तथा उसमें न्यून की विशिष्ट के साथ गुण साम्य की विवक्षा को तुल्य कार्य अथवा तुल्य क्रिया के योग से स्वीकार किया।[143] न्यून से उनका तात्पर्य उपमेय से और विशिष्ट से उपमान अभिप्रेत है। कालान्तर में यह लक्षण तुल्ययोगिता के एक भेद तक सीमित रह गया तथा इसकी व्यापकता धीरे-धीरे समाप्त हो गयी।

आचार्य दण्डी ने भी भामह का अनुसरण किया। उन्होंने तुल्ययोगिता में स्तुति एवं निन्दा का कीर्तन भी प्रतिपादित किया है।[144]

उद्भट ने इस लक्षण में प्रस्तुतों अथवा अप्रस्तुतों का एक धर्म से सम्बन्ध होना निरूपित किया तथा इसको उत्तरवर्ती आचार्यो ने भी स्वीकार किया। परवर्ती आचार्यों ने तुल्ययोगिता के लक्षण में कोई नवीन तथ्य प्रस्तुत नहीं किया।

प्रकृत विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत अर्थों का एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर तुल्ययोगिता अलंकार

होता है। केवल प्राकरणिकों अथवा अप्राकरणिकों का एक धर्माभिसम्बन्ध ही इस अलंकार का स्थल है।

कामाकुल महाश्वेता के वर्णन में यह अलंकार स्वतः ही आ गया है—

"तत्परिग्रहान्मुनिवेशस्य अग्राम्यतां, तदास्पदतया यौवनस्य चारुतां, तच्छ्रवण सम्पर्कात् पारिजात कुसुमस्य मनोहारितां, तन्निवासात् सुरलोकस्य रम्यतां, तद्रूपसम्पदा कुसुमायुधस्य दुर्जयताम् अध्यारोपयन्ती।"[145]

प्रस्तुत उद्धरण में अध्यारोपयन्ती'–इस एक क्रिया से अग्राम्यतां, चारुतां, मनोहारितां रम्यतां तथा दुर्जयताम्" इन अनेक पदों का कर्मत्वेन अभि सम्बन्ध हुआ है अतः तुल्ययोगिता अलंकार हुआ।

इसी प्रकार कादम्बरी और चन्द्रापीड के भावावेश के वर्णन में केवल प्रस्तुतों का सम्बन्ध होने से प्राकरणिक तुल्ययोगिता अलंकार होता है—

"दृष्ट्वा च तं प्रथमं रोमोद्गमः, ततो भूषणरवः तदनु कादम्बरी समुत्तस्थौ।"[146]

अर्थात् चन्द्रापीड को देख कर पहले कादम्बरी का रोमाञ्च उत्पन्न हुआ। तदनन्तर आभूषणों का शब्द हुआ और इसके अनन्तर अन्त में कादम्बरी स्वयं उठ खड़ी हुई। प्रस्तुत वाक्य में समुत्तस्थौ-इस एक क्रिया से रोमोद्गमः, भूषण रवः और कादम्बरी इन तीन कर्त्ताओं का एक धर्माभिसम्बन्ध हुआ है। यहां दोनों ही केवल प्रस्तुत है। अतः यहां प्राकरणिक तुल्ययोगिता अलंकार हुआ।

इसी प्रकार कादम्बरी द्वारा भेजे हुए उपहार वर्णन के प्रसंग में भी यह अलंकार द्रष्टव्य है—

"[147]चूडामणिचुम्बिना कोमलांगुलिविवरविनिर्गत लोहितांशुजालेनाञ्जलिना देवमर्चयति देवी कादम्बरी, महाश्वेता च सकण्ठग्रहेण कुशल बचसा, पर्यस्त शिखण्डमाणिक्य ज्योत्स्ना स्नपित ललाटेन च नमस्कारेण मदलेखा, क्षितितलघटित सीमन्त मकरिकाकोटिकोणेन सकल कन्या लोकः, सञ्चरण रजस्पर्शेन च पादप्रणामेन तरलिका।"

प्रस्तुत उद्धरण में अर्चयति इस एक क्रिया से कादम्बरी, महाश्वेता, मदलेखा, कन्यालोक तथा तरलिका इन सभी कर्त्ता (स्त्री) ओं का अभिसम्बन्ध

हुआ और यहां केवल प्रस्तुतों का ही यह एक क्रिया में सम्बन्ध है। अतः प्राकरणिक तुल्ययोगिता अलंकार का यह विषय है।

अप्रस्तुत प्रशंसा

प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराने वाली जो प्रस्तुताश्रया अप्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा वर्णित होती है वह अप्रस्तुत प्रशंसा के नाम से बोधित की जाती है। सार यह है कि अप्राकरणिक अर्थ के कथन से जो प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप हो वही अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार कहलाता है।

कादम्बरी में वर्णित महाश्वेता के प्रसंग में यह वाक्य अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार से अनुप्राणित है।

"कालो हि गुणाश्च दुर्निवारतामारोपयन्ति मदनस्य सर्वथा।"[148]

अर्थात् काल और गुण–ये दोनों ही सर्वथा काम को दुर्निवार बना देते हैं।

प्रस्तुत वाक्य में अप्रकृत सामान्य से प्रकृत विशेष "मेरा हृदय ही पराधीन हो जाता है।" का अवगमन होता है। अतः यहां अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार हुआ।

इसी प्रकार महाश्वेता के प्रति चन्द्रापीड के प्रश्न के वर्णन में भी यह अलंकार द्रष्टव्य है—

"जनयति हि प्रभुप्रसादलवोऽपि प्रागल्भ्यमधीर प्रकृतेः।" तथा अणुरप्युपचार परिग्रहः प्रणयमारोपयति।[149]

इन दोनों ही उद्धरणों में अप्रकृत सामान्य से प्रकृत विशेष की प्रतीति होती है। अर्थात् आपके अतिथि सत्कार से मुझ में भी धृष्टता आ गयी है तथा इस सम्मान से मुझ में भी सौहार्द उत्पन्न हो गया है।

व्याजोक्ति

आचार्य वामन ने इस अलंकार का सर्व प्रथम निरूपण किया तथा उन्होंने व्याज का सत्य के साथ सारूप्य कथन ही व्याजोक्ति का प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया।

"व्याजस्य सत्य सारूप्यं व्याजोक्तिः।"[150]

मम्मट ने निगूहन को व्याजोक्ति माना। उनके अनुसार प्रकट हुए वस्तु के स्वरूप को किसी व्याज से छिपाने के प्रयत्न या वर्णन को व्याजोक्ति कहा गया है। सार यह है कि वस्तु का गुप्त स्वरूप भी जब किसी प्रकार प्रकट हो जाय तो किसी बहाने से उसको छिपाने का जो प्रयत्न किया जाता है, वह व्याजोक्ति अलंकार का विषय है।

मम्मट का व्याजोक्ति लक्षण प्रायशः दण्डी का अनुसरण है केवल छद्म शब्द का प्रयोग उन्होंने अधिक किया है। मम्मट के परवर्ती किसी आचार्य ने इस लक्षण में किसी नवीन तत्त्व का समावेश नहीं किया।

कादम्बरी के भावावेश के वर्णन में व्याजोक्ति की छटा द्रष्टव्य है—

"अथ तस्याः कुसुमायुध एव स्वेदमजनयत्. ससंभ्रमोत्थानश्रमो व्यपदेशोऽभवत्।"[151]

प्रस्तुत वाक्य में मदन विकार के कारण स्वेदोद्गम हुआ है किन्तु वह उठने के श्रम से ही पसीना आया है-इस व्याज से सहचरियों के समक्ष हेतु का गोपन हुआ है अतः यहां व्याजोक्ति अलंकार हुआ। इसी प्रकार—

"निःश्वास प्रवृत्तिरेव अंशुकं चलञ्चकार, चामरानिलो[152] निमित्ततां ययौ।"

यहां पर भी बाल व्यंजन का पवन ही इस वस्त्र को चंचल बनाता है न कि यह श्वासारम्भ। इस प्रकार वह हेतु के गोपन का प्रयत्न करती है। अतः व्याजोक्ति अलंकार का लक्ष्य है।

सहोक्ति

भामह ने सर्व प्रथम सहोक्ति अलंकार का लक्षण प्रतिपादित किया और उसमें उन्होंने कहा कि जहां दो वस्तुओं में रहने वाली और एक साथ होने वाली दो क्रियायें एक ही पद के द्वारा एक साथ कही जायें वहां सहोक्ति अलंकार होता है।[153] दण्डी ने सहभाव से गुण कीर्तन को सहोक्ति की संज्ञा दी। इस प्रकार दण्डी सहोक्ति का प्रयोग गुण कीर्तन के लिए स्वीकार करते हैं।[154]

आचार्य विश्वनाथ ने सहोक्ति के लक्षण में अतिशयोक्ति को मूल तत्त्व मानने की बात पूर्वाचार्यों की तरह कहते हुए भी उस अतिशयोक्ति को कहीं अभेदाध्यवसाय मूलक और कहीं कार्यकारण पौर्वापर्य विपर्यय मूलक स्वीकार किया है। अभेदाध्यवसाय में भी वह अतिशयोक्ति कहीं श्लेष मूलक और कहीं अश्लेषमूलक रहती है।[155]

प्रस्तुत विवेचना से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि सहोक्ति अलंकार के लक्षण ने क्रमशः अपने क्षेत्र का कितना विस्तार कर लिया।

चन्द्रापीड की दिग्विजय यात्रा के वर्णन में यह अलंकार स्पष्ट है—

"ततो दुन्दुभिरवमाकर्ण्य जय जयेति च सर्वतः समुद्घुष्यमाण जय शब्दः सिंहासनात् सह द्विषतां श्रिया उच्चचाल चन्द्रापीडः।[156]

प्रस्तुत वाक्य में दिग्विजय के लिए चन्द्रापीड के चलने के साथ ही अधिक काल तक निवास के असम्भव होने के विश्वास से शत्रुओं की लक्ष्मी भी विचलित हो गयी।

अर्थात् चन्द्रापीड विपक्षी राजाओं की राज लक्ष्मी के साथ सिंहासन पर से उठ गया। यहां एक ही वाक्य से अनेक अर्थों का एक साथ कथन किया गया है। अतः यहां सहोक्ति अलंकार होता है।

इसी प्रकार कामावेश से अभिभूत पुण्डरीक के प्रसंग में भी यह अलंकार शोभाधायक हुआ है—

"स च मत्कपोलस्पर्शसुखेन तरलीकृताङ्गुलिजालकात् करतलादक्षमालां लज्जया सह करतलात् गलितामपि नाज्ञासीत्।"[157]

प्रस्तुत वाक्य में–लज्जया सह करतलात् गलितामपि अक्षमालां नाज्ञासीत्–में सह शब्द के बल से एक ही वाक्य से लज्जा और अक्षमाला–इन दो अर्थों का कथन किया गया है। अतः यहां सहोक्ति अलंकार का स्थल है।

गन्धर्वनगर वृत्तान्त निवेदन के प्रसंग में कादम्बरी की दशा का वर्णन करते हुए पत्रलेखा के इन वचनों में भी यह अलंकार स्पष्ट है—

"शयन निक्षिप्त गात्रयष्टिश्च ततः प्रभृति प्रबलया शिरोवेदनया विचेष्टमाना, दारुणेन च दाहरूपिणा ज्वरेणाभिभूयमाना केनापि व्याधिना मंगल प्रदीपैः कुमुदाकरैश्चक्रवाकैश्च सार्द्धमनिमीलित लोचना दुःख दुःखेन क्षणदामनैषीत्।"[158]

प्रस्तुत वाक्य में मंगल प्रदीपैः, कुमुद समूहैः और चक्र वाकैः सार्द्ध में सहार्थक 'सार्द्ध' के बल से दो अर्थों का कथन हुआ है। अतः यह सहोक्ति का विषय है। यहां प्रदीप और कुमुद के अमुद्रित नयन रूप प्रकाश से कादम्बरी और चक्रवाक के लोचन निमीलन का अभाव होने से भेद होने पर भी अभेद की सम्भावना की गयी है अतः अतिशयोक्ति अलंकार भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।

अर्थापत्ति

आचार्य भरत ने अर्थापत्ति को भूषणों में परिगणन कर उसके लक्षण का निरूपण करते हुए प्रतिपादित किया है कि अर्थान्तर के कथन में जहां अन्य अर्थ की प्रतीति हो और वह वाक्य माधुर्य युक्त हो, उसे अर्थापत्ति कहते हैं।[159] यही भूषण कालान्तर में अर्थापत्ति का रूप धारण कर सका।

आचार्य रुय्यक ने अर्थापत्ति अलंकार के लक्षण में दण्डापूपिका न्याय का आश्रय लेकर स्पष्टता उत्पन्न कर दी।[160] विद्यानाथ ने इस अलंकार के लक्षण में कैमुत्य न्याय की चर्चा की जो दण्डापूपिका न्याय से भिन्न नहीं। कैमुत्य न्याय में न्यूनार्थ विषय रहता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इस न्याय से अर्थापत्ति न मानकर तुल्यन्याय से स्वीकार की। प्रधानतया दण्डापूपिका न्याय ही इस अलंकार के लक्षण पर व्याप्त रहा।

इससे यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि इस न्याय-विशेष का अलंकार पर अभिनिवेश रहा अन्यथा आचार्य भरत से लेकर नरसिंह कवि तक अर्थापत्ति अलंकार के लक्षण में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ।

सारांश यह है कि दण्डापूपिका न्याय से जिससे अन्य अर्थ की प्रतीति हो उसे अर्थापत्ति कहते हैं।

पुण्डरीक की कामदशा के कारण अधिक ज्वर शमन व्यापार वर्णन के प्रसङ्ग में अर्थापत्ति अलंकार की छटा दर्शनीय है—

"किं वा तस्य दुःसाध्यमपरम्, एवंविधो येनायमगाधगाम्भीर्यसागर-स्तृणवल्लघुताम् उपनीतः।" [161]

प्रस्तुत वाक्य में अगाध गाम्भीर्य के सागर पुण्डरीक के काम के द्वारा तृणवत् लघु कर दिये जाने से उसे और क्या दुष्कर रहा अपितु कुछ भी दुष्कर नहीं रहा यहां 'किंवा तस्य दुःसाध्यमपरम्' के कथन से 'किमपि नास्ति' अर्थ की प्रतीति होती है अतः यहां अर्थापत्ति अलंकार हुआ।

इसी प्रकार महाश्वेता के अन्तः सन्ताप के वर्णन में यह वाक्य भी द्रष्टव्य है—

"आशया हि किमिति न क्रियते।"[162]

प्रस्तुत वाक्य में 'आशया किमिति न क्रियते' के कथन से 'अपितु आशया सर्वमेव क्रियते' रूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है अतः यह अर्थापत्ति का विषय है।

इसी प्रकार कादम्बरी की चिन्ता के वर्णन–प्रसंग में किमुत के द्वारा अर्थान्तर की प्राप्ति होती है—

"स्थूलबुद्धयोऽपि तादृशीं विनयच्युतिं विभावयेयुः, किमुतानुभूत मदनवृत्तान्ता महाश्वेता सकलकलाकुशलाः सख्यो वा राजकुलसंचार-चतुरो वा नित्यमिङ्गितज्ञः परिजनः।"[163]

प्रस्तुत उद्धरण में "स्थूल बुद्धय अपि विभावयेयु किमुत कामकला निपुणः परिजनः" से अर्थान्तर "कि सभी उस धैर्य च्युति को समझ लेंगे"-की किमुत के द्वारा प्रतीति होती है अतः यह अर्थापत्ति का विषय है।

परिकर

सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने परिकर अलंकार के लक्षण का प्रतिपादन किया तथा साभिप्राय विशेषण पदों से वस्तु में वैशिष्ट्य प्रस्तुत करने को परिकर अलंकार में आवश्यक माना।[164]

आचार्य मम्मट ने साकूत अर्थात् अभिप्राय युक्त विशेषणों के द्वारा किसी वस्तु के कथन करने को परिकर अलंकार अगीकृत किया।[165] सार यह है कि विशेष्य का साभिप्राय विशेषणों से कथन ही परिकर अलंकार है।

विद्याधर ने विशेषणों की प्रतीयमानार्थगर्भता का विलास ही परिकर के लक्षण के लिए विशेष तत्त्व स्वीकार किया परन्तु इस प्रतीयमानता का वाक्य का उपस्कार भी माना।

दर्पणकार विश्वनाथ की दृष्टि में साभिप्राय विशेषणों के कथन को परिकर कहा गया है। महाश्वेता के शोकावेग के वर्णन में साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया गया है—

> **"साहमेवंविधा पापकारिणी निर्लक्षणा निर्लज्जा क्रूरा च निःस्नेहा च नृशंसा च गर्हणीया निष्प्रयोजनोत्पन्ना निष्फलजीविता निर्नाथा निरवलम्बना निःसुखा च।"**[166]

प्रस्तुत वाक्य में विशेष आशय से प्रत्येक विशेषण का अभिधान हुआ हैं अतः परिकर अलंकार हुआ।

इसी प्रकार इसी प्रसंग में वर्णित महाश्वेता के शोक वर्णन में भी परिकर का सौन्दर्य दर्शयीय है —

> **"स्मर तावत् प्रियामेकपत्नी रतिं भगवति भर्तरि मकरकेतौ सकलाबलाहृदयजन हारिणि हरनयनहुतभुजा दग्धेऽप्यविरहितामसुभिः।"**[167]

प्रस्तुत वाक्य में भी साभिप्राय विशेष से युक्त विशेषणों के कथन के कारण परिकर अलंकार हुआ।

परिणाम

आचार्य रुय्यक ने परिणाम अलंकार का सर्व प्रथम लक्षण प्रतिपादित किया। जयदेव ने इन दोनों—उपमेय और उपमान का जहां अभेद में पर्यवसान हो उसे परिणाम अलंकार अंगीकृत किया है।[168] जयदेव से लेकर अप्पय दीक्षित तक सभी आचार्यों के लक्षण प्रायः समान है केवल शब्दों का हेर फेर मात्र है। सार यह हुआ कि विषयात्मा होने से

आरोप्य विषय में किसी वस्तु का आरोप प्रकृत के उपयोग के लिए किया जाय उसे परिणाम अलंकार कहते हैं।

शबर चरित्र वर्णन में परिणाम अलंकार द्रष्टव्य है—

"तथा हि पुरुष पिशितोपहारे धर्म बुद्धिः, आहारः साधुजन विगर्हितो मधुमांसादिः, श्रमो मृगया, शास्त्रं शिवारुतम्, उपदेष्टारः सदसतां कौशिकाः, प्रज्ञा शकुनिज्ञानम्।"[169]

प्रस्तुत वाक्यांश में शास्त्र में शिवारुत का आरोप प्रस्तुत निन्दित व्यवहार की वृद्धि में उपयोगी होने से यहां परिणाम अलंकार हुआ।

इसी प्रकार मेघनाद को सन्देश देने के प्रसंग में यह वाक्य दर्शनीय है—

"नन्वियं सा त्रिभुवनवन्दनीया निरनुरोधा निष्परिचया च दुर्ग्रहा प्रकृतिर्मर्त्यानाम्, येषामकाण्ड विसम्वादिन्यः प्रीतयो न गणयन्ति निष्कारणवत्सलताम्। एवं गच्छता मयात्मनो नीतः स्नेहः कपट-कूटजालिकताम्।"[170]

प्रस्तुत वाक्य में प्रीति में धूर्तेन्द्रजालिकता के आरोप का प्रकृत में उपयोग होने से परिणाम अलंकार का यह विषय है।

परिणाम अलंकार में उपमेय और उपमान का अभेद तो स्वीकृत कर लिया जाता है परन्तु उपमान से कार्य लिया जाता है, उसमें वह स्वयं समर्थ नहीं होता अतः वह असमर्थ उपमान पुनः उपमेय में अभिन्नता प्राप्त करके ही वाञ्छित कार्यपूर्ति कर सकता है। रूपक और परिणाम में जो अन्तर है वह इस प्रकार है कि सावयव रूपक में कल्पना की व्यापकता है तो परिणाम में कल्पना की एकाङ्गिता। उपमेय और उपमान की सर्व सामान्य समता पर रूपक आधारित रहता है परन्तु कार्य सिद्धि तभी होती है जब उपमान क्रिया के लिए उपमेय में ही परिणामित होता है अतः इस अलंकार का नाम परिणाम अलंकार रखा गया है।

उल्लेख

जहां एक ही वर्णनीय विषय का निमित्त भेद से अनेक प्रकार का वर्णन हो उसे उल्लेख अलंकार कहा जाता है। यह दो प्रकार से निरूपित किया जाता है—

(1) ज्ञाताओं के भेद से एक ही पदार्थ का जहां भिन्न-भिन्न विधि से उल्लेख हो वह प्रथम उल्लेख होता है।

(2) जहां एक ही व्यक्ति विषय भेद के कारण किसी पदार्थ को

अनेक रूपों में देखता है, वहां दूसरा उल्लेख अलंकार होता है।

आचार्य विश्वनाथ ने ग्राहक और विषय भेद में एक के अनेकधा उल्लेख को ही उल्लेख अलंकार स्वीकार किया है –

क्वचिद्भेदाद् गृहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।

एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते।

कथा मुखान्तर्गत शूद्रक के वर्णन में एक ही वस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार से उल्लेख किया गया है—

"कर्ता महाश्चर्याणाम्, आहर्ता क्रतूनाम्, आदर्शः सर्वशास्त्राणाम्, उत्पत्तिः कलानाम्, कुलभवनं गुणानाम्, आगमः काव्यामृतरसानाभ्, उदय शैलो मित्रमण्डलस्य, उत्पातकेतुरिवाहितजनस्य.................... राजा शूद्रको नाम।"[171]

प्रस्तुत उद्धरण में एक ही राजा शूद्रक का विषय के भेद से अनेक प्रकार से उल्लेख किया गया है अतः उल्लेख अलंकार है।

महर्षि जाबालि के वर्णन में भी उल्लेख अलंकार की छटा मनोरम है—

"एष प्रवाहः करुणा रसस्य, सन्तरण सेतुः संसार सिन्धोः, आधारः क्षमाम्भसाम्, परशुस्तृणालता गहनस्य, सागरः सन्तोषामृतरसस्य, उपदेष्टा सिद्धिमार्गस्य, अस्तगिरिरसद्ग्रहस्य, मूलमुपशमतरोः, नाभिः प्रज्ञाचक्रस्य, प्रसादो धर्मध्वजस्य, तीर्थं सर्वविद्यावताराणाम्, वडवानलो लोभार्णवस्य, निकषोपलः शास्त्ररत्नानाम्, दावानलो रागपल्लवस्य, महामन्त्रः क्रोधभुजङ्गमस्य, दिवसकरो मोहान्धकारस्य।"[172]

प्रस्तुत उद्धरण में (एक) मुनि जाबालि का अनेक प्रकार से विषय भेद से उल्लेख किया गया है अतः यह उल्लेख अलंकार का स्थल है।

भ्रान्तिमान्

उपमेय में उपमान की भ्रान्ति सादृश्य के कारण होती है। जहां भ्रम से किसी अन्य वस्तु को अन्य वस्तु मान लिया जाय वहां भ्रान्तिमान् अलकार होता है।

आचार्य मम्मट के अनुसार अप्राकरणिक वस्तु के समान प्राकरणिक वस्तु के देखने पर जो अन्य अप्राकरणिक वस्तु का भान होता है वह भ्रान्तिमान् अलंकार है। आचार्य विश्वनाथ ने 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' को भ्रान्तिमान् की संज्ञा दी है।

कथा मुख के अन्तर्गत शूद्रक के वर्णन में भ्रान्तिमान् का लावण्य दर्शनीय है—

"अपर शशिशङ्कया नक्षत्रमालयेव हारलतया कृतमुखपरिवेशम्, अति चपल राज्यलक्ष्मीबन्धन निगडशङ्कामुपजनयतेन्द्रमणि केयूरयुगलेन मलयजरसगन्धलुब्धेन भुजङ्गद्वयेनेव वेष्टित बाहुयुगलम् ।"[173]

प्रस्तुत वाक्य में मुख में शशी की भ्रान्ति हो गयी है तथा राज्य लक्ष्मी के बन्धन के लिए शृंखला की शंका उत्पन्न हो गयी है । यहां मुख जो चन्द्रमा नहीं है तथा इन्द्रमणि केयूर युगल जो शृंखला नहीं है, में चन्द्रमा तथा शृंखला का मिथ्या निश्चय हो गया है अतः भ्रान्तिमान् अलंकार है ।

चन्द्रापीड की चिन्ता के वर्णन–प्रसंग में भी यह अलंकार स्पष्ट है—

"मत्ताम्बूल वीटिकोपनयन खेदविधूतेन रक्तोत्पल भ्रमद्भ्रमर-वृन्देन करतलेन स्विन्नं मुखमिव गृहीततमालपल्लवेनेव बीजयति ।"[174]

प्रस्तुत वाक्य में करतल में रक्तोत्पल का भ्रम अर्थात् मिथ्या निश्चय हो गया है अतः भ्रान्तिमान् अलंकार है ।

सन्देह

प्रकृत अर्थात् प्रस्तुत वस्तु में अन्य अर्थात् अप्रस्तुत का संशय बना रहे तो सन्देह अलंकार होता है ।[175] निरन्तर सम्पर्क में आने के कारण मानव मस्तिष्क में कुछ अनुभव स्थिर हो जाते हैं । वे ही जब किसी अन्य वस्तु में सादृश्य के कारण जाग्रत हो उठते हैं तब सहसा ही पूर्वानुभूत वस्तु का ध्यान हो आता है ।[176] तो उसमें पूर्वानुभूत वस्तु का सशय होने लगता है । इसी में यदि मिथ्या निश्चय हो जाय तो भ्रान्तिमान् कहलाता है और यदि निर्णय न हो पाये तो सन्देह होता है । भ्रम में अप्रस्तुत प्रधान हो जाता है । परन्तु सन्देह में मन प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में समान रूप से बंटा रहता है । सार यह है कि उपमेय और उपमान के सम्बन्ध में ऐसा संशय होने पर सन्देह अलंकार होता है । भ्रम और सन्देह दोनों ही कवि–प्रतिभा से उत्पन्न होते हैं । यह विचारणीय विषय है कि भ्रम में निश्चयात्मक स्थिति होने से उसमें उपमान केवल एक ही हो सकता है परन्तु सन्देह में अनिश्चय होने के कारण अनेक उपमानों में उपमेय का सन्देह किया जाता है ।

चन्द्रापीड के लिए उपहारों के भेजने के वर्णन के प्रसंग में सन्देहालंकार दर्शनीय है—

इसी प्रकार कादम्बरी के प्रत्युत्तर-वर्णन के प्रसंग में ये वाक्य द्रष्टव्य है—

"येनेदृशीं दशामुपनीता प्रियसखी कथमतिदारुणं तमहं विषमिवाप्रियकारिणं कामं सकामं कुर्याम् । दिवसकरास्तमयविधुरासु नलिनीषु सहवास परिचयाच्चक्रवाकयुवतिरिव पतिसमागमसुखानि परित्यजति ।"[182]

प्रस्तुत उद्धरण में दोनों वाक्यों के भिन्न होते हुए भी औपम्य प्रतिपादनार्थ उपमान वाक्य तथा उपमेय वाक्य में पृथगुपादान रूप बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव प्रदर्शित किया गया है अतः सधर्म वस्तु के प्रतिबिम्ब से दृष्टान्त अलंकार हुआ ।

निदर्शना

जहां वस्तु का असम्भव अथवा अनुपपद्यमान सम्बन्ध प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ उपमा का परिकल्पक अर्थात् उपमा में पर्यवसित होता है, वह निदर्शना नामक अलंकार होता है ।[183] निदर्शन अर्थात् दृष्टान्त बनाने वाला । उपमा परिकल्पक होने से इसकी यह अन्यर्थ संज्ञा है । यहां भी दो वस्तुओं के बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की योजना होती है परन्तु दृष्टान्त से इसमें यह अन्तर होता है कि दृष्टान्त में प्रयुक्त वाक्य परस्पर निरपेक्ष होते हैं जब कि निदर्शना में वे वाक्य सापेक्ष रहते हैं । इसी प्रकार दृष्टान्त में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के धर्म भिन्न होते हैं और निदर्शना में धर्म अभिन्न होते हैं । इसलिए इनके निर्देश की भी आवश्यकता नहीं रहती । पर निदर्शना में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का सापेक्ष होना आवश्यक होता है, दृष्टान्त में यह प्रक्रिया स्वयं हो जाती है ।

शुक के द्वारा अपनी अवस्था के वर्णन-प्रसंग में निदर्शना की छटा दर्शनीय है—

"[184] यावच्चासौ तस्मात्तरुशिखरान्नावतरति तावदहमवशीर्ण पर्ण सवर्णत्वात् अस्फुटोपलक्ष्यमाणमूर्तिः पितरमुपरतमुसृज्य.... .... वनकरिमदोपसिक्त किसलयस्य, विन्ध्याटवी केशपाश श्रियमुद्वहतः दिवाप्यन्धकारित शाखान्तरस्य, अप्रविष्टसूर्यकिरणमतिगहनमपास्येव पितुरुत्संगमतिमहतस्तमालविटपिनो मूलदेशमविशम् ।"

प्रस्तुत उद्धरण में 'विन्ध्याटवी केशपाशश्रियमुद्वहतः' इस वाक्यांश में वस्तु का सम्बन्ध असम्भव है परन्तु "केशपाशश्रियमिव श्रियं" के द्वारा इसका उपमा में पर्यवसान होता है अतः यहां निदर्शना अलंकार है।

इसके अतिरिक्त चन्द्रापीड के पुनः प्रस्थान वर्णन में निदर्शना अलंकार मनोरम है

"अपहृताशेष विशेष सौभाग्याभिः शैवल मञ्जरीभिः कृत-कर्णपूरम् ।"[185]

प्रस्तुत वाक्यांश में शैवाल मंजरियों के द्वारा शिरीष पुष्पों के सौभाग्य के अपहरण रूप वस्तु-सम्बन्ध के असम्भव होने से उपमा के द्वारा "शिरीष सौभाग्यमिव सौभाग्यम्" सौभाग्य में साम्य का आक्षेप किया जाता है और इस प्रकार यहां वस्तु का सम्बन्ध सम्भव हो जाता है अतः यहां निदर्शना अलंकार होता है।

परिसंख्या

परिसंख्या में एक वस्तु का एक स्थान से निषेध करके दूसरे में उसकी स्थापना सिद्ध की जाती है। वाक्य न्याय मूलक अलंकारों में इसे इसलिए स्थान दिया गया है कि एक स्थान पर निषेध या अन्य स्थान पर स्थापना की क्रिया में एक वाक्यगत संगति रहती है। सार यह है कि एक साधारणतः सिद्ध वस्तु का कथन कर उसका निषेध करते हुए भी अन्य स्थान में उसकी संगति का प्रतिपादन किया जाता है। उदाहरण के लिए जाबालि आश्रम-वर्णन की इन पंक्तियों पर दृष्टिपात किया जाय--

"यत्र च महाभारते शकुनि वधः, पुराणे वायुप्रलपितम्, वयः परिणामे द्विज पतनम्, उपवन चन्दनेषु जाड्यम्, अग्नीनां भूतिमत्वम्, एणकानां-गीतश्रवण व्यसनम्, शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः, कपीनां श्रीफलाभिलाषः, मूलानामधोगतिः ।"[186]

जीवन में अधोगति जैसी स्थिति अनेक वस्तुओं में दृष्टिगोचर होती है। पापियों, दुष्टों, आततायियों, क्रूरों आदि की अधोगति होती है--यह सामान्य तथ्य है। परन्तु उस राज्य मे अधोगति केवल मूलों की ही होती है अर्थात् जड़ें ही नीचे की ओर पृथ्वी में प्रवेश करती है। यहां एक तो अधोगति शब्द का विशिष्ट प्रयोग हुआ है दूसरे इससे यह सिद्ध हुआ कि औरों की अधोगति वहां नहीं होती है। क्योंकि उस आश्रम में कोई दुष्ट या पापी या आततायी नहीं है। अधोगति जैसी व्यापक स्थिति को एक ही स्थान पर सीमित करके बाण भट्ट पाठकों के हृदय को सामान्य से विशेष की ओर ले जाता है।

अप्पय दीक्षित के अनुसार किसी पदार्थ का एक स्थान पर निषेध करके दूसरे स्थान पर उसकी विद्यमानता प्रतिपादित की जाय, उसे परिसंख्या कहा जाता है।[187] आचार्य मम्मट की दृष्टि में पूछी या अनपूछी बात, जो उसी भांति किसी अन्य वस्तु के निषेध में पर्यवसित होती है वह परिसंख्या है। कभी-कभी परिसंख्या में श्लेष भी चमत्कार को उत्पन्न करता है।[188]

कादम्बरी के उज्जयिनी वर्णन में परिसंख्या का लावण्य दृष्टिगोचर होता है--

"यस्यां च अनिवृत्तिर्मणिदीपानाम्, तरलता हारलतानाम्, अस्थितिः सङ्गीतमुरजध्वनीनाम्, द्वन्द्ववियोगश्चक्रवाकनाम्नाम्, वर्णपरीक्षा कनकानां, अस्थिरत्वं ध्वजानाम्, मित्रद्वेषः कुमुदानाम्, कोषगुप्ति-रसीनाम्।"[189]

जीवन में अनिवृत्ति तरलता, द्वन्द्ववियोग, वर्ण परीक्षा, अस्थिरता, मित्र द्वेष, कोषगुप्ति आदि अनेक वस्तुओं में देखी जाती है यह सामान्य तथ्य है। परन्तु उज्जयिनी में अनिवृत्ति केवल मणिदीपों की होती है, द्वन्द्व वियोग केवल चक्रवाक का ही होता है। अर्थात् केवल चक्रवाक युगल ही रात्रि में वियोग का अनुभव करता है। यहां द्वन्द्व वियोग की व्यापक स्थिति को एक ही स्थान पर सीमित कर दिया गया है। यहां श्लेष के कारण चमत्कृति का आधान हुआ है। अतः यहां परिसंख्या का स्पष्ट उदाहरण है।

काव्यलिङ्ग

लिङ्ग का अर्थ होता है, हेतु या चिह्न? किसी पक्ष को सिद्ध करने के लिए, जो कारण दिया जाता है, वही सिद्धि का हेतु है। अतः इस अलंकार में किसी तथ्य को प्रमाणित करने के लिए उसके कारण का प्रतिपादन किया जाता है। अपने मन्तव्य को उचित तर्क से समर्थन करना ही इसका मूल आधार है।

आचार्य मम्मट ने हेतु का वाक्यार्थ या पदार्थ रूप में वर्णन करना काव्य लिङ्ग अलंकार माना है।[190] आचार्य अप्पय दीक्षित ने समर्थनीय अर्थ के किसी पदार्थ या वाक्य से समर्थन को काव्य लिंग स्वीकार किया है।[191] इसलिए न्याय शास्त्र के लिङ्ग अर्थात् हेतु से इसे पृथक् प्रदर्शित करने के लिए काव्य लिङ्ग कहा जाता है। इसीलिए विश्वनाथ ने, जहां वाक्यार्थ या पदार्थ किसी का हेतु हो, उसे काव्य लिङ्ग कहा है।

पत्रलेखा के वर्णन में काव्य लिङ्ग अलंकार द्रष्टव्य है--

"महाभिजनराजवंशप्रसूता चार्हतीयमेवंविधानि कर्माणि, नियतञ्च स्वयमेवेयमतिविनीततया कतिपयैरेव दिवसैः कुमारमाराधयिष्यति।[192]

प्रस्तुत वाक्य में अर्हति एवं विधानि कर्माणि का महाकुल राजवंश प्रसूता रूप पदार्थ हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया है अतः पदार्थ हेतुक काव्य लिङ्ग अलंकार है।

इसी प्रकार चन्द्रापीड़ की दिग्विजय–यात्रा वर्णन प्रसंग में राजा के प्रभाव का वर्णन किया गया है—

"प्रबल वेत्रि वेत्रलता समुत्सार्यमाणा इव तुरग खुररजोधूसरम् अर्ककिरणा मुमुचुः पुरोभागम्।"[193]

प्रस्तुत वाक्य मे अर्क किरणों के द्वारा पुरोभाग के परित्याग में प्रबल वेत्रि की वेत्रलता द्वारा समुत्सारण रूप पदार्थ ही हेतु बन कर वाक्य में प्रयुक्त हुआ है। अतः यहां पदार्थ हेतुक काव्य लिङ्ग अलंकार हुआ है।

हेतु

हेतु अलंकार भी संगति मूलक अलंकार है। इसमें कार्य के साथ-साथ कारण का भी वर्णन किया जाता है। यह अलकार कार्य के साथ ही कारण का उल्लेख अर्थात् अपने मन्तव्य को पूरी तरह कहने अथवा उसके समर्थन की वृत्ति का परिणाम है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार हेतु का हेतुमान् के साथ अभेद से कथन ही हेतु अलंकार है—

"अभेदेनाभिधा हेतु र्हेतोर्हेतुमता सह।"[194]

कादम्बरी के शुकावस्था वर्णन प्रसंग में हेतु अलंकार स्पष्ट है—

"मन्ये चागणितपितृमरणशोकस्य निर्घृणतैव केवलमियं मम सलिलपानबुद्धिहु।"[195]

प्रस्तुत वाक्य में निर्घृणता एवं जलाभिलाष रूप हेतु और हेतुमान् का तादात्म्य से प्रतिपादन हुआ है अतः यहां हेतु अलंकार है।

इसी प्रकार सन्ध्या-वर्णन में भी इसकी छटा द्रष्टव्य है—

"उदगाद् भगवानीक्षणोत्सवः सुधासूतिः।[196]

प्रकृत वाक्यांश में हेतु भूत भगवान् सुधासूति का हेतुमान् रूप ईक्षणोत्सव के साथ तादात्म्य से कथन किया गया है अतः हेतु नामक अलंकार का यह स्थल है।

कादम्बरी के शुकनास द्वारा चन्द्रापीड को दिये गये उपदेश के वर्णन में हेतुमान् की छटा द्रष्टव्य हैं——

गर्भेश्वरत्वमभिनव यौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वञ्चेति महतीयं खलु अनर्थपरम्परा।''[197]

प्रकृत वाक्य में गर्भेश्वरत्व आदि को अनर्थोत्पादक हेतु के रूप में वर्णित किया गया है अतः हेतुमान् अलंकार है।

मीलित

अपने स्वाभाविक अथवा आगन्तुक साधारण चिह्न से किसी के द्वारा वस्तु का आच्छादन कर दिया जाय वह मीलित अलंकार कहलाता है।[198] स्वाभाविक अथवा औपाधिक अर्थात् आगन्तुक जो कोई साधारण चिह्न, उससे जो किसी वस्तु के द्वारा किसी के बलवान् होने से वास्तबिक रूप में तिरोधान कर देता हैं वह मीलित अलंकार कहा जाता है।

मीलित अलंकार में इस बात की संगति रहती है कि वहां दो पदार्थों में सादृश्य के कारण एकरूपता आ जाती है और उनसे वह सादृश्य लक्षित रहता है। दो वस्तुओं के साम्य को ही इस प्रकार मिला देना है कि उनमें भेद दृष्टिगोचर न हो। किसी साधारण चिह्न के द्वारा किसी वस्तु की विगुप्ति अर्थात् तिरोधान को मीलित कहा गया है।[199]

कादम्बरी के उज्जयिनी के वर्णन-प्रसंग में मीलित स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है —

[100]**''यस्याञ्च निशावसाने प्रबुद्धस्य तारतरमपि पठतः पञ्जरभाजः शुकसारिका समूहस्याभिभूत गृहसारसस्वरामृतेन विस्तारिणा विलासिनी भूषणरवेणाविभाव्यमाना व्यर्थीभवन्ति प्रभातमङ्गलगीतयः।''**

अर्थात् पंजरगत शुक व सारिकागण के द्वारा उपःकाल में गाये जाते हुए मंगलगीत गृहस्थित सारसों के शब्द को परास्त करने वाले और चारों ओर फैलने वाले विलासिनियों के आभूषणों के शब्द में तिरोहित हो जाते हैं। प्रस्तुत वाक्य मे विलासिनियों की अलंकार ध्वनि से शुक सारिका गण द्वारा गाये गये मगल गीतों का गोपन किया गया है अतः यहां मीलित अलंकार है। यहां मंगल गीतों का गोपन विधान किया गया है।

उन्मीलित

यह अलंकार मीलित का अग्रिम भाग है। दो वस्तुओं के सादृश्य के

कारण जब वे पृथक् रूप में लक्षित नहीं होती तब तो मीलित अलंकार का स्थल है परन्तु इसके अनन्तर और भी कुछ कारण उत्पन्न हो जाता है और उस कारण से दोनों का भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगता है तब वह उन्मीलित अलंकार का विषय बनता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कार्य मीलित का विरोधी है परन्तु वास्तव में एक समर्थ कारण के उत्पन्न होने पर ही उसके भेद का दर्शन होता है।

विलासवती के गर्भ-चिह्न-दर्शन के वर्णन में उन्मीलित अलंकार स्पष्ट है—

> **"अस्य तु किं प्रतिविधास्यति विघटमान दलकोष विशद चम्पक द्युतेः सवर्णतया परिमलानुमीयमान कुङ्कुमाङ्गरागस्य पाण्डुरतामापद्यमानस्य वर्णस्य, अनयोश्च गर्भ सम्भवामृतावसेक निर्वाप्यमाणशोकानल प्रभवं धूममिव वमतोः अन्तर्गृहीतनीलोत्पलयोरिव चक्रवाकयोः।"**[201]

प्रकृत वाक्यांश में गर्भवती होने से स्वयं प्रकाशमान देह की पाण्डुरता का गोपन सर्वथा अशक्य है अतः पाण्डुरता आदि के कारण भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है अतः यहां उन्मीलित अलंकार है।

तद्गुण

तद्गुण अलंकार में वस्तु अपना गुण छोड़कर आसन्नवर्ती किसी दूसरे का गुण ग्रहण कर लेती है। परन्तु यह तभी होता है जब कि ग्रहण करने वाली वस्तु में हीनभाव हो। प्रबल वस्तु दूसरे का गुण ग्रहण कर अपना गुण उसे दे देती है। अतः यह व्यवहार लोक सगत है अतः यह भी संगति मूलक अलंकार है।

अप्पय दीक्षित के अनुसार अपना गुण त्यागकर दूसरे का गुण ग्रहण करना ही तद्गुण अलंकार का क्षेत्र है।[202] आचार्य मम्मट के अनुसार जब न्यून गुणवाली प्रस्तुत वस्तु अत्यन्त उत्कृष्ट गुणवाली अप्रस्तुत वस्तु के सम्बन्ध से अपने स्वरूप या गुण को छोड़कर उस अप्रस्तुत के रूप को प्राप्त हो जाती है तब उसे तद्गुण अलंकार कहते हैं।[203] अर्थात् किसी समीपस्थ वस्तु के द्वारा उसकी उत्कृष्ट गुण सम्पत्ति से उपरक्त होने के कारण अपने स्वरूप का अभिभव करके जो प्रस्तुत वस्तु उस समीपगत वस्तु के स्वरूप को प्राप्त करती है तब तद्गुण अलंकार कहा जाता है। उस अप्रस्तुत का गुण इस प्रस्तुत में आ जाता है अतः इस अलंकार का नाम अन्वर्थ है।

चाण्डाल कन्या के वर्णन का यह स्थल द्रष्टव्य है।

"उरः स्थल निवास संक्रान्त नारायण देह प्रभाश्यामलितामिव श्रियम्।"[204]

प्रकृत वाक्यांश में श्री के द्वारा अपनी गौर कान्ति का परित्याग करके अपने से प्रबल भगवान् नारायण के श्यामल गुण का ग्रहण किया जाना वर्णित किया गया है, अर्थात् प्रस्तुत के द्वारा अपने गुण का परित्याग कर समीपस्थ अप्रस्तुत के गुणों को ग्रहण किया गया है। अतः यहां तद्गुण अलंकार का क्षेत्र है।

समुच्चय

आचार्य मम्मट ने समुच्चय अलंकार को परिभाषित करते हुए कहा कि किसी कार्य की सिद्धि का हेतु विद्यमान होते हुए भी, जहां अन्य हेतु भी उसका साधन करने वाला बन जाता है, वहां समुच्चय अलंकार होता है। गुण–क्रिया योग वाला अपर समुच्चय होता है।[205]

अप्पय दीक्षित ने मम्मट कृत प्रथम लक्षण को सुमुच्चय का दूसरा भेद मानकर उसका लक्षण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार जहां एक ही वस्तु से सम्बद्ध अनेक पदार्थों का एक साथ गुम्फन किया जाय वहां समुच्चयालंकार होता है और इसी का अन्य भेद वहां स्वीकार किया जाता है जहां अनेक हेतुओं से किसी एक कार्य की उत्पत्ति हो सकती हो परन्तु कवि वर्णन ऐसा हो कि प्रत्येक हेतु अपने आपको प्राथमिकता देता हुआ सन्निविष्ट हो जाय।[206]

समुच्चय अलंकार में समुदाय का वर्णन होता है। इसके मूल में औचित्य और वैषम्य दोनों प्रकार की भावनाओं को व्यंजित करने वाले कार्यों की अधिकता का एक साथ वर्णन होता है। दर्पण कार विश्वनाथ ने "खले कपोत न्याय" का इस लक्षण में समावेश कर दिया।

उज्जयिनी के वर्णन में समुच्चय अलंकार का लावण्य दर्शनीय है—

"किम्बहुना यस्यां सुरासुर चूडामणि मरीचिचय चुम्बित चरणनख-मयूखो निशित त्रिशूल दारितान्धक महासुरः, गौरीनूपुर कोटि घृष्ट शेखरचन्द्रशकलः, त्रिपुरभस्मरजः कृताङ्गरागः, मकरध्वजध्वंस-विधुरया रत्या प्रसादयन्त्या प्रसारितकरयुगलविगलितवलयनिकरार्चित-चरणः, प्रलयानलशिखाकलाप कपिल जटाभार भ्रान्त सुरसिन्धुः, अन्धकारिः, भगवानुत्सृष्टकैलासवास प्रीतिर्महाकालाभिधानः स्वयं प्रतिवसति।"[207]

प्रस्तुत वाक्य में ,'सुरासुर चूडामणि मरीचिचय चुम्बित चरणनख मयूखः, रूप एक विशेषण से ही अभिमत माहात्म्य की स्पष्ट रूप से प्रतीति हो जाती है तथापि उसी माहात्म्य की प्रतीति के लिए ही खले कपोत न्याय से अन्य विशेषणों की उपस्थापना की गयी है अतः यहां समुच्चय अलकार है।

इसी प्रकार चन्द्रापीड के प्रस्थान वर्णन का यह प्रसंग समुच्चय अलंकार से अनुप्राणित है--

"एव गच्छता मयात्मनो नीतः स्नेहः कपटकूट जालिकताम्, प्रापिता भक्तिरलीक-काकु-करण कुशलताम्, पातितमुपचारमात्र मधुरं धूर्ततायामात्मार्पणम्, प्रकटितं वाङ्मनसयोर्भिन्नार्थत्वम् ।"[208]

प्रस्तुत उद्धरण में चन्द्रापीड के स्वभाव को दुर्ग्रह बताने के लिए जहां एक हेतु से कार्य सिद्धि हो सकती है वहां अनेक हेतुओं का उपन्यास किया गया है अतः यह समुच्चय का स्थल है।

स्वभावोक्ति

स्वभावोक्ति अलंकार भामह के काल से प्रचलित अलंकार है। इसे जाति अथवा स्वभाव नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसमें स्वभाव वर्णन जाति, गुण, क्रिया के अनुरूप रहता है ।[209] आचार्य मम्मट ने बालक आदि की स्वाभाविक क्रिया तथा रूप के वर्णन को स्वभावोक्ति कहा है ।[210] मानव स्वभाव-चित्रण स्वयं में एक बड़ा विस्तृत विषय है। उसमें से जाति, गुण, क्रिया का यथावत् वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म प्रतिभा का परिणाम है।

जाबालि के आश्रम वर्णन में मृगशावक एवं सिंह का यथावद् वर्णन किया गया है—

"अयमुत्सृज्य मातरमनुपजातकेशरैः केशरिशिशुभिः सहोपजातपरिचयः क्षरत्क्षीरधारं पिवति कुरङ्गशावकः सिंहीस्तनम्। एष मृणाल कलापाशङ्किभिः शिशिर धवलं सटाभारं आमीलितलोचनो बहु मन्यते द्विरदकलभैराकृष्यमाणं मृगपतिः।"[211]

अर्थात् सिंह के अयाल रहित बच्चों से परिचित होकर मृग शिशु अपनी माता को छोड़कर दूध की धारा को बहाने वाले सिंही के स्तनों को पी रहा है तथा हाथी के बच्चे चन्द्र-किरणों के समान उज्ज्वल अयालों को मृणाल समझ कर खींच रहे हैं और सिंह आँखें बन्द कर प्रसन्न हो रहा है। प्रस्तुत

असङ्गति अलंकार प्रक्रिया में संगति का विरोधी है। इसके लक्षण में भी प्रतिपादित किया गया है कि विरोध के आभास सहित कारण कार्य की स्वाभाविक संगति के त्याग को असंगति अलंकार कहते हैं।

कादम्बरी के भावावेश के वर्णन-प्रसंग में असङ्गति के दर्शन किये जा सकते हैं—

"ऊरु स्तम्भ एव गति रुरोध, नूपुररवाकृष्टं हंसमण्डलमयशो लेभे।"916

अर्थात् कामावेश से उत्पन्न उरुकम्प ही उसकी गति का रोधक था किन्तु उसका अपयश नूपुररव सुनकर आये हंस मण्डल को प्राप्त हुआ। प्रस्तुत अवतरण में गतिरोध का कारण उरुकम्प है अतः अपयश भी उरु कम्प को मिलना अपेक्षित है परन्तु वह अपयश मिला कलहंसों को। यहां पर अपयश का कारण उरु कम्प में है तथा कार्य है कल हंसों में अतः कारण और कार्य के दो भिन्न स्थानों में विरुद्ध अस्तित्व के रहने के कारण असङ्गति अलंकार हुआ।

विषम

आचार्य मम्मट ने विषम अलंकार का लक्षण दिया है। कहीं अत्यन्त वैधर्म्य के कारण जिन दो पदार्थों का सम्बन्ध न बनता प्रतीत होता हो उसे प्रथम प्रकार का विषम कहा है। जहां कर्ता को अपनी क्रिया के अभीष्ट फल की प्राप्ति न हो और उलटा अनर्थ हो जाय तो दूसरा विषम तथा कार्य के गुण तथा क्रिया से जो कारण के गुण तथा क्रिया के क्रम से जहां विपरीतता होती है वहां तीसरा तथा चतुर्थ विषम होता है।217

विषम के मूल में विरोध स्पष्ट है। दो विरोधी अथवा विपरीत वस्तुओं, जिनका सम्बन्ध न घटता हो, घटाने पर विषय अलंकार बनता है।

पुण्डरीक के दर्शन होने पर महाश्वेता की मनोदशा का सुन्दर चित्रण इन पंक्तियों में उपलब्ध होता है—

"क्वेदमतिभास्वरं धाम तेजसां तपसाञ्च, क्वच प्राकृतजनाभिनन्दितानि मन्मथपरिष्पन्दितानि।"218

अर्थात् यह देदीप्यमान तेज और तपस्या का आश्रय कहां और साधारण पुरुषों की प्रिय काम चेष्टा कहां ? प्रकृत वाक्य में दो विसदश पदार्थों की एक स्थान पर योजना की गयी है अतः विषम अलंकार है।

इसी प्रकार पुण्डरीक के कामज्वर शमन व्यापार के वर्णन में वह अवतरण दर्शनीय है—

"क्वायं हरिण इव वनवास निरतः स्वभावमुग्धोजनः, क्व च विविध विलास रसराशिर्गन्धर्वराजपुत्री महाश्वेता।"[219]

प्रस्तुत वाक्य में हरिण के समान वनवास में निरत एवं स्वभाव से ही सरल चित्त पुण्डरीक तथा नानाविध हावभाव एवं विलासों से ओतप्रोत महाश्वेता–इन दो विषम व्यक्तियों की संघटना की गयी है अतः यहाँ विषम अलंकार है।

समासोक्ति

आचार्य मम्मट के अनुसार समासोक्ति अलंकार में श्लेष युक्त विशेषणों से प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत का समास से अर्थात् संक्षेप में कथन होता है।[220] अर्थात् प्रस्तुत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के द्वारा श्लेष युक्त विशेषणों के प्रभाव से न कि विशेष्य पद के सामर्थ्य से जो अप्रस्तुत अर्थ का कथन होता है वह समास से अर्थात् संक्षेप से प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का बोध कराता है अतः उसे समासोक्ति कहते हैं।

यह गम्योपम्याश्रय मूलक विशेषण वैचित्र्य पर आधारित अलंकार है। इसमें प्रस्तुत का वर्णन ऐसे श्लिष्ट या साधारण विशेषणों के माध्यम से किया जाता है कि अप्रस्तुत का स्फुरण होने लगता है। अभिप्रेत यह है कि लिङ्ग अथवा विशेषण साम्य के आधार पर प्रकृत के वाच्य से अप्रकृत की व्यञ्जना इसमें होती है। आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि में समान कार्य, लिङ्ग और विशेषणों से प्रस्तुत वस्तु में अन्य वस्तु के व्यवहार का आरोप किया जाय तो वहां समासोक्ति होती है।[221]

कथामुखान्तर्गत रात्रि वर्णन में कमलिनी और सूर्य के व्यवहार को प्रदर्शित किया है—

"अचिर प्रोषिते च सवितरि शोक विधुरा कमलमुकुलकमण्डलुधारिणी हंससितदुकूल परिधाना मृणालधवलयज्ञोपवीतिनी मधुकर मण्डलाक्ष-वलयमुद्वहन्ती कमलिनी दिनपति समागम व्रतमिवाचरत्।"[222]

प्रस्तुत वाक्य में कमलिनी और दिनपति में स्त्री और पुरुष के व्यवहार का समारोप किया गया है तथा कमलिनी एवं दिनपति के वर्णन से पति पत्नी के व्यवहार रूप अप्रस्तुत का स्फुरण होने लगता है अतः संक्षेप में कथन होने से यह समासोक्ति का क्षेत्र है।

इसी के अनुसार उज्जयिनी वर्णन में भी समासोक्ति का चमत्कार द्रष्टव्य है—

"यस्याञ्च सौधशिखरशायिनीनां पश्यन् मुखानि पुरसुन्दरीणां मदन परवशइव पतितः प्रतिमाच्छलेन लुठति बहल चन्दन-जल-सेक-शिशिरेषु मणि कुट्टिमेषु मृगलाञ्छनः ।"[223]

अर्थात् उज्जयिनी में प्रासाद-शिखरों पर शयन करती हुई सुन्दरियों का मुखावलोकन कर मानो कामातुर होकर ही चन्द्रमा अपने प्रतिबिम्ब के ब्याज से गाढ चन्दन रस से शीतल मणि भूमि पर गिर कर लोटता है ।

प्रस्तुत अवतरण में वर्णित कार्यों से चन्द्रमा में विट कामुकत्व के व्यवहार का समारोप होने से समासोक्ति अलंकार हुआ ।

उदात्त

आचार्य मम्मट के अनुसार किसी वस्तु या पदार्थ की समृद्धि के वर्णन को उदात्त अलंकार कहा जाता है ।[224] किसी देश की या व्यक्ति की अतिशय सम्पत्ति का वर्णन उदात्त अलंकार के क्षेत्र में अन्तर्निहित हरता है ।

कादम्बरी के उज्जयिनी वर्णन में उदात्त अलंकार की छटा अपूर्व है—

"अस्ति सकल त्रिभुवन ललामभूता प्रसवभूमिरिव कृतयुगस्य आत्म-निवासोचिता भगवता महाकालाभिधानेन भुवनत्रयसर्गस्थितिसंहार-कारणेन प्रमथनाथेनापरेव पृथिवी समुत्पादिता, द्वितीय पृथिवी शङ्कया च जलनिधिनेव रसातल गभीरेण परिखावलयेन परिवृता पशुपति निवासप्रीत्या च गगन परिसरोल्लेखिशिखरमालेन कैलास-गिरिणेव सुधासितेन प्राकार मण्डलेन परिगता, प्रकट शंख-शुक्ति-मुक्ता-प्रवाल-मरकत-मणिराशिभिश्चामीकर चूर्ण सिकतानिकरनि-चितैरायामिभिः अगस्त्यपरिपीतसलिलैः सागरैरिव महाविपणिप-थैरुपशोभिता ।"[225]

प्रस्तुत अवतरण में उज्जयिनी की उत्कृष्ट समृद्धि का वर्णन किया गया है अतः यहां उदात्त अलंकार है ।

निष्कर्ष

अलंकारों की विविधरूपता को कादम्बरी के परिपार्श्व में देखने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कादम्बरी अलंकारों का महोदधि है । बाण भट्ट की लेखनी प्रसूत ये अलंकार काव्य की शोभा में निरन्तर अभिवृद्धि करते हैं । अलंकारों की छटा कादम्बरी में अनायास ही सर्वत्र बिखरी हुई

दृष्टिगोचर होती है। जितना कादम्बरी में अवगाहन किया जाय उतना ही सहृदय पाठक आनन्द विभोर हुए बिना नहीं रहता। यह अलंकार योजना वर्णनों के अनुरूप हुई है तथा कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि कोई अलंकार वहां हठात् प्रयुक्त किया गया है। प्रायः सभी अलंकारों का समुचित विन्यास एवं उनकी प्रसंगानुकूल योजना कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा एवं विद्वत्ता का परिचय प्रदान करती है। इसकी अद्भुत कल्पना शक्ति से प्रसूत ये अलंकार सहृदय के हृदय मे आनन्द और उल्लास को प्रस्फुटित करते हैं कि वह चमत्कार के चाकचक्य से अभिभूत होकर आश्चर्य एवं विस्मय के अधीन हुआ अप्रतिभ हो जाता है।

सन्दर्भ

1. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। काव्यालंकार सूत्र 1/1
2. काव्यालंकार 1/36
3. काव्यादर्श 2/1
4. काव्यादर्श 2/67
5. काव्यालंकार सूत्र 1-2
6. व्यक्ति विवेक-पृ० 744
7. वाग्भटालंकार पृ० 17
8. काव्य प्रकाश 8/67
9. चन्द्रालोक पृ० 43-44
10. अलंकारो हि चारुत्व हेतुः। ध्वन्यालोक पृ० 123
11. अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा: मन्तव्याः कटकादिवत्। वही पृ० 130
12. वक्रोक्ति जीवितम्-पृ० 8
13. काव्यप्रकाश 8/67
14. अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा:। काव्यानुशासनम् पृ० 295
15. अलङ्क्रियते अनेनेति चारुत्व हेतुरलङ्कारः।

—प्रताप रुद्रीय पृ० 244

16. अलंक्रियते अनेनेति चारुत्वहेतुरलंकारः। —प्रताप रुद्रीय पृ० 244
17. अतो रसा वाच्यबिशेषैरेवाक्षेप्तव्याः तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो

वाच्य विशेषा एव रूपकादयोऽलङ्कारा: । तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ यमक दुष्कर मार्गेषु तु तत् स्थितमेव ।

ध्वन्यालोक पृ० 140

18. नाट्य शास्त्र–अ० 6
19. अग्निपुराण 345/2
20. काव्यालंकार 3/6
21. काव्यादर्श 1/62 तथा 2/275
22.
23. ध्वन्यालोक 4/6
24. ध्वन्यालोक-उल्लास 4
25. ध्वन्यालोक-उल्लास 4
26. हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय: । काव्य प्रकाश 8/68
27. चन्द्रालोक 1/8
28. काव्यालंकार-भामह–2/7
29. तद्रूपा हि पदासत्ति: सानुप्रासा रसावहा । —काव्यादर्श 1/52
30. काव्यादर्श 1/55
31. काव्यालंकार संग्रह–पृ० 5
32. अनुल्वणो वर्णानुप्रास: श्रेयान् । काव्यालंकार सूत्राणि–पृ०47
33. साहित्य दर्पण पृ० 275
34. काव्यालंकार संग्रह–पृ०4
35. एकस्याप्यसकृत् पर: । काव्यप्रकाश–9/79
36. कादम्बरी पृ० 11
37. कादम्बरी पृ० 463
38. कादम्बरी पृ० 163
39. कादम्बरी पृ० 68
40. कादम्बरी पृ० 385
41. कादम्बरी पृ० 513
42. काव्य प्रकाश पृ० 407
43. साहित्य दर्पण पृ० 277
44. काव्य प्रकाश पृ० 407-408
45. कादम्बरी पृ० 10
46. काव्य प्रकाश–पृ० 409
47. साहित्य दर्पण–पृ०280

48. काव्यादर्श-पृ० 155
49. कादम्बरी-पृ० 64
50. कादम्बरी-पृ०519
51. कादम्बरी-पृ० 10
52. काव्य प्रकाश-9/86
53. कादम्बरी पृ० 78
54. कादम्बरी पृ० 32
55. जैसे लाख लकड़ी से भिन्न होते हुए भी उस पर चिपकी रहती है इसी प्रकार दूसरा शब्द भिन्न होने पर भी एक शब्द पर चिपका रहता है।
56. जिस प्रकार एक डाली पर दो फूल होते हैं उसी प्रकार एक शब्द में दो अर्थ रहते हैं।
57. काव्यादर्श-पृ० 136
58. काव्यादर्श-पृ० 152
59. कादम्बरी पृ० 33
60. कादम्बरी पृ० 123
61. कादम्बरी पृ० 38
62. कादम्बरी पृ० 73
63. कादम्बरी पृ० 93
64. उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं प्रदर्श्यते। —काव्यादर्श पृ० 49
65. सम्प्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्तावः तन्मूलं चोपमेति सेव विचार्यते।

काव्यालंकार सूत्राणि-पृ० 48

66. अलंकारः शिरोरत्नं सर्वस्वं काव्य सम्पदाम्।
उपमा कवि वंशस्य मातेबेति मतिर्मम॥

— अलंकार शेखर-पृ० 32

67. उपमैवानेक प्रकार वैचित्र्येणानेकालंकार बीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा।

अलंकार सर्वस्व-पृ० 32

68. उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिका भेदात्।

चित्र मीमांसा-पृ० 6

69. नाट्य शास्त्रम्-पृ० 260
70. अलंकार सर्वस्व-पृ० 31
71. चन्द्रालोक-पृ० 50
72. रस गंगाधर-पृ० 195
73. अलंकार प्रदीप पृ० 1

74. कादम्बरी पृ० 10-11
75. कादम्बरी पृ० 147
76. काव्य प्रकाश–10/87
77. कादम्बरी पृ० 248
78. कादम्बरी पृ० 355-56
79. काव्य प्रकाश 9/87
80. कादम्बरी–पृ० 14
81. कादम्बरी–पृ० 18
82. कादम्बरी पृ० 354
83. कादम्बरी पृ० 179
84. कादम्बरी पृ० 249-50
85. काव्य प्रकाश 10/90
86. साहित्य दर्पण पृ० 301
87. कादम्बरी पृ० 188
88. कादम्बरी पृ० 442
89. नाट्य शास्त्रम्–पृ० 261
90. काव्यालंकार–पृ० 1
91. काव्यादर्श–पृ० 65
92. रस गंगाधर–पृ० 446
93. कादम्बरी–पृ० 67
94. कादम्बरी–पृ० 189
95. काव्य प्रकाश 10/94
96. कादम्बरी पृ० 12
97. कादम्बरी पृ० 15
98. कादम्बरी पृ० 32-33
99. कादम्बरी पृ० 139-40
100. कादम्बरी पृ० 233
101. काव्यालंकार–पृ० 16
102. काव्य प्रकाश 10/109
103. कादम्बरी पृ० 101
104. कादम्बरी पृ० 107-8
105. कादम्बरी पृ० 406
106. कादम्बरी पृ० 429
107. काव्यालंकार-पृ० 16

108. काव्यालंकार–पृ० 93
109. कादम्बरी–पृ० 296
110. कादम्बरी पृ० 583
111. काव्यालंकार–भामह पृ० 16
112. काव्यादर्श पृ० 102
113. कुवलयानन्द–पृ० 660
114. कादम्बरी पृ० 660
115. कादम्बरी पृ० 19
116. नाट्य शास्त्रम्–पृ० 227
117. काव्यालंकार-भामह पृ० 21
118. काव्यालंकार संग्रह-उद्भट–पृ० 67
119. कादम्बरी पृ० 322
120. कादम्बरी पृ० 355
121. नाट्य शास्त्र–पृ० 257
122. काव्यालंकार-भामह–पृ० 17
123. काव्यादर्श पृ० 108
124. काव्य प्रकाश–पृ० 482
125. कादम्बरी पृ० 146-47
126. कादम्बरी पृ० 571-72
127. कादम्बरी पृ० 17-18
128. कादम्बरी पृ० 65-66
129. काव्यालंकार-भामह पृ० 18 (2/91)
130. काव्यादर्श–पृ० 159
131. कादम्बरी पृ० 74
132. कादम्बरी पृ० 286-87
133. कादम्बरी पृ० 130-31
134. कादम्बरी पृ० 131
135. कादम्बरी पृ० 233
136. कादम्बरी पृ० 118-19
137. कादम्बरी पृ० 118
138. काव्यालंकार-भामह पृ० 21
139. वक्रोक्ति जीवितम् पृ० 475
140. कादम्बरी पृ० 423-24
141. कादम्बरी पृ० 482

142. कादम्बरी पृ० 605-6
143. काव्यालंकार-भामह-पृ 21
144. काव्यादर्श पृ० 142
145. कादम्बरी पृ० 441-42
146. कादम्बरी पृ० 549-50
147. कादम्बरी पृ० 602
148. कादम्बरी पृ० 428
149. कादम्बरी पृ० 407-8
150. काव्यालंकार सूत्राणि-पृ० 65
151. कादम्बरी पृ० 550
152. कादम्बरी पृ० 550
153. काव्यालंकार-भामह-पृ० 23 (3/39)
154. काव्यादर्श 2/351
155. साहित्य दर्पण-पृ० 335
156. कादम्बरी पृ० 342
157. कादम्बरी पृ० 436
158. कादम्बरी पृ० 608
159. नाट्य शास्त्र-पृ० 299
160. अलंकार सर्वस्व-पृ० 197
161. कादम्बरी पृ० 567
162. कादम्बरी पृ० 500
163. कादम्बरी पृ० 567
164. काव्यालंकार-रुद्रट-पृ० 89
165. काव्य प्रकाश-10/118
166. कादम्बरी पृ० 503
167. कादम्बरी पृ० 506-7
168. चन्द्रालोक पृ० 61
169. कादम्बरी पृ० 98
170. कादम्बरी पृ० 630
171. कादम्बरी पृ० 12
172. कादम्बरी पृ० 139-40
173. काव्य प्रकाश-10/32
174. कादम्बरी पृ० 26

175. कादम्बरी पृ० 571
176. साहित्य दर्पण–पृ० 306
177. कादम्बरी पृ० 576
178. काव्य प्रकाश–10/132
179. कादम्बरी पृ० 65-66
180. काव्य प्रकाश–10/102
181. कादम्बरी पृ० 410
182. कादम्बरी पृ० 523
183. काव्य प्रकाश–10/97
184. कादम्बरी–पृ० 104-5
185. कादम्बरी-पृ० 610
186. कादम्बरी–पृ० 126-27
187. कुवलयानन्द–पृ० 104
188. काव्य प्रकाश पृ० 526
189. कादम्बरी पृ० 166
190. काव्य प्रकाश-पृ० 510
191. कुयलयानन्द
192. कादम्बरी पृ० 311
193. कादम्बरी पृ० 349
194. साहित्य दर्पण 10/63
195. कादम्बरी पृ० 108
196. कादम्बरी पृ० 589
197 कादम्बरी पृ० 314
198. काव्य प्रकाश 10/130
199. साहित्य दर्पण–10/89
200. कादम्बरी-पृ० 165
201. कादम्बरी पृ० 214
202. कुवलयानन्द पृ० 235
203. काव्य प्रकाश 10/137
204. कादम्बरी पृ० 31
205. काव्य प्रकाश पृ० 515-517
206. कुवलयानन्द पृ० 187-188
207. कादम्बरी पृ० 166-67

208. कादम्बरी पृ० 630
209. कुवलयानन्द पृ० 251
210. काव्य प्रकाश–पृ० 505
211. कादम्बरी पृ० 141-42
212. कादम्बरी पृ० 273
213. विरुद्धाभासत्वं विरोधः। काव्यालंकार सूत्र-पृ० 68
214. कादम्बरी पृ० 27-28
215. कुवलयानन्द–पृ० 151
216. कादम्बरी–पृ० 550
217. काव्य प्रकाश 10/127
218. कादम्बरी पृ० 428
219. कादम्बरी पृ० 466
220. काव्य प्रकाश–10/97
221. साहित्य दर्पण–10/56-57
222. कादम्बरी पृ० 148
223. कादम्बरी पृ० 165
224. काव्य प्रकाश 10/115
225. कादम्बरी पृ० 153-54

————

कादम्बरी में प्रकृति-चित्रण

अष्टम–परिच्छेद

विश्व की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति ही प्रकृति है। भारतीय दर्शन के अनुसार प्रकृति पुरुष के आकर्षण से सर्जन-विस्तार करती है। प्रकृति की इस व्याख्या में विश्व का समस्त विस्तार समाहित होता है। परम्परा जिस अर्थ में प्रकृति को ग्रहण करती है, उसमें भी समस्त बाह्य-जगत् को उसके इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान एव उसमें अधिष्ठित चेतना से समन्वित प्रकृति माना जाता है। प्रकृति की इस व्यापक सीमा में प्रकृति के कितने ही विभिन्न रूपों का समावेश हो जाता है।

प्रकृति में विशाल व्यापक सौन्दर्य है और काव्य सौन्दर्य पर आधारित है। काव्य प्रकृति के सौन्दर्य कीं अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति और काव्य का सम्बन्ध सौन्दर्य के धरातल पर है। प्रकृति के सौन्दर्य की अनुभूति के लिए कवि और कलाकार की दृष्टि अपेक्षित है। यही सौन्दर्य कवि की अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करता है। कवि प्रकृति के समक्ष अनुभूति शील हो उठता है और अपनी कल्पना से इस सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है। प्रकृति की इस अनुभूति के साथ कवि अपने मानवीय जीवन का प्रतिबिम्ब भी समन्वित करता है। प्रकृति के क्रिया-कलापों में मानवीय जीवन-व्यापार की झलक व्यक्त होती है। यही कारण है कि अनुभूति पक्ष पर बल देने वाली काव्य-शास्त्र की विवेचनाओं में प्रकृति को महत्त्व पूर्ण स्थान मिल सका है।

कादम्बरी का प्रकृति चित्रण अत्यन्त सुन्दर एवं सजीव है। गद्य-काव्यों में कथा-वस्तु एवं वर्णना-विस्तार में सदा एक अभिन्न सम्बन्ध रहा है। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि प्रकृति कथा की स्थिति को प्रत्यक्ष करने के लिए तथा वातावरण के निर्माण के लिए प्रस्तुत की गयी है। ऐसी अवस्था में

प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत एक रम्य वातावरण का निर्माण करती है। वर्णना के विस्तार में जैसे अलंकृत प्रयोग कथा-वस्तु के अंग बन जाते हैं वैसे ही उद्दीपन के प्रत्येक संकेत दृश्य में भावशीलता की व्यंजना करके विलुप्त हो जाते हैं। दृश्यों का वर्णन, इस प्रकार, विस्तृत एवं संश्लिष्ट होता है कि उनका रूप दर्शक के समक्ष अधिक प्रत्यक्ष हो जाता है। कभी वर्णना के अन्तर्गत स्वाभाविक उद्दीपनकारी भावशीलता व्यंजित हो जाती है। महाश्वेता के स्नानागमन वर्णन के प्रसंग में प्रकृति की उद्दीपक भावशीलता की अभिव्यक्ति की छवि दृष्टिपथ में आती है—

"अशोक तरुताडनारणितरमणीमणि नूपुरझंकार सहस्र मुखरेषु, विकसन्मुकुल परिमल पुञ्जितालिजाल मञ्जु शिञ्जितसुभगसहकारेषु, अविरल कुसुमधूलिबालुकापुलिनधवलितधरातलेषु, मधुमदविडम्बित मधुकरी कदम्बक संवाह्यमानलतादोलेषु, उत्फुल्लपल्लवलवलीलीयमान मत्त कोकिलोल्लासित मधुशीकरोद्दाम दुर्दिनेषु।"[1]

अर्थात् अशोक वृक्षों पर चरण प्रहार करने से शब्दायमान रमणियों के मणिमय नूपुर के झंकार से दिशाएं मुखरित हो रही थी, विकसित कलियों के सौरभ से एकत्रित हुए भ्रमरों के मनोहर गुंजार से आम के वृक्ष मनोरम प्रतीत हो रहे थे, बालुकामय पुलिन के समान अविरल पुष्प पराग से भूतल धवल वर्ण दिखाई पड़ रहा था, पुष्प के मधुपान से मदमत्त मधुकरी गण लता रूपी झूलों पर झूल रहे थे, मत्त कोकिलगण पल्लवों से व्याप्त लवली लताओं में गुप्त रूप से रहकर, उसके पुष्पों के मधुकणों को उडा उडाकर उत्कट दुर्दिन कर रहे थे अर्थात् प्रचुर वर्षा कर रहे थे।

एक अन्य स्थल पर यह वातावरण अधिक उद्दीपक परिलक्षित होता है। महाश्वेता के आश्रम में चन्द्रोदय वर्णन के प्रसंग में प्रकृति की उद्दीपनकारी छटा द्रष्टव्य है—

"समुपोढनिद्रे च द्राधीयो वीचिविचलितवपुषि विरुवति विरहिणि चक्रवाक चक्रवाले, निवृत्ते च चन्द्रोदये विद्रुते हर्षनयनजलकणनीहारिणी मनोहारिणी विद्याधराभिसारिकाजने।"[2]

सार यह है कि रात्रि के उपस्थित हो जाने के कारण मोहनिद्रा से अभिभूत हुए अच्छोद सरोवर की विपुल तरंगों से आन्दोलित शरीर वाले परस्पर विरही चक्रवाक के समूह जब चीत्कार करने लगे, चन्द्रोदय जब पूर्ण हो गया, और नेत्रों से शिशिर के समान आनन्दाश्रुबिन्दु का विसर्जन करती

आकाश में विहार करने वाली चन्द्र के उदय से अन्धकार मिट जाने के कारण इधर-उधर भागती मनोहर विद्याधर रमणियां जब अभिसार के लिए जाने लगी।

महाश्वेता के स्नान के हेतु आगमन के वर्णन में प्रत्यक्ष उद्दीप्त करती हुई प्रकृति का चित्र भी मनोरम रूप में व्यंजित हुआ है—

"प्रोषित जनजायाजीवोपहारहृष्टमन्मथास्फालित चापरवभयस्फुटित पथिक हृदयरुधिरार्द्रीकृतमार्गेषु, अविरत पतत्कुसुमशर पतत्रिपत्र-सूत्कारबधिरीकृतदिङ्मुखेषु, दिवापि प्रवृत्तान्तर्मदनरागान्धाभिसारिका-सार्थसंकुलेषु, उद्वेलरतिरससागरपूरप्लावितेषु।"[1]

अर्थात् प्रोषितभर्तृकाओं के जीवन उपहार प्राप्त कर सन्तुष्ट चित्त से कामदेव अपने धनुष का बार बार आस्फालन करता था जिसके शब्द से त्रस्त होकर प्रवासियों के विदीर्ण हृदयों से बहते हुए रुधिर से समस्त मार्ग आर्द्र हो रहे थे, अनवरत गिरते कामदेव के बाणों के पंखों को सनसनाहट से समस्त दिशाएं बधिर हो रही थी, हृदय में उत्पन्न कामावेश से विह्वल होकर कामिनियां दिन में भी संकेत स्थान में आ रही थी, रमणानुराग रूप उमड़ते हुए समुद्र के प्रवाह में सब प्लावित हो रहे थे।

प्रस्तुत वर्णन प्रकृति का प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट उद्दीपनकारी भव्य दृश्य उपस्थित करता है। इसका श्रवण करते ही वह प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा मानस में उद्वेलन करती हुई तथा भावों को स्पष्ट रूप से उद्दीप्त करती हुई प्रत्यक्ष चित्र के समान उपस्थित हो जाती है।

इसी प्रकार बढ़ते हुए और सर्वतः प्रसरणशील अन्धकार में प्रेरणाप्रद प्रकृति का सुरम्य रूप निहित है –

"तत्काल विजृम्भितेन च कादम्बरी हृदयरागसागरेणेव आपूरिते सन्ध्यारागेण जीवलोके, कुसुमायुधानल दह्यमान हृदय सहस्र धूम इव जनित मालिनीनयनवारिणि विस्तीर्यमाणे तरुण तमालत्विषि तिमिरे।"[2]

अर्थात् तत्काल बढ़े हुए कादम्बरी हृदय राग रस सागर के समान सन्ध्या राग ने समस्त भुवन को आच्छादित कर लिया, कामाग्नि से जलते हुए हजारों विरहियों के हृदयों से निकलते हुए धूम के समान मानिनियों के नयनों से अश्रुधारा उत्पन्न करता हुआ भूतल पर तमाल वृक्ष के समान अन्धकार जब सर्वत्र फैल गया।

प्रस्तुत अवतरण में कादम्बरी के अन्तः करण में प्रेरणा सी भरती हुई प्रकृति की उद्दीपक छटा सहृदयों को सहसा आनन्द निर्भर कर देती है। यहां प्रकृति की भावात्मक व्यंजना वातावरण के अनुरूप प्रस्फुटित हुई है।

चन्द्रापीड मदलेखा के वार्तालाप के वर्णन के अनन्तर प्रकृति चित्रण में वियोग की व्याकुलता का सुरम्य चित्रण प्रस्तुत किया गया है—

"अभ्यर्ण विरह विधुरस्य च कामिनीजनस्य निःश्वसितैरिव उष्णैर्म्लानिमनीयत चन्द्रिका। चन्द्रापीड विलोकनारूढमदनेन कुमुददलोदरनीतनिशापङ्कजेषु निपपात लक्ष्मीः। क्षणदापगमे च स्मृत्वा कामिनीकर्णोत्पलप्रहारान् उत्कण्ठितेष्विव क्षामतां व्रजत्सु पाण्डुतनुषु वासगृहदीपेषु।"[5]

अर्थात् वियोग समय के समीप आने से विह्वल कामिनियों के उष्ण निश्वासों से ही मानो चांदनी मलिन हो गयी।

चन्द्रापीड के देखने से काम सन्तप्त होकर ही मानो शोभा कुमुद दल के अभ्यन्तर समस्त रात्रि को व्यतीत कर उस समय कमलों में जाकर पडी, रात्रि शेष में मन्द हुए शयन गृह के दीपक कामिनियों के कर्णोत्पल प्रहारों का स्मरण कर उत्कण्ठित हो कर मानो पाण्डु शरीर से क्षीण हो गये।

कादम्बरी के गन्धर्व नगर में उदित होते हुए चन्द्रमा के दृश्य के चित्रण में नायक एवं नायिकाओं के प्रेम व्यवहार की जो व्यञ्जना होती है वह उद्दीपन को प्रेरित करने वाली है—

"[6]ततोऽचिरादिव गृहीतपादः प्रसाद्यमान इव कुमुदिनीभिः, कलुषमुखीः कुपिता इव प्रसादयन्नाशाः, प्रबोधाशङ्कयेव परिहरन् सुप्ताः कमलिनीः, लाञ्छनच्छलेन निशामिव हृदयेन समुद्वहन्, रोहिणीचरणताडनलग्नमलक्तकरसमिवोदयरागं दधानः, तिमिर नीलाम्बरवरां दिवमभिसारिकामिवोपसर्पन्, अतिवल्लभतया विकिरन्निव सौभाग्यम्, उदगाद् भगवान् ईक्षणोत्सवः सुधासूतिः।"

अर्थात् अचिर काल में ही चरण ग्रहण करके कुमुदिनियां जिनको प्रसन्न करती थी, मलिन मुख होने से कुपित के समान दिखाई देती हुई दिशाओं को प्रसन्न करता हुआ सा, जग जाने की आशंका से ही मानो सुप्त कमलिनियों को छोड़ता हुआ, कलंक के बहाने रात्रि को ही अपने हृदय में धारण करता हुआ, रोहिणी के चरण प्रहार से लगे हुए महावर के रस के समान उदय काल की रक्तिमा से समन्वित. अभिसारिका नायिका के समान अन्धकार से नीलवर्ण आकाश के समीप जाता सा लोगों के अत्यन्त प्रिय होने

के कारण प्रीतिवर्षण करता हुआ सा नयनानन्दकारी भगवान् चन्द्रमा का उदय हुआ ।

प्रस्तुत अवतरण में नायक के रूप में चन्द्रमा की कल्पना प्रकृति को रति भाव के उद्दीपन के रूप में उपस्थित करती है। कथा-वस्तु में संयोग शृंगार का स्थान नगण्य है साथ ही प्रकृति के वर्णन के साथ विलास-क्रीडा का उल्लेख भी नहीं के बराबर हुआ है।

राज प्रासादों के वर्णन में प्रकृति का ऐश्वर्यपूर्ण, विस्तृत एवं अलंकृत वर्णन उपलब्ध होता है—

''समारोपितकार्मुके गृहीतसायके यामिक इव अन्तः पुरप्रविष्टे मकरकेतौ अवतंस पल्लवेष्विव सरागेषु कर्णे क्रियमाणेषु सुरतदूतीवचनेषु, सूर्यकान्त मणिभ्य इव संक्रान्तानलेषु ज्वलत्सु मानिनीनां शोकविधुरेषु हृदयेषु ।''[7]

अर्थात् धनुष चढाकर बाण ले पहरेदार के समान कामदेव ने अन्तः पुर में प्रवेश किया, कर्णपल्लव के समान सराग सुरतदूती के वचन सुनाई देने लगे, सूर्यकान्त मणियों से मानिनियों के शोकार्त विधुर हृदय जलने लगे। यहां विलास क्रीडा का संकेत मात्र दिया गया है।

प्रकृति-चित्रण में बाण भट्ट अनुपम चित्रकार हैं। चित्रों की इतनी विस्तृत एव क्रमिक योजना अन्य किसी काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रकृति के विस्तृत खण्ड को लेकर उसका रूप पूर्णता के साथ पाठक के समक्ष चित्रित करने में बाण की प्रतिभा अद्वितीय है। बाण में अलंकार प्रियता भी दृष्टिगोचर होती है परन्तु वर्णन विस्तार की सघनता में वह तिरोहित हो जाती है। उनके काव्यों के कथानकों में प्रकृति का स्थान स्वाभाविक है और कभी-कभी प्रकृति घटना स्थली बन गयी है। बाण के ग्रन्थों में प्रकृति की सुषमा का अत्यधिक विस्तार है इस कारण यहां विस्तार के भय से संक्षिप्त रूप में मनोरम वर्णन ही प्रस्तुत किये जा सकेंगे।

वन प्रदेश

विन्ध्याटवी

शुक के वृत्तान्त के आरम्भ में कवि ने विन्ध्याचल की अटवी का वर्णन किया है—

''अस्ति पूर्वापर जलनिधि वेलावनलग्ना मध्यदेशालङ्कारभूता मेखलेव

भुवः, वन-करिकुल-मदजल-सेक-सम्वर्द्धितैरतिविकचधवल कुसुमनिकर-मत्युच्चतया तारागणमिव शिखरदेशलग्नमुद्वहद्भिः पादपैरुपशोभिता, मदकल-कुररकुलदश्यमानमरीचपल्लवा, करिकलभकरमृदित तमाल-किसलयामोदिनी, मधुमदोपरक्त केरलीकपोलकोमलच्छविना सञ्चर-द्वनदेवता चरणालक्तकरस रञ्जितेव पल्लवचयेनाच्छादिता, शुक-कुल-दलित-दाडिमीफल-द्रवार्द्रीकृततलैरतिचपल-कपिकुल–कम्पित-कम्पिल्ल-च्युत-पल्लव-फल-शकलैः, अनवरत निपतित कुसुमरेणु पांशुलैः पथिक जन रचित लवंग पल्लव संस्तरैः, अतिकठोर नारिकेल-केतकी-करीर-वकुल-परिगत-प्रान्तैः, ताम्बूलीलतावनद्द पूगखण्ड-मण्डितै र्वनलक्ष्मीवासभवनैरिव विराजिता लतामण्डपैः।"[8]

अर्थात् समुद्र के पूर्वी किनारे से पश्चिमी किनारे तक लगा हुआ मध्य देश की शोभा बढ़ाने वाला विन्ध्याटवी नामक वनों का यह प्रदेश पृथ्वी की मेखला के समान फैला हुआ था। कहीं-कहीं सुन्दर बगुलों की मदमत्त टोलियां मरीचि के पत्ते नोंच-नोंच कर खाती थी, कहीं हाथियों के बच्चों की सूंडों से मसले गये तमाल के पत्तों से मधुर सुगन्धि निकलती थी, कहीं मदिरा के नशे से आरक्त केरल की स्त्रियों के कपोलों के समान लाल सुकुमार पल्लव बिछाये हुए थे, जो वन में संचरण करने वाली वन देवियों के महावर से रंगे हुए से प्रतीत होते थे, कहीं लता कुन्जों में शुकों द्वारा कुतर-कुतर कर गिराये गये अनार के दाने बिखरे हुए थे, किसी के अभ्यन्तर उचल कूद मचाने वाले बन्दरों से हिलाये गये–कक्कोल वृक्षों से गिरे हुए पत्ते और फलों के टुकड़े पडे हुए थे, किसी में निरन्तर झडने वाली पुष्पों की धूलि पडी हुई थी, किसी में पथिकों के आराम करने के लिए लवंग लता के पत्तों की चटाईयां बिछी हुई थी, किसी के किनारे अत्यन्त कठोर नारिकेल, केवडे, करील और मौलिश्री के वृक्ष घिरे थे, किसी में पान की लताओं से लिपटी हुए सुपारी के झुरमुट वनलक्ष्मी के महलों के समान प्रतीत होते थे।

कहीं एक में एक सटी हुई सुगन्धित लताओं का घना अन्धकार छाया हुआ था —

"उन्मदमातंग कपोलस्थलगलितमदसलिल सिक्तेनेव निरन्तर मेखला-लतावनेन मदगन्धिनान्धकारिता, नखमुख लग्नेभकुम्भमुक्ताफल लुब्धैः, शबरसेनापतिभिरभिहन्यमानकेशरिशता प्रेताधिपनगरीव

सदा सन्निहित मृत्युभीषणा महिषाधिष्ठिता च, समरोद्यत पताकिनीव बाणासनसमारोपित शिलीमुखा विमुक्त सिंहनादा च, कात्यायनीव प्रचलितखड्गभीषणा रक्तचन्दनालङ्कृता च, कर्णीसुतकथेव सन्निहित विपुलाचला शशोपगता च, कल्पान्तः प्रदोषसन्ध्येव प्रनृत्यन्नीलकण्ठा पल्लवारुणा च, अमृतमथनवेलेव श्रीद्रुमोपशोभिता वारुणीपरिगता च, प्रावृडिव घनश्यामला अनेक शतह्लदालङ्कृता च,............ क्वचिद्गृहीत व्रतेव दर्भचीर जटावल्कलधारिणी, अपरिमित बहलपत्रसचयापि सप्तपर्ण भूषिता, क्रूरसत्त्वापि मुनिजनसेविता, पुष्पवत्यपि पवित्रा, विन्ध्याटवी नाम।"[9]

वन में मद के समान सुगन्धि वाली इलायची की लताओं से अन्धकार हो रहा था ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों उन्मत्त हाथियों के गण्डस्थल से झरते मदजल से सिंचा हुआ हो, हाथियों के कुम्भ स्थल से निकले हुए मुक्ताफल सिंहों के नखों के अग्रभाग में लगे रहते थे, जिनके लोभ से भील सेनापति वहां सिंहों का शिकार करते थे,...... व्रत करने वाली स्त्री के समान कहीं वह दर्भ, चीर, जटा और वल्कल धारण करती थी, असंख्य पत्तों वाली होने पर भी वह सप्तपर्णों से सुशोभित थी, क्रूरसत्व होने पर भी वह मुनिजन सेवित थी, और और पुष्पवती होकर भी वह पवित्र थी।

इस वर्णन में कवि ने प्रकृति के वर्णन में अलंकारों की सुन्दर योजना की है परन्तु वह अलंकार योजना वन के वातावरण के निर्माण में बाधक न हो कर उसको और भी चमत्कार पूर्ण बनाती है। कवि द्वारा प्रसूत यह चित्रण कवि की कुशल लेखनी का परिचायक है।

जीर्ण शाल्मली

अटवी का वर्णन व्यापक योजना के आधार पर किया गया है। क्रमशः घटना स्थली की ओर बढ़ते हुए महाकवि बाण ने विशाल शाल्मली वृक्ष का संश्लिष्ट चित्रण प्रस्तुत किया है

"तस्यैव पद्म सरसः पश्चिमे तीरे राघव शरप्रहारजर्जरितजीर्णतालतरुखण्डस्य च समीपे दिग्गज करदण्डानुकारिणा जरदजगरेण सततमावेष्टितमूलतया बद्ध महालवाल इव तुङ्गस्कन्धावलम्विभिरनिलवेल्लितैरहिनिर्मोकैर्धृतोत्तरीय इव दिक् चक्रवाल परिमाणमिव

गृह्णता भुवनान्तराल विप्रकीर्णेन शाखा सञ्चयेन प्रलयकाल ताण्डव प्रसारित भुजसहस्रमुडुपतिशेखरमिव विडम्बयितुमुद्यतः, पुराणतया पतनभयादिव वायुस्कन्ध लग्नः, निखिल शरीर व्यापिनीभिरति दूरोन्नताभिर्जीर्णतया शिराभिरिव परिगतो व्रततीभिः, जरातिलक बिन्दुभिरिव कण्टकैरावृततनुः, अखिल भुवनतलावलोकनप्रासाद इव वनदेवतानाम्, अधिपतिरिव दण्डकारण्यस्य, नायक इव सर्व वनस्पतीनाम्, सखेव विन्ध्यस्य शाखा बाहुभिरुपगुह्येव विन्ध्याटवीमवस्थितो महान् जीर्णः शाल्मली वृक्षः ।[10]

अर्थात् उस पद्म सरोवर के पश्चिम तट पर राम के बाणों से जर्जरित पुराने ताल वृक्ष के कुंजों के पास एक विशाल महाजीर्ण शाल्मली का वृक्ष है। उसकी जड़ के आस-पास बड़े आलबाल के रूप में एक वृद्ध दिग्गज की सूंड जैसा अजगर सदा लिपटे रहता है। ऊंची शाखाओं पर लटकती हुई सांप की केंचुलियां पवन से हिलती हुई ऐसी जान पड़ती हैं कि मानो वृक्ष ने दुपट्टा धारण कर लिया हो। दिशाओं के मण्डल को नापती हुई सी शाखाएं अन्तरिक्ष में इस प्रकार फैली हुई हैं मानो प्रलय काल के ताण्डव नृत्य में प्रसारित भुजा वाले चन्द्रशेखर का तिरस्कार कर रही हों और उसने अति प्राचीन होने के कारण गिर जाने के भय से मानो आकाश का सहारा ले लिया हो। उसके समस्त शरीर पर दूर-दूर तक व्याप्त लताएं जीर्णता के कारण नसों जैसी दिखायी पड़ती थी, वृद्धावस्था के काले दागों के समान उसका शरीर कण्टकों से परिपूर्ण था। वह आकाश तल तक पहुँची हुई ऊँचाई से ऐसा प्रतीत होता था मानो उचक कर नन्दन वन की शोभा को देखने का प्रयत्न कर रहा हो, उसके शिखर रूई की तहों से सफेद हो गये थे मानो उसके समीप आकर आकाश मार्ग से जाने वाले थके हुए सूर्य के घोड़ों ने थोड़ी देर ठहर कर उन्हें अपने ओठों की कोरों से गिरते हुए झागों से भर दिया हो, उसके कोटरों में गुंजरित होने वाले भ्रमर उसके प्राणों के समान प्रतीत होते थे, दण्डकारण्य का मानो वह स्वामी था, अथवा समस्त वनस्पतियों का वह राजा था, अथवा विन्ध्याचल का वह मित्र था, उसने अपनी शाखारूपी भुजाओं को फैलकार विन्ध्याटवी को अपने आलिंगन में आबद्ध कर लिया था।

शाल्मली वृक्ष का कितना स्पृहणीय वर्णन महाकवि ने यहां प्रस्तुत किया है वह सरस सहृदयों के ही अनुभव का विषय है। अलंकार-योजना से काव्य में सजीवता आ गयी है।

शुक-आवास

शाल्मली वृक्ष के वर्णन के अनन्तर महाकवि वृक्ष पर निवास करने वाले शुकों का सुरम्य चित्रण प्रस्तुत करता है। इतना बड़ा और विस्तृत वृक्ष था कि नाना दिग्भागों से आकर पक्षिगण इस पर निवास करते थे—

> **"तत्र च शाखाग्रेषु कोटरोदरेषु पल्लवान्तरेषु स्कन्धसन्धिषु जीर्णवल्कलविवरेषु च महावकाशतया विश्रब्ध विरचित कुलायसहस्राणि दुरारोहतया विगलितविनाशभयानि नानादेश समागतानि शुक-शकुनिकुलानि प्रतिवसन्ति स्म। यैः परिणामविरलदलसंहतिरपि वनस्पतिः विरलदल निचयश्यामल इवोपलक्ष्यते दिवानिशं निलीनैः।"[11]**

अर्थात् स्थान अधिक होने के कारण विभिन्न देशों से आये हुए शुक और पक्षियों के परिवार उसकी शाखाओं के अग्रभाग पर, खोखलों में, पत्तों के मध्य में, स्कन्धों के जोड़ों पर और पुरानी छालों के छिद्रों में, हजारों घोंसले बना कर रहते थे, उस वृक्ष पर चढ़ना अत्यन्त कठिन था अतः वे विनाश के भय से निश्चिन्त थे, यद्यपि वह वृक्ष वार्धक्य के कारण पत्तों से खंखड सा हो गया था तथापि उन पक्षियों के निरन्तर निवास से घने पत्तों से समावेष्टित सा प्रतीत होता था।

आहार करने के अनन्तर अपने शावकों के लालन-पालन में व्यस्त उन पक्षियों की प्रकृति का कितना स्वाभाविक वर्णन महाकवि ने यहां प्रस्तुत किया है—

> **"कृताहाराश्च पुनः प्रतिनिवृत्यात्म कुलागावस्थितेम्यः शावकेम्यो विविधान् फल रसान् कलम मञ्जरीविकारांश्च प्रहतहरिणरुधिरानुरक्त शार्दूलनखकोटिपाटलेन चंचुपुटेन दत्वा दत्वा अधरीकृत सर्वस्नेहेनासाधारणेन गुरुणा अपत्यप्रेम्णा तस्मिन्नेव क्रोडान्र्तानिहिततनयाः क्षपाः क्षपयन्ति स्म।"[12]**

परन्तु वैशम्पायन के पिता के दर्भचीर के समान पंख बहुत थोड़े और रूक्ष थे तथा छिन्न-भिन्न हो गये थे, शिथिल कन्धों के झुक जाने के कारण उड़ने की शक्ति भी नष्ट हो गयी थी। उनका शरीर वार्धक्य के कारण सदा कांपा करता था मानो वह अपने शरीर से चिपक जाने वाली दुःखदायिनी वृद्धावस्था को दूर करना चाहता था, उनकी चौंच हारसिंगार के पुष्प की डंठल के समान कुछ पिंगल वर्ण की हो गयी थी और उसका बीच में से घिसा हुआ

अग्रभाग धान की मंजरी काटने के कारण चिकना और घिसा हुआ था, वह अपनी चोंच से दूसरों के घोंसलों से गिरे हुए धान की बाली से चांवल बीन कर और तोतों के द्वारा कुतरे हुए वृक्ष की जड़ के पास पड़े फल के टुकड़ों को एकत्र कर उसे खिलाता था। उनमें आकाश में उड़ने की क्षमता नहीं थी।[13]

इस समस्त वर्णना-विस्तार में चित्र प्रत्यक्ष सा उपस्थित हो जाता है। साथ ही चित्र में सूक्ष्म निरीक्षण के साथ अत्यन्त सजीवता भी दृष्टिगोचर होती है।

शून्याटवी

उज्जयिनी के मार्ग में एक शून्य वन प्रदेश था जिसका वर्णन कवि की मौलिक प्रतिभा एवं उत्कृष्ट कल्पना शक्ति का द्योतक है। इस अटवी में अत्यन्त ऊँचे तने के वृक्ष थे—

> **क्रमेण च अतिप्रवृद्धप्रकाण्डपादपप्रायया, मालिनी-लता-मण्डपै-मण्डलित-तरुखण्डया, गजपति-पतित-पादप-परिहार-वक्रीकृत-मार्गया जनजनित तृण-पर्ण-काष्ठ-कोटि-कूट-प्रकटित-वीरपुरुष घातस्थानया, महापादप भूतलोत्कीर्ण कान्तारदुर्गया, तृषित-पथिक-खण्डित-दलोज्झितामलकी-फल-निकरया, फलितैः प्रियङ्गुप्रायैरटवीक्षेत्रैः विरलीकृते वनप्रदेशे ......।"[14]**

अर्थात् इस वन के वृक्षों के तने ऊँचे और विस्तृत थे, वृक्षों के झुरमुटों में माधवी लता के मण्डप बने हुए थे। हाथियों के द्वारा गिराये गये वृक्षों के पड़े रहने से पगडंडी टेढी हो गयी थी, हिंसक जन्तुओं से आत्मरक्षा के लिए पक्षियों द्वारा काटे हुए घास, पत्ते और लकड़ी के ढेर लगे थे, पथिकों के द्वारा विशाल वृक्षों की जड़ में खोद कर बनाई गयी वन दुर्गा की मूर्तियां विद्यमान थी, प्यासे पक्षियों द्वारा गूदा उतार कर फैंके गये आंवले पड़े हुए थे। वन क्षेत्र पक जाने के कारण पीले दिखाई देने वाले फलों से आच्छादित प्रियंगु वृक्षों से परिपूर्ण थे।

शून्याटवी का यह वर्णन अत्यन्त चित्रमय है। बाण भट्ट के दोनों गद्य काव्यों में भी हर्षचरित की अपेक्षा कादम्बरी में प्रकृति के चित्रमय दृश्य अधिक एवं भावपूर्ण प्रस्फुटित हुए हैं, साकार प्रतिमा सी समक्ष उपस्थित हो जाती है।

पर्वतीय प्रदेश

महाकवि बाण ने पर्वतों का विशेष वर्णन नहीं किया है। कथा वस्तु

का सम्बन्ध विन्ध्य पर्वत और हिमालय से है। परन्तु इन प्रसंगों में भी वन का रूप ही अधिक समक्ष उपस्थित हुआ है। जलान्वेषण के लिए चन्द्रापीड जब कैलास की तलहटी में पहुँच जाता है परन्तु इस स्थल पर भी कवि ने पर्वत का रूप अधिक प्रस्तुत न कर वन विस्तार पर अधिक ध्यान दिया है।

महाकवि ने हिमालय का सुरम्य वर्णन प्रस्तुत किया है—

कैलास की घाटी

> **"अनवरतगलद् गुग्गुलु द्रुम द्रवार्द्रीकृतदृषदा, शिखर स्रुत शिलाजतुरसपिच्छिलोपलेन, टङ्कन हयखुर खण्डित हरितालक्षोदपांशुलेन, आखुनखरोत्खात बिलविप्रकीर्ण काञ्चनचूर्णेन, सिकता-निमग्न-चमर-कस्तूरिका-मृगीखुरपंक्तिना, संशीर्ण रङ्कु रल्लक रोम प्रकरनिचितेन, विषमशिलाच्छेदोपविष्ट जीवञ्जीवक युगलेन, वनमानुष मिथुनाध्यासित तटगुहामुखेन, गन्धपाषाण परिमलामोदिना, वेत्रलता प्रतान प्ररूढ वेणुना, कैलास तलेन कञ्चिदध्वानं गत्वा तस्यैव कैलास-शिखरिणः पूर्वोत्तरे दिग्भागे जलभारालसं जलधर व्यूहमिव, बहुल-पक्षक्षपान्धकारमिव पुञ्जीकृतमत्यायतं तरुखण्डं ददर्श।"[15]**

अर्थात् दिन-रात पिघलते गुगल के रस से उस के प्रस्तर खण्ड आर्द्र हो गये थे, शिखर से गिरते शिलाजीत के रस से उसकी शिलाएँ चिकनी हो गयी थीं। टांकी के समान कठिन घोडों की टापों से टूटे हुए हरताल के चूर्ण से वे मलिन हो गयी थी, चूहों के नखों से खोदे हुए बिलों के मध्य में स्वर्ण रज बिछी हुई थी, उसकी बालुका में चमर और कस्तूरी मृगों के पैरों के चिह्न बने हुए थे। वह प्रदेश रंकु और रल्लक जाति के मृगों के गिरे हुए रोमों से व्याप्त था, उनकी ऊँची-ऊँची शिलाओं पर चकोर के जोड़े बैठे हुए थे, गुफाओं में वनमानुष के जोड़े रहते थे, गन्ध पाषाण का सौरभ सब ओर फैल रहा था और वेंत की बेलों के प्रतान में वेणु उगे हुऐ थे।

इसके अनन्तर चन्द्रापीड को आह्लादित करने वाले पवन का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है –

> **"क्रमेण च सम्मुखागतैः अच्छनिर्भर जल-कण-जाल-जनित-जडिमभिः जर्जरितभूर्ज वल्कलैः, धूर्जटिवृषभ रोमन्थ फेन बिन्दुवाहिभिः, षण्मुख शिखण्डिशिखा चुम्बिभिः, अम्बिका कर्णपूरपल्लवोल्लासनदुर्ललितैः, उत्तरकुरुकामिनीकर्णोत्पल प्रेंखोलन दोहदिभिः, आकम्पित कक्कोलैः**

नमेरुकुसुम पांशुपातिभिः पशुपति जटाबन्धार्तवासुकि परिपीत शेषैः आह्लादिभिः पुण्यैः कैलासमारुतैः अभिनन्द्यमानो गत्वा तं प्रदेशम् ।"[16]

अर्थात् कैलास का पवन स्वच्छ निर्झर की बूंदों के समान शीतल था, भोज पत्र की छाल को उसने जर्जरित कर दिया था, महादेव के बैल की जुगाली से उत्पन्न फेन कणों को वह वहन करता था, वह पवन कार्तिकेय के मयूर की शिखा का चुम्बन करता था, पार्वती के कर्णपल्लव को कम्पित करता था, उत्तर कुरुदेश की सुन्दरियों के कान में पहने हुए कमलों को वह दोलायमान करता था, शंकर जटा में बंधने से घबराये हुए वासुकि नाग के पीने से बचा हुआ पवन कोश फल के वृक्ष को सकम्प करता था और सुरपुन्नाग के पुष्पों से पराग को बखेरता था ।

पम्पासर

महाकवि बाण ने अगस्त्य आश्रम के आसन्नवर्ती पम्पासर का विस्तृत एवं चित्रमय वर्णन किया है। विन्ध्याटवी में एक सुन्दर आश्रम था जो गोदावरी नदी से परिवेष्टित था और उसी आश्रम के आस-पास पम्पा नाम का एक जलाशय भी था—

"तस्य च एवंविधस्य सम्प्रत्यपि प्रकटोपलक्ष्यमाण पूर्व वृत्तान्तस्य अगस्त्याश्रमस्य नातिदूरे जलनिधि-पान-कुपित-वरुणोत्साहितेन अगस्त्य-मत्सरात्तदाश्रमसमीपवर्त्यपर इव वेधसा महाजलनिधिरुत्पादितः ।

प्रस्तुत वर्णन दृश्य की चित्रमयता के साथ वातावरण में सजीवता उत्पन्न करता है। शब्दों का अलंकृत प्रयोग काव्य की सुन्दरता की श्री वृद्धि करता है।

अच्छोद सरोवर

इसी प्रकार का वर्णन अच्छोद सरोवर का है। किन्नर मिथुन का अनुसरण करता हुआ चन्द्रापीड हताश होकर जब पिपासाकुलित चित्त से व्याकुलता का अनुभव करता है और जल के अन्वेषण के हेतु अनुसन्धान करता है तो उसके समक्ष स्वच्छ जल से आप्लावित एक सरोवर दृष्टिगोचर होता है—

"प्रविश्य च तरुखण्डस्य मध्यभागे मणिदर्पणमिव त्रैलोक्य लक्ष्म्याः, स्फटिक भूमिगृहमिव वसुन्धरा देव्याः, निर्गमनमार्गमिव सागराणाम्, निस्यन्दमिव दिशाम्, अवतारमिव जलाकार गगनतलस्य । कैलासमिव द्रवतामापन्नम् तुषारगिरिमिव विलीनम्, चन्द्रातपमिव रसतामुपेतम्,

हराट्टहासमिवजलीभूतम्, त्रिभुवनपुण्डरीकराशिमिव सरोरूपेणावस्थितम्, वैदूर्यगिरिजालमिव सलिलाकारेण परिणतम् शरदभ्रवृन्दमिव द्रवीभूयैकत्र निस्यन्दितम् आदर्श भवनमिव प्रचेतसः, स्वच्छतया मुनिमनोवृत्तिभिरिव, सज्जनगुणैरिव, हरिणलोचन प्रभाभिरिव, मुक्ताफलांशुभिरिव निर्मितम्, आपूर्णपर्यन्तमप्यन्तः स्पष्टदृष्टसकलवृत्तान्ततया रिक्तमिवोपलक्ष्यमाणम्, अतिमनोहरमाह्लादनं दृष्टेः अच्छोदं नाम सरो दृष्टवान् ।''[17]

अर्थात् कुंज में प्रवेश कर चन्द्रापीड को उसके मध्य में मनोहर अच्छोद सरोवर दृष्टिगोचर हुआ। वह त्रिभुवन लक्ष्मी के मणिदर्पण के समान भूमि देव के स्फटिक मय भूमिगृह के समान, समस्त सागरों के उद्गम स्थान के समान दिशाओं के समान, नभस्तल के अंशावतार के समान था, उसमें मानो कैलास समाविष्ट हो गया हो, हिमालय विलीन हो गया हो, चन्द्रमा का प्रकाश रसातल को प्राप्त हो गया हो, वह पानी के रूप में वैदूर्यमणि के समान पिघल कर एकत्र हुए शरदकालीन मेघसमूह के समान और वरुण के दर्पण के समान था। स्वच्छता में वह ऐसा प्रतीत होता था मानो मुनियों के मन का, सज्जनों के सद्गुणों का हरिणों की नेत्रप्रभा का और मोतियों की किरणों का ही बनाया गया हो, पूर्णरूप से भरे हुए होने पर भी उसके मध्य की समस्त वस्तुएं स्पष्ट परिलक्षित होती थी, जिससे वह रिक्त सा जान पड़ता था।

बाण ने अच्छोद सरोवर के दृश्य के इस वर्णन में अपने चित्रमय रूप को साकारता प्रदान की है। चित्र की सहजता, स्वाभाविकता तथा यथार्थता की सरस त्रिवेणी उनके कल्पना चातुर्य की आधार शिला पर प्रवहमान होकर सरस सहृदय को आनन्द के महासागर में अवगाहन करा देती है। वातावरण का निर्माण कवि की अपनी विशेषता है।

अगस्त्याश्रम

कवि ने दण्डकारण्य के अन्तर्गत अगस्त्य के आश्रम का संश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया है।

तस्याञ्च दण्डकारण्यान्तः पाति सकलभुवनविख्यातम्, उत्पत्ति क्षेत्रमिव भगवतो धर्मस्य, सुरपति प्रार्थनापीतसकलसागरसलिलस्य, मेरुमत्सराम्बरतलप्रसारितशिरःसहस्रेण दिवसकर रथगमन पथमपनेतुमभ्युद्यतेन अवगणित सकल सुरवचसा विन्ध्यगिरिणाप्यनुल्लंघिताज्ञस्य जठरानल जीर्ण वातापिदानवस्य, सुरासुरमुकुटमकरपत्रकोटिचुम्बितचरणरजसो दक्षिणाशावधूमुखविशेषकस्य, सुरलोकादेकहुंकार निपातित नहुषप्रकट-

प्रभावस्य भगवतो महामुनेरगस्त्यस्य, श्यामलीकृतपरिसरं सरिता च कमलयोनि परिपीतसागरमार्गानुगतयेव बद्धवेणिकया गोदावर्या परिगतमाश्रमपदमासीत् ।"[18]

उस आश्रम के चारों ओर शुकों के समान हरे-हरे केलों की बनी बाड़ से वहां की भूमि श्यामल हो गयी थी। गोदावरी उसके आस पास इस प्रकार प्रवाहित होती थी मानो अगस्त्य के आचमन के लिए समुद्र के पीछे वेणी बांधकर जा रही हो।

आश्रम के वातावरण को महाकवि ने राम के वनवास की पूर्व स्मृतियों से समन्वित कर और भी भावशील बना दिया है—

"यत्र च दशरथवचनमनुपालयन्नुत्सृष्टराज्यो दशवदनलक्ष्मीविभ्रम-विरामो रामो महामुनिमगस्त्यमनुचरन् सह सीतया लक्ष्मणोपरचित-रुचिरपर्णशालः पंचवट्यां कञ्चित् कालमुवास। चिरशून्येऽद्यापि यत्र शाखानिलीनानिभृतपाण्डुकपोतपंक्तयो लग्नतापसाग्निहोत्रधूमराजय इव लक्ष्यन्ते तरवः।

अर्थात् यहां पंचवटी में राम सीता के साथ लक्ष्मण के द्वारा बनाई हुई कुटी में कुछ समय रहे थे। बहुत समय से शून्य प्रदेश में आज भी शाखाओं में चुपचाप घुसी हुई कपोतों की पंक्तियों से वृक्ष ऐसे प्रतीत होते थे मानो तपस्वियों के अग्निहोत्र के धूम की घटा से आच्छादित हों।

राम और सीता की पुरातन स्मृतियों से ओत प्रोत अगस्त्याश्रम का यह वर्णन सहृदय पाठक को एक अपूर्व भाव लोक में पहुँचा देता है। राम के समकालीन जीर्ण मृगों का भव्य वर्णन वातावरण को अनुपम एवं साकार बना देता है।

जाबालि आश्रम

अगस्त्याश्रम में परित्यक्त आश्रम का चित्र चित्रित किया गया था जिसमें पूर्व कालीन स्मृतियों का साम्राज्य था। महर्षि जाबालि के आश्रम में मानव जीवन एवं प्रकृति के सामंजस्य का चित्र अंकित किया गया है। प्रत्यक्ष प्रकृति मानव जीवन एवं अन्य प्राणि जगत् के साथ साहचर्य करती हुई सी प्रतीत होती है। हारीत द्वारा आश्रम में लाये जाने पर वैशम्पायन ने उस आश्रम को देखा जो दूसरे ब्रह्मलोक के समान दृष्टिगत हो रहा था—

"अनवरत श्रवण गृहीत वषट्कार वाचाल शुककुलम्, अनेक सारिको-द्घुष्यमाण सुब्रह्मण्यम्, अरण्य कुक्कुटोपभुज्यमान वैश्वदेवबलिपिण्डम्

आसन्नवापी कलहंसपोतभुज्यमान नीवारवलिम्, एणीजिह्वा पल्लवोपलिह्यमान मुनिबालकम्,.... ...अम्बुपूर्ण पुष्कर पुटैर्वनकरिभिरापूर्यमाणविटपालबालकम्, ऋषिकुमारकाकृष्यमाण वन वराहदंष्ट्रान्तराल लग्नशालूकम्, उपजातपरिचयैः कलापिभिः पक्षपुट पवन सन्धुक्ष्यमाण मुनि होमहुताशनम् ......अति रमणीयमपरमिव ब्रह्मलोकमाश्रममपश्यम् ।"[19]

कहीं शुकगण बार-बार सुनने से याद हो जाने वाले आहुति देने के मंत्र पाठ कर रहे थे, कहीं सारिकाएं वेदमंत्रों का पाठ कर रही थी, कहीं जल मुर्गे वैश्वदेवों के लिए दी गयी बलि खा रहे थे, कहीं समीप र्वातिनी बावडियों से आये हुए कल हंसों के बच्चे नीवार की बलि खाते थे, कहीं हरिणियां पल्लवों के समान लाल-लाल जिह्वाओं से ऋषिकुमारों को चाट रही थी। कहीं जंगली हाथी अपनी सूंडों में पानी भरकर आश्रम के वृक्षों को सींच रहे थे, कहीं ऋषियों के बालकों द्वारा जंगली सूअरों की डाढों में लगे हुए कमलों के कन्द निकाले जा रहे थे, और कहीं पालतू मोर अपने पंखों की हवा से मुनियों की हवन की अग्नि को सुलगाते थे।

आश्रम के जडचेतनमय समस्त जगत् में मुनि जाबालि का तपः प्रभाव व्याप्त है। समस्त प्रकृति भेद भाव से परे है। दो विरोधी पशु एक साथ सानन्द विचरण कर रहे हैं। ममता और आत्मीयता का सर्वत्र साम्राज्य है। अनवरत वेदाध्ययन से पक्षी गण भी उसका उच्चारण करते हैं। वातावरण की सजीवता तथा दृश्य की मनोरमता कवि-प्रतिभा तथा वैदुष्य की चरम परिणति है। प्रकृति के इस वातावरण में आकर सहृदय पाठक आत्म विभोर हो जाता है और उसका अन्तःकरण समस्त वस्तुओं से हट कर जाबालि आश्रम की तपोभूमि में निरत हो जाता है।

मृगया प्रसंग

बाण ने मृगया प्रसंग को अत्यन्त ही सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से चित्रित किया है यहां पर प्रत्येक स्थिति को सूक्ष्म विवरण के साथ उपस्थित किया गया है। साथ ही उसमें गति और जीवन की अभिव्यक्ति कलात्मक रूप से मनोरम हुई है।

प्रारम्भ में कवि केवल कोलाहल ध्वनि का वर्णन करता है—

"सहसैव तस्मित् महावने सन्त्रासित-सकल-वनचरः, सरभसमुत्पतत्पतत्रिपक्षपुटसन्ततः भीत-करिपोत-चीत्कार-पीवरः, प्रचलित-

मत्तालिकुल-क्वणितमांसलः, परिभ्रमद् उद्घोण-वन-वराह-रव-धर्घरः, गिरिगुहासुप्त--प्रवुद्धसिंहनादोपवृंहितः, कम्पयन्निवतरून् भगीरथावतार्यमाण गंगाप्रवाह-कल-कल-बहलो भीत वन-देवताकर्णितो मृगया-कोलाहल-ध्वनिरुदचरत् ।''[20]

अर्थात् तभी सहसा उस महावन में मृगया का कोलाहल सुनायी पड़ा, उसे सुनकर समस्त वनचर सन्त्रस्त हो गये, वह घबराहट से उड़ते हुए पक्षियों के पंखों के शब्दों से विस्तृत हो गया, भयभीत गजशावकों की चीत्कारों से बढ गया, कम्पायमान लताओं पर व्याकुल हुए मत्तमधुकरों की गुंजार से वह स्थूल हो गया, वह ऊँची नाक वाले जंगली सूअरों के शब्द से कठोर हो गया, वह ध्वनि पर्वत की गुफाओं में नींद से जगे हुए सिंहों के नाद से घनी हो गयी और वृक्षों को कम्पित करती हुई सी प्रतीत होने लगी । वह भगीरथ द्वारा पृथ्वी पर लाये गये गंगा के प्रवाह के समान कलकल युक्त जान पड़ती थी, और वन देवता भी उसे भयभीत होकर सुन रहे थे ।

इसके पश्चात् महाकवि शबरों के द्वारा वन का वर्णन कराता है जिसके द्वारा मृगया के पूर्व की वन की स्थिति का साक्षात् स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है । इन वर्णनों में शबर सैन्य द्वारा किये गये आखेट का ही दृष्टिकोण प्रधान है । शबर सैन्य हरिणों, वन करियों, वन वराहों, वन महिषों को देखकर परस्पर बड़ी तीव्रता से कोलाहल कर रहा है—

''इतो मृगकदम्बकम्, इतो वनगजकुलम्, इतो वनवराहयूथम्, इतो वन-महिषवृन्दम्, इतः शिखण्डिमण्डलविरुतम्, इतः कुररकुलक्वणितम् इतो मृगपतिनखभिद्यमानकुम्भकुञ्जर रसितम् इयमार्द्रपङ्कमलिना वराहपद्धतिः, अध्यास्यतामियं बनस्थली, तरुशिखरमारुह्यताम्, आलोक्यतां दिगियम्, आकर्ण्यतामयं शब्दः, गृह्यतां धनुः, अवहितैः स्थीयताम्, विमुच्यतां श्वानः, इत्यन्योन्यमभिदधतो मृगयासक्तस्य कोलाहलमशृणवम् ।''[21]

अर्थात् इधर हरिणों का झुण्ड है, उधर जंगली हाथियों का झुण्ड दिखाई देता है, उधर जंगली सूअरों का झुण्ड फिरता है, यहां से जंगली भैंसों का झुण्ड निकल रहा है, इस दिशा से मयूर का शब्द आ रहा है, इस ओर चातक की मधुर ध्वनि हो रही है, इधर कुरर पक्षियों का गान श्रवण गोचर हो रहा है, इस तरफ सिंहों के नखों से विदीर्ण कुम्भवाले हाथियों की गर्जना

सुनायी दे रही है, यह है गीले कीचड से मलिन सूअरों का मार्ग·······कोलाहल से सारा जगल क्षुब्ध हो गया ।

इस वर्णन के पश्चात् महाकवि बाण ने आखेट का वास्तविक दृश्य सजीव एवं सशक्त शैली में प्रस्तुत किया है । इस चित्र में प्रत्येक घटना अपने सूक्ष्मतम विवरण के साथ साकार सी वन कर समक्ष उपस्थित हो जाती है —

> "निहत यूथपतीनां वियोगिनीनामनुगतकलभानाञ्च स्थित्वा स्थित्वा समाकर्ण्य कलकलमुत्कर्णपल्लवानामितस्ततः परिभ्रमन्तीनां प्रत्यग्र-पति-विनाश-शोकदीर्घेण करिणीनां चीत्कृतेन कतिपय दिवस प्रसूतानाञ्च-खड्गिधेनुकानां त्रास परिभ्रष्ट पोतकान्वेषिणीनामुन्मुक्तकण्ठमारसन्तीनामाक्रन्दितेन, तरुशिखर समुत्पतितानामाकुलाकुलचारिणाञ्च पत्र-रथानां कोलाहलेन, रूपानुसार प्रधावितानाञ्च मृगयूणां युगपदतिरभस पादपाताभिहताया भुवः कम्पमिव जनयता चरणशब्देन, कर्णान्ताकृष्ट-ज्यानाञ्च मदकल-कुररकामिनी-कण्ठकूजितकलेन शरनिकरवर्षिणां धनुषां निनादेन, पवनाहृति-क्वणितधाराणामसीनाञ्च कठिनमहिष-स्कन्धपीठपातिना रणितेन, शुनाञ्च सरभसविमुक्तधर्घरध्वनीनां वनान्तरव्यापिना ध्वानेन सर्वतः प्रचलितमिव तदरण्यमभवत् ।"[22]

अर्थात् पति विनाश के प्रत्यग्रशोक से वियोगिनी करिणियों का चीत्कार स्वयं बढ गया था, वे इधर-उधर भागती थी, इनके कान खड़े हो गये थे और कोलाहल करते हुए बच्चे इनके पीछे-पीछे चले जाते थे, गैंडों की स्त्रियां गद्‌गद कण्ठ से करुणापूर्वक चिंघाडती हुई विलाप सा कर रही थी, और वे भय से घबराते हुए और कुछ समय पूर्व उत्पन्न हुए अपने बच्चों को ढूंढ रही थी, वृक्षों की चोटियों से गिरकर व्याकुल गिरते हुए पक्षियों का कोलाहल हो रहा था, पशुओं के पीछे दौड़ते हुए व्याधों के चरणों का शब्द हो रहा था वह मानो वेग से ताडना की हुई पृथ्वी को कँपा रहा था, कानों तक खिंची हुई प्रत्यंचा वाले धनुषों का शब्द हो रहा था, धनुष बाणों की वर्षा कर रहे थे, और इनका शब्द मदमस्त कुररी के कण्ठ स्वर से मिलता था, पवन के प्रहार से खड खडाती हुई जंगली भैंसों की कठोर पीठों पर गिरने वाली तलवारें भनभना रही थी, जोर से भोंकते हुए कुत्तों का नाद समस्त वन भूमि में व्याप्त हो रहा था और ऐसे नानाविध शब्दों के कोलाहल से वन थर थरा रहा था ।

प्रस्तुत वर्णन से पशु-पक्षियों पर होने वाले प्रहार तथा उससे होने

वाली मृत्यु का भीषण परिणाम चित्रित किया गया है। गजराज से लेकर छोटे से छोटा पशु चीत्कार कर रहा है। पति पत्नी से वियुक्त हो गया है पत्नी पति के वियोग में करुण क्रन्दन कर रही है बच्चे पीछे-पीछे भागे जा रहे हैं, समस्त वातावरण भय से अभिभूत हो गया है। साथ में इस वर्णन से यह भी प्रतीत होता है कि स्त्री और बच्चों पर प्रहार नहीं किया गया है और इस प्रकार वीरों के उदात्त आदर्श का यहां भी यथावत् पालन किया गया है। प्रकृति का यह चित्रण रोमांचकारी तथा रोमहर्षक है।

कादम्बरी के काल सम्बन्धी वर्णनों में बाण की प्रतिभा का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। इन्हीं प्रकृति के रूपों को उन्होंने सर्वाधिक विस्तार दिया है। काल के परिवर्तित होते हुए रूप में चित्रात्मक वर्णनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है और उनको प्रस्तुत करने में बाण अद्वितीय है। महाकवि बाण ने उपमानों के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्र को व्यंजित किया है। अपनी प्रतिभा के द्वारा वे काल वर्णन का अभूतपूर्व दृश्य प्रस्तुत करते हैं। वे काल वर्णन के अद्वितीय कलाकार हैं। महाकवि ने संध्या के चित्र उपस्थित करने में अपनी समस्त कवित्व प्रतिभा एवं कल्पना शक्ति का सामंजस्य के साथ उपयोग किया है। सन्ध्या के बनते बिगड़ते दृश्यों का ऐसा अनुपम योग रहा रहा है कि जिसके चिन्तन में बाण का मन अधिक रमा है।

जाबालि के आश्रम में वैशम्पायन के पहुँचने के अनन्तर कवि कथा के प्रारम्भ होने के पूर्व सन्ध्या का वर्णन प्रस्तुत करता है—

> **अनेन च परिणतो दिवसः। स्नानोत्थितेन मुनिजनेन अर्धविधिमुपपादयता यः क्षितितले दत्तस्तमम्बरतलगतः साक्षादिव रक्त चन्दनाङ्गरागं रविरुदवहत्। ऊर्ध्वमुखैरर्कबिम्ब विनिहितदृष्टिभिरूष्मपैस्तपोधनैरिव परिपीयमान तेजःप्रसरो विरलातपस्तनिमानमभजत्। उद्यत्सप्तर्षि-सार्थस्पर्श-परिजिहीर्षयेव संहृतपादःपारावत-पाद पाटल-रागो रविरम्बरतलादलबम्त। क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्या मुदितैस्तपोधनैरदृश्यत।**

अर्थात् तब तक दिन ढल चुका था। स्नान करने के पश्चात् अर्ध देते समय मुनियों ने जो रक्त चन्दन पृथ्वी पर डाला था आकाशस्थित सूर्य ने मानो अंग में उसी का साक्षात् लेप कर लिया था। क्षीणताप वाला सूर्य इस प्रकार दुर्बल हो गया मानो मुख ऊँचा करके सूर्य बिम्ब के समक्ष दृष्टि रख

कर ऊष्म पान करने वाले ऋषिगण उसका तेज पी गये हों। सप्तर्षि मण्डल के स्पर्श का त्याग करने की इच्छा से कपोत के चरण के समान रक्त वर्ण सूर्य मानो किरण समेट कर आकाश में नीचे लटकने लगा। सूर्यास्त होने के बाद कहीं विहार करके आयी हुए रक्त तारक वाली तपोवन धेनु के समान कपिला संध्या कहीं मुनियों के द्वारा देखी गयी।

पश्चिम सागर के जल में सूर्य के गिरने के वेग से उछले हुए जल के सीकर समूह के समान आकाश में तारे फैल गये। उस समय आकाश तारों से इस प्रकार दिखायी देने लगा मानो सन्ध्या पूजन करने के लिए सिद्ध कन्याओं के द्वारा फैंके गये फूलों से चित्रित हो और क्षण भर में सन्ध्या का सब रंग इस प्रकार जाता रहा मानो मुँह ऊपर करके मुनियों के द्वारा प्रणाम के समय ऊपर को फैंके अंजलि के जल से धुल गया हो।

दिन के अस्त होने, सन्ध्या के प्रसरित होने और उसके पश्चात् रात्रि के अन्धकार के फैल जाने के रम्य चित्र बाण भट्ट की कल्पना शक्ति की प्रौढता के परिचायक है। साकार और प्रत्यक्ष के समान दिखायी देने वाले दृश्य चित्र स्थिति का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत कर चित्र को समग्र एवं सर्वाङ्गपूर्ण बना देते हैं। प्रकृति का मनोहारी दृश्य नेत्र युगल के समक्ष नृत्य करता हुआ सा प्रतीत होता है।

चन्द्रोदय

जाबालि आश्रम में रात्रि के आगमन के अनन्तर चन्द्रोदय होता है और उस चन्द्रिका पूर्ण यामिनी में महर्षि कथा का आरम्भ करते हैं। चन्द्रोदय का वर्णन कितना सहज, स्वाभाविक एवं उद्दीपक है यह वर्णन को पढकर ही पाठक निश्चय कर सकेंगे —

> **"विगलित सकलोदयराग रजनिकरबिम्बमम्बरापगावगाहधौतसिन्दूर-मैरावत कुम्भस्थलमिव तत्क्षणमलक्ष्यत। शनै शनैश्च दूरोदिते भगवति हिमस्रुति सुधा धूलिपटलेनेव धवलीकृते चन्द्रातपेन जगति, अवश्यायजलबिन्दु मन्दगतिषु विघटमानकुमुदवनकषायपरिमलेषु समुपोढनिद्राभरालसतारकैरन्योन्य ग्रथित पक्षपुटैरारब्ध रोमन्थमन्थर-मुखैः सुखासीनैराश्रम मृगैरभिनन्दितागमनेषु प्रवहत्सु निशामुख-समीरणेषु, अर्द्ध याममात्रावखण्डितायां विभावर्याम्।"**[23]

अर्थात् चन्द्रमा के मण्डल से जब उदय होने के समय की समस्त रक्तिमा विलुप्त हो गयी उस समय वह ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे आकाश गंगा में स्नान करने के पश्चात् धुले सिन्दूरवाला ऐरावत का कुम्भस्थल हो।

धीरे-धीरे चन्द्रमा के ऊपर चढ जाने से अमृत की रज के समान चाँदनी से समस्त जगत् धवल वर्ण का हो गया। ओस की बिन्दुओं के कारण खिले हुए कुमुद वन की सुगन्धि लाने वाली पवन धीरे-धीरे चलने लगी, और सुख से बैठे जुगाली करते हुए आश्रम के हरिण, जिनकी आँखें नींद से भारी थी और पलकें बन्द हो रही थी, पवन का अभिनन्दन करने लगे।

इसी प्रकार कादम्बरी और चन्द्रापीड के प्रेम-प्रसंग में सन्ध्या-वर्णन के पश्चात् चद्रोदय वातावरण की मादकता को चतुर्गुणित कर देता है—

"ततोऽचिरादिव गृहीतपादः प्रसाद्यमान इव कुमुदिनीभिः, कलुषमुखीः कुपिता इव प्रसादयन्नाशाः, प्रबोधाशङ्कयेव परिहरन् सुप्ताः कमलिनीः, लाञ्छनच्छलेन निशामिव हृदयेन समुद्वहन् रोहिणीचरणताडनलग्नमलक्तकरसमिवोदयरागं दधानः, तिमिर नीलाम्बरां दिवमभिसारिकामिवोपसर्पन्ः, अति वल्लभतया विकिरन्निव सौभाग्यम्, उदगाद् भगवानीक्षणोत्सवः सुधासूतिः।"[24]

इसके पश्चात् चन्द्रमा का भावमय चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है

"उच्छ्रिते च कुसुमायुधाधिराज्यैकातपत्रे कुमुदिनीवधूवरे विभाबरीविलासदन्तपत्रे श्वेतभानौ धवलितदिशि, दन्तिदन्तादिवोत्कीर्णे भुवने।"[25]

अर्थात् क्रमशः जब मदन साम्राज्य के अद्वितीय छत्र, कुमुदिनी रूपिणी वधू के प्रिय, रजनी नायिका के विलास के गजदन्ताभरण रूप चन्द्र समस्त दिशाओं को श्वेत वर्ण कर ऊपर उठे और समस्त भुवन मानो गज दन्त में से उत्कीर्ण किया हो ऐसा लक्षित होने लगा। इस प्रकार बाण के काव्यों में सन्ध्या के पश्चात् चन्द्रोदय का दृश्य चित्रित किया गया है। बाण के चित्रों में वैचित्र्य विधान का इतना प्राधान्य रहता है कि केवल उनकी कल्पना की प्रचुरता, प्रखरता एवं उत्कृष्टता में सौन्दर्य बोध को इससे बाधा उपस्थित नहीं होती।

प्रभात वर्णन

विन्ध्याटवी में मृगया—कोलाहल के साथ प्रभात होता है। बाण ने उदित होते सूर्य का, ढलते हुए चन्द्र का, आकाश में बदलते हुए रंगों, पक्षियों के कलरव का बड़ा ही मनोरम दृश्य प्रस्तुत किया है--

"सन्ध्यामुपासितुमुत्तराशावलम्बिनि मानससरस्तीरमिवावतरति सप्तर्षि मण्डले तटगत विवटित शुक्ति सम्पुट विप्रकीर्णमरुणकर प्रेरणाधो-

गलितमुडुगणमिव…… विघटमान कमलखण्डमधुशीकरासारवर्षिणि कुसुमामोद तर्पितालिजाले निशावसानजातजडिम्नि मन्दमन्द संचारिणि प्रवाति प्राभातिके मातरिश्वनि, शनैः शनैरुदिते भगवति सवितरि, पम्पासरः पर्यन्त तरुशिखरसंचारिणि अध्यासितगिरिशिखरे दिवसकरजन्मनि हृततारे पुनरपि कपीश्वरे वनमभिपतति बालातपे, स्पष्ट जाते प्रत्यूषसि, न चिरादिव दिवसाष्टम भागभाजिस्पष्टभासि भास्वति भूते प्रयातेषु यथाभिमतानि दिगन्तराणि शुककुलेषु, कुलाय निलीन निभृत शुकशावक सनाथेऽपि निःशब्दतया शून्य इव तस्मिन् वनस्पतौ ।"[26]

अर्थात् प्रातः होते समय सप्तर्षि तारागण उत्तर दिशा की ओर जाते हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानो सन्ध्या करने के लिए मानसरोवर के किनारे उतर रहे हों । सीपियों के चिटक कर फटने से गिरे हुए मोतियों से पश्चिमी सागर तट श्वेत हो गया था ऐसा प्रतीत होता था मानो सूर्य की किरणों की प्रेरणा से तारागण नीचे गिर गये हों । सूर्य का उदय धीरे-धीरे हो रहा था, सूर्य से उत्पन्न हुआ तथा तारागण का हरण करने वाला गिरि शिखर पर बसने वाला और पम्पासरोवर तक के वृक्षों की चोटियों पर पहुँचा हुआ बालातप वन में प्रवेश कर रहा था, मानो सुग्रीव ही पुनः आ गया हो, प्रभात स्पष्ट हो चला था । थोडी ही देर में एक पहर दिन चढ जाने से सूर्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा था, तोतों के झुण्ड अपनी-अपनी दिशाओं में उड गये थे, घोंसलों में निश्चित सोये हुए बच्चों के होने पर भी यह वृक्ष निःशब्द हो शून्य सा दिखायी देता था ।

प्रस्तुत अवतरण में प्रातः काल का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया गया है । कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का वर्णन किन शब्दों में किया जाय वह अद्भुत है साथ ही कवि ने प्रभात कालीन क्रिया व्यापारों की अत्यन्त संश्लिष्ट-योजना कर वातावरण को और भी अधिक आवर्जक बना दिया है ।

ऋतु वर्णन

बाण ने ऋतुओं का अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है । उनके द्वारा किये गये ऋतुओं के चित्रण में परम्परा के अनुरूप उद्दीपन की प्रवृत्ति पूर्णतया परिलक्षित होती है । उनकी वैचित्र्य-प्रधान चित्रमय शैली तथा दृश्यों की सश्लिष्ट योजना उन के काव्यों को अतिशयित सौन्दर्य प्रदान करते हैं तथा

वह दृश्य सरस होकर वातावरण को भावना के उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठापित कर देता है। बसन्त वर्णन को पढकर या श्रवण कर प्रत्येक सहृदय हृदय भाव तरंगों में उद्वेलित होने लगता है और मधुमास के सुगन्धित वातावरण में वह द्वैत को खोकर आत्म विभोर होने लगता है।

वसन्त

महाश्वेता जब अपनी माता के साथ स्नान करने जाती है तब अच्छोद सरोवर का समस्त दृश्य वसन्त के उन्मादक वातावरण से डूबता उतराता सा प्रतीत होता है। महाश्वेता भी इस समय तक यौवन में पदार्पण कर चुकी है। पारिजात मंजरी उसका आकर्षण है और साथ ही वसन्त का वातावरण पारिजात मंजरी से आगे बढकर एक सुन्दर युवा की ओर उसे आकर्षित कर देता है।

> **"अथ विजृम्भमाण नवनलिनवनेषु, अकठोर चूतकलिका कलापकृत कामुकोत्कलिकेषु, कोमलमलयमारुतावतार तरङ्गिताङ्गन ध्वजांशुकेषु, मधुकरकुलकलंककालीकृत कालेयक कुसुम कुड्मलेषु, अशोक तरुताडनारणित रमणीमणिनपुरझंकारसहस्रमुखरेषु, विकासमुकुल परिमल पुञ्जितालिजाल मञ्जुशिञ्जित सुभगसहकारेषु, अविरल कुसुम धूलिबालुकापुलिनधवलित धरातलेषु, मधुमद विडम्बित मधुकरी कदम्बक संवाह्यमान लतादोलासु"।**

अर्थात् बसन्त के कारण अधिक शोभायमान विकसित अभिनव कमल, कुमुद, कुवलय, कल्हार से आच्छादित अच्छोद सरोवर में स्नान करने के लिए माता के साथ महाश्वेता आई। वहाँ भ्रमरों के भार से झुके हुए गर्भतन्तु वाले जर्जरित कुसुमों से मनोहर लता मण्डप थे, पुष्पित सहकार के वृक्ष थे, उनकी विकसित होती हुई कलियों का कलाप कामुकों को उत्कण्ठित करता था, मृदु, मन्द समीरण के आगमन से कामदेव की पताका संचालित हो रही थी, मदमत्त कामिनियों के मुखमद्य के सेचन से वकुल पुलकित हो रहे थे, कलंक के समान भ्रमरों के बैठजाने से चमेली की कलियाँ काली हो गयी थी, अशोक वृक्षों पर चरण प्रहार करने से शब्दायमान रमणियों के चरणों के मणिमय नूपुर की झंकार दिशाओं को मुखरित कर रही थी, विकसित कलियों के सौरभ से एकत्रित हुए भ्रमरों की मनोहर गुंजार से आम के वृक्ष मनोरम लग रहे थे, बालुकामय पुलिन के समान अविरल पुष्प पराग से भूतल धवल वर्ण दिखायी देता था, पुष्प के मधु पान से मस्त हुई मधुकरियाँ लता रूपी झूलों पर झूल रही थी।

इसी प्रकार कादम्बरी के उत्तरार्ध में कादम्बरी की भावनाओं को उद्दीपित करने वाला मधुमास का सरस वर्णन उपलब्ध होता है—

तस्मिन्नेव चान्तरे तत्संधुक्षणायेव सरसकिसलयलतालास्योपदेशदक्षं दक्षिणानिलम्, आलोलरक्तपल्लवप्रालम्बान् कम्पयन्नशोकशाखिनः वाञ्छित मुकुल मञ्जरी भरेण नम्रयन् बालसहकारान् उत्कोरयन् कुरबकैः सह वकुलतिलकचम्पकनीपान्, आपीतयन् किंकिरातैः ककुभो, विकिरन्नतिमुक्तकामोदम्, उद्दामयन् किंशुक वनानि, निरंकुशन् कामिजनमनांसि, निर्मूलयन्मानम्, अपमार्जयन् लज्जाम्, अपाकुर्वन् कोपम्, अपनयन्ननुनयव्यवस्थाम्, आस्थापयन् हठचुम्बनालिंगन रति-स्थितिम्, समुल्लासयन् मकरध्वज रक्तध्वजमिव किंशुकानि, सकलमेव महारजतमयमिव रागमयमिवोन्मादमयमिव, प्रेममयमिवोत्सवमयमि-वोत्सुक्यमयमिव जनयञ्जीवलोकम्, किसलयित सर्वकान्तारकाननोपवन तरुरुल्फुल्लचूतद्रु मामोदायासित दिशान्तरो मधुमदमधुकरकोकिलाला-पदुः खिताध्वगजनश्रुतिरनवरत मकरन्द शीकरासार दुर्दिनोन्मादित सकल जीवलोकहृदयो मदाकुल भ्रमद्भ्रमर झंकार कातरित विरहातुर मनोवृत्तिरात्मसम्भवैकोल्लासकारी भरात्परावर्तत सुरभिमासः।"

अर्थात् कामाग्नि को मानो उद्दीप्त करने के लिए ही सरस पल्लव युक्तलताओं को नाँचना सिखाने में चतुर क्षीण पवन बहने लगा, वह चंचल लाल पल्लव वाले अशोक को कंपाने लगा, अभिलषित मंजरी-भार से छोटे-छोटे आम के वृक्षों को झुकाने लगा, कुरवकों के साथ वकुल, तिलक, चम्पक और कदम्बों की कलियों से वृक्षों को परिपूर्ण करने लगा, किंकिरात वृक्षों के साथ अर्जुन को भी पीला करने लगा, वह दक्षिण पवन वासन्ती लताओं का परिमल फैलाने लगा, पलाश वन को खिलाने लगा, वह सभी वनों एवं उद्यानों में वृक्षों में कोंपलें निकालने लगा, विकसित आम के वृक्ष की गन्ध चारों ओर फैलने लगी, वह मकरन्द के मद से मधुर हुए कोकिलों के आलापों से पथिकजनों को पीडित करने लगा। निरन्तर मकरन्द के कणों की वर्षा से दुर्दिन कर समस्त जीवलोक के हृदय को उन्मत्त करने लगा, वह दक्षिण पवन मदमस्त भ्रमण करते हुए भौरों के गुंजार से विरही जनों के मन को व्याकुल कर काम को जाग्रत करने लगा।

इस प्रकार उद्दीपित करने वाली प्रकृति के चित्रण में बाण ने वातावरण

में अद्भुत मादकता उत्पन्न कर दी है। बसन्त के आने से समस्त पृथिवी थिरकती सी प्रतीत होती है।

कादम्बरी के विस्तृत वर्णनों में वर्षा ऋतु का सुरम्य वर्णन हुआ है। कादम्बरी के उत्तर भाग में चन्द्रापीड के मार्ग में वर्षा समय प्रारम्भ हो जाता है-

''एवं च वहतोऽप्यस्य दवीयस्तयाध्वतोऽर्धपथ इव कालसर्पो वर्त्मनः, पङ्को ग्रीष्मस्य, निशागमो गभस्तिमतः स्वर्भानुरमृत दीधितेः धूमोद्गमो वज्रानल स्फुरितानाम्, मदागमो मकरध्वजकुंजरस्य, मरणान्धतमसः प्रवेशो विरहातुराणाम्, अमोघकालपाशवागुरोत्कण्ठित कामिहरिणानाम्, अमोघ लोहार्गलदण्डो दिग्वारणानाम् अभेद्य हिज्जीर शृंखला वाहानाम्, अनुन्मोच्य निगडबन्धोऽध्वगानाम्, अलंघ्यकालान्तररेखा प्रोषितानाम्, कालायस पंजरोपरोघो जीवलोकस्य उद्गर्जन्नलिकुल गवलमलिन घनघटाभोग भीषणो विषमविस्फूर्जित ध्वनिर्विषमतरतडित् गुणाकर्षी मण्डलित विकट शक्रकार्मुकोऽनवरत धारा शरासारवर्ष प्रहारो पुरोमार्गमवरुन्धन् विरुद्ध इवान्धकारितमुखो निस्त्रिंश शतसहस्रसम्पातदुष्प्रेक्ष्योऽक्षिणी प्रतिघ्नन्निवाशुगमनविघ्नकारी बभूव जलदकालः।[29]

अर्थात् शीघ्रगमन में बाधा के समान मेघकाल आ गया, काला सांप जैसे मार्गावरोध कर लेता है उसी प्रकार मेघकाल ने उसे आगे बढने से रोक दिया, यह अत्यधिक पंक के समान ग्रीष्म ऋतु को रोक लेता है, रात्रि के आकाश के समान सूर्य को तिरोहित कर देता है और चन्द्रमा को राहु के समान ग्रस लेता है। यह काल भ्रमर समुद्र और जंगली महिषों के समान गर्जती हुई मेघों की घटा के विस्तार से भयंकर प्रतीत होता है, विषमनाद करता है, अधिक विषम विद्युत्गुण से खींचता है, विकट इन्द्रधनुष चढाता है, और फिर निरन्तर धारा रूपी बाणों की वर्षा से प्रहार करता हे। विरुद्ध आचरण वाला होकर इस प्रकार मुख पर अन्धकार करके आगे से मार्ग रोक लेता है और एक लाख वज्रों के गिरने के समान देखने को शक्ति को हरण कर आखों को चोंधिया देता है।

इसके अनन्तर वर्षा के साथ चन्द्रापीड की मनोदशा का चित्रण सामंजस्य रूप से प्रस्तुत किया गया है।

''तत्र च प्रथममस्य चेतोहरिणमूर्च्छावेगैरन्धकारतामनीयन्त दश दिशस्ततोजलधरैः, अग्रतः समुत्प्लुतेन चेतसा कुत्राप्यगम्यत पृष्ठतो

हंसैः, पुरस्तात् परिमलिनोऽस्य निःश्वास मरुत् प्रावर्तत पश्चात् कदम्बवाताः। पूर्वं तुलित नीलोत्पल वनकान्तिनयनयुगलमस्य सलिलं समुत्ससर्ज चरममम्भोमुचां वृन्दम्, आदायापूर्यमाणमुद्वेगेनोत्कलिका सदृशपर्याकुलं मनोऽस्यामभवदवसाने स्रोतस्विनां पात्रम्। अपि च दुस्तरैर्नदीपूरैरेव सहावर्धन्त मन्मथोन्मादाः। वर्षा जल विलुलितैः कमलाकरैरेव सह ममज्ज कादम्बरी समागमप्रत्याशा। धारारवासहैः कन्दलैरेव सहाभिद्यत हृदयम्। अम्भोदवाताहतैः कदम्ब कुड्मलैरेव सहाकम्पतोत्कण्ठिता तनुः ; अनवरत जल पतन जर्जरित पक्ष्मभिः शिलीन्ध्रैरेव सह ताम्रतामधत्त नयन युगलम्। उत्कूल सलिलोत्खन्यमानमूलैः सरित्तटैरेव सहापतत्प्राणाः।''[30]

अर्थात् अचेतन करने वाले मूर्छा के वेग से दशों दिशाओं में अन्धकार व्याप्त हो गया तदनन्तर हंस गये। पहले चन्द्रापीड के परिमल युक्त निःश्वास निकले फिर कदम्ब की वायु। पहले उसके नीलकमल जैसे नेत्रों में अश्रुवर्षा हुई वाद में मेघ समूह बरसा। उसका मन उत्कण्ठित होकर उद्वेग से पहले भर गया नदियों का पाट जलतरंगो से बाद में।

इस प्रकार वर्षा के कारण राज कुमार चन्द्रापीड की मनोदशा पर अत्यधिक प्रभाव पडा। वर्षा ने उसके मन में कादम्बरी की विरहाग्नि संदीप्त कर दी और उसके वे क्षण असह्य हो गये। प्रकृति के साथ मानव मनोदशा की साकारता वस्तुतः महाकवि की अनोखी सूझ बूझ है। चन्द्रापीड की व्याकुलता पहले बढती है तदनन्तर तदाकारता प्रकृति में भी दृष्टिगोचर होती है।

महाकवि बाण ने प्रायः सभी स्थलों पर प्रकृति को इस चित्रकला के साथ उपस्थित किया है कि वह एक वातावरण का निर्माण करती है। प्रारम्भ में विन्ध्याटवी के वर्णन में जैसी भयंकरता और सरोवर के वर्णन में एकान्त शून्य की भावना मन में उत्पन्न हो जाती है, चित्रमय सौन्दर्य के साथ वह भावना प्रकृति को वातावरण का रूप देती है। अनेक स्थलों पर यह वातावरण देश काल की उद्भावना से सम्बन्धित है। कथा वस्तु की घटना और पात्रों से नहीं। पर ऐसे भी स्थल हैं जहां घटना की स्थिति अथवा पात्र की मन; स्थिति के अनुकूल प्रकृति वातावरण का निर्माण करती है। कथामुखभाग में शिकारियों का झुण्ड आपस में जिस प्रकृति का उल्लेख करता है वह शिकार की घटना के अनुरूप वातावरण प्रस्तुत करती है और कभी प्रकृति का वातावरण पात्र की मनः स्थिति के अनुकूल बन जाता है।

कथा–वस्तु की शृंखला में प्राकृतिक घटनाओं की अवतारणा तभी सम्भव हो सकती है जब कथानक प्रकृति से घटना के रूप में सम्बन्धित हो। यह स्थिति वासवदत्ता और हर्ष चरित में नहीं मिलती। इनके कथानक प्रकृति से एक रूप नहीं हो सके हैं। परन्तु कादम्बरी की कथा–वस्तु प्रकृति से अति निकट से सम्बन्धित हे। उसकी कल्पना के प्रसार में घटना, पात्र और प्रकृति सब एक रस हो जाते हैं। वास्तव में कादम्बरी की कथा का अधिक भाग प्रकृति की गोद में अभिनीत हुआ है। इनके पात्रों में कुछ पशुपक्षी तथा गन्धर्व किन्नर आदि हैं। जिससे प्रकृति की स्थिति का वस्तु की घटना के रूप में अवतरित होना सहज है। कथा मुखभाग में शबरों की मृगया और वृद्ध शबर का पक्षि संहार प्राकृतिक घटनाएं हैं, जो कथा वस्तु के रूप में उपस्थित हुई है। मृगया की घटना का वर्णन बड़ा ही सजीव एवं मनोरम है। इस काव्य में प्रकृति वर्णन के चित्र अपने आप घटना जैसे प्रतीत होते हैं। वातावरण की सघन व्यंजना में प्रकृति का विस्तार कथा वस्तुओं का अंग बन जाता है।

मानव एवं प्रकृति के सहानुभूतिपूर्ण आत्मीय सम्बन्धों की कल्पना के लिए महाकवि को यत्र तत्र अवसर मिला है। कवि ने पंचवटी में प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों में राम और सीता के निवास की स्मृति दिलाकर इस स्नेहमय सम्बन्ध को व्यक्त किया है। बाण की कल्पना में आज की प्रकृति जो राम की स्मृति है और उनके वियोग में वह विषाद मग्न भी दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाला जाता है कि प्रकृति के समस्त रूपों के चित्रण में बाण अद्वितीय है। प्रकृति के वातावरण में प्रायः अभिनीत तथा प्राकृतिक पात्रों के जीवन से समन्वित यह कथा कवि की कल्पना शक्ति एवं अद्‌भुत प्रतिभा का विशद विवेचन प्रस्तुत करती है। प्रकृति मानव की सहचरी के समान प्रेरणा देती हुई प्रतीत होती है। उसके जीवन में इतनी घुलमिल गई हैं कि कहीं कहीं उसे पृथक् करके देखना भी कठिन सा प्रतीत होता है। यह बाण जैसे कुशल चित्रकार की अद्‌भुत तूलिका से ही सम्भव हुआ है। प्रकृति की मनोरम छटा सरस सहृदय हृदय संवेद्य मात्र है जिसे अनिर्वचनीय कहकर ही छोड़ दिया जा सकता है।

प्रकृति सौन्दर्य मानव की कलात्मक दृष्टि का फल है और कुछ अंशों में मानव में कलाकार की प्रवृत्ति रहती है। इस प्रकार प्रकृति-सौन्दर्य के विषय में मानव की मानवता अर्थात् प्रकृति का भाव पक्ष प्रधान प्रतीत होता है परन्तु उसके रूप–पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रकृति का रूप उसके सौन्दर्य का आधार है। यद्यपि रूप के लिए मानवीय मानस का होना आवश्यक है तथापि इस

रूप में प्रकृति का अपना योग मान्य है। इस रूप के आधार पर भाव क्रियाशील होता है और संचयन द्वारा सौन्दर्य की स्थापना करता है। इस प्रकार प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति में भाव और रूप की विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें यह कहना असम्भव हो जाता है कि प्रधान कौन है। वस्तुतः भाव और रूप का वैचित्र्य ही सौन्दर्य है।

मानवीय संस्कृति के इस युग में प्रकृति के प्रति साहचर्य की भावना में उसके सौन्दर्य का प्रबल आकर्षण है। यह सौन्दर्यानुभूति सम्वेदन शील व्यक्ति को ही हो सकती है। वह प्रकृति सौन्दर्य में अपनी व्यंजना शक्ति द्वारा अपनी अभिव्यक्तियों के प्रतिबिम्ब देखने में समर्थ होता है, जो साधारण व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। साधारण व्यक्ति और कलाकार में प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति के विषय में केवल मात्रा का भेद है। दोनों ही अपने लिए सौन्दर्य का सर्जन करते हैं केवल कलाकार में व्यापक और प्रत्यक्ष ग्रहण करने की प्रतिभा होती है, जिससे उसे अभिव्यक्ति की प्रेरणा मिलती है।

इस अभिव्यक्ति का प्रभाव आनन्द है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य व्यंजन की चमत्कार स्थिति में आनन्दानुभूति है। इसी से अनुभूत सौन्दर्य का तादात्म्य है। यही कारण है कि सहृदय एवं सरस व्यक्ति प्रकृति के सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करता है और उसकी चेतना में प्रकृति प्रसृत होकर सौन्दर्य तथा आनन्दमय बन जाती है।

सन्दर्भ

1. कादम्बरी पृ. 415-16
2. कादम्बरी पृ. 518-19
3. कादम्बरी पृ. 416
4. कादम्बरी पृ. 588
5. कादम्बरी पृ. 594
6. कादम्बरी पृ. 588-89
7. कादम्बरी पृ. 301
8. कादम्बरी पृ. 55-56
9. कादम्बरी पृ. 56-61
10. कादम्बरी पृ. 71-74

11. कादम्बरी पृ. 74
12. कादम्बरी पृ. 76
13. कादम्बरी पृ. 76-77
14. कादम्बरी पृ. 633-35
15. कादम्वरी पृ. 369-70
16. कादम्बरी पृ. 382-83
17. कादम्बरी पृ. 371-76
18. कादम्बरी पृ. 61-64
19. कादम्बरी पृ. 117-25
20. कादम्बरी पृ. 82
21. कादम्बरी पृ. 83-85
22. कादम्बरी पृ. 85-87
23. कादम्बरी पृ. 151-52
24. कादम्वरी पृ. 588-89
25. कादम्बरी पृ. 589
26. कादम्वरी पृ. 78-82
27. कादम्बरी पृ. 414-15
28. कादम्बरी पृ. 209-10
29. कादम्बरी पृ. 113-114
30. कादम्बरी पृ. 114-17

उपसंहार

प्रबन्ध में विविध स्थलों पर कादम्बरी का सर्वाङ्ग पूर्ण विवेचन किया गया है। सार रूप में यही प्रकट होता है कि बाण भट्ट वह उत्स है, जहां से अमृतमय जलधारा धीरे-धीरे अग्रसर होती हुई संस्कृत साहित्य को निरन्तर आप्लावित करती रहती है। बाण भट्ट के भावों, विचारों एवं आदर्शों की यह सरणि यहां से निकल कर परवर्ती युग के साथ समन्वय करती हुई काव्य–जगत् को आनन्दित करती रही है।

कादम्बरी का स्थान

कादम्बरी का कथा शिल्प एवं काव्य शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में उसका अनुपम लावण्य किस सहृदय को रसान्वित नहीं करता। यह न केवल बाण भट्ट की अपितु सम्पूर्ण गद्य काव्य की सर्वश्रेष्ठ कृति है। कल्पना की मौलिकता एवं उर्वरता, नूतन भावों की उदात्तता एवं मसृणता और भाषाधिकार सभी दृष्टि से वह अपूर्व है। इसमें सन्देह नहीं कि कथा पूर्णतः काल्पनिक एवं अतिवादी जीवन मान्यताओं पर आधारित है, पर उसके वर्णन क्रम में विभिन्न सामाजिक सन्दर्भों का चित्रण कवि बाण ने इतनी यथार्थता एवं जीवनानुभव समृद्धि के साथ किया है कि सम्पूर्ण काव्य कोरी कल्पना का विलास न रह कर जीवन का रमणीय चित्र पट बन गया है। वह बाण कालीन समाज की सौन्दर्याभिरुचि एवं सांस्कृतिक गतिविधि का एक सजीव चित्रण है।

कादम्बरी की सरस कथा में हृदय पक्ष का प्राधान्य है। कवि अपने पात्रों के अन्तस्तल में प्रवेश करता है और अवस्था विशेष में होने वाली उनकी मानसिक प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्म विश्लेषण करता है तथा उचित पद विन्यास के द्वारा उसे अभिव्यक्ति प्रदान करता है। पुण्डरीक के वियोग में महाश्वेता के हार्दिक भावों की रम्य अभिव्यक्ति बाण की ललित लेखनी का चमत्कार है। चन्द्रापीड के प्रथम दर्शन के अनन्तर स्वदेश लौट जाने पर कादम्बरी के भावों का चित्रण कवि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सुन्दर निदर्शन है। बाण की

दृष्टि में प्रेम भौतिक सम्बन्ध का नामान्तर नहीं, प्रत्युत वह जन्मान्तर में समुद्भूत आध्यात्मिक सम्बन्ध का परिचायक है। कादम्बरी कोरी कल्पना क्रीडा न होकर विस्मृत अतीत तथा जीवित वर्तमान की स्मृति के द्वारा एक सूत्र में आबद्ध करने वाली प्रणय कथा है।

बाण की गद्य–शैली उनके अपने आदर्शों के अनुरूप है। वे उस काव्य शैली को आदर्श मानते हैं, जिसने मौलिक कल्पनाओं, सुरुचि पूर्ण स्वभावोक्तियों, अक्लिष्ट श्लेषों, स्पष्ट रूप से प्रतीयमान रसों एवं दृढ बन्ध पदावली की एक साथ सफल योजना की गयी हो। साथ ही उसमें दो गुण और होने चाहिये दूसरे के मनोभावों का याथातथ्य चित्रण एवं निरन्तर अभिनव अर्थों की योजना इस काव्य-शैलो के निकष पर बाण की रचना पूर्णतः सही उतरती है। उनकी निरूपण शैली में शब्द और अर्थ भाषा और भाव का रुचिर सामंजस्य परिलक्षित होता है। कादम्बरी की वर्णन-विविधता अपूर्व एवं अनुपम है। बाण भट्ट के गुणों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करते हुए पण्डित समाज ने कहा; 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'। इसका आशय यह है कि बाण भट्ट में संस्कृत गद्य, गद्य-शैली एवं गद्य-काव्य का चरम विकास दृष्टिगोचर होता है उसके बाद उस उत्कृष्टता तक पहुँचने वाला कोई अन्य गद्यकार नहीं हुआ। परवर्ती गद्यकार बाण भट्ट की रचना को आदर्श मानकर उनका अनुगमन करते हुए अपनी रचना करते रहे।

धनपाल ने कादम्बरी के अनुकरण पर, ओजस्विनी एवं प्रवाह पूर्ण भाषा में तिलक मंजरी लिखने का प्रयास किया जिसका पण्डित समाज में अधिक आदर हुआ। वादीभ सिंह की गद्य चिन्तामणि पर बाण की कादम्बरी का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। उन्होंने कथात्मक रीति एवं भाषा भंगिमा में महाकवि बाण को अपना आदर्श माना है। राजा वेमभूपाल न केवल कवियों के आश्रय दाता थे स्वयं भी सरस्वती के उपासक थे। इन्हीं के सभा-पण्डित वत्स गोत्रीग कविवर वामन भट्ट बाण ने 'वेमभूपाल चरित' में अपने आश्रयदाता वेम भूपाल के चरित को हर्ष चरित की शैलो में प्रस्तुत करने का श्लाघ्य प्रयास किया है।

अतः यह स्पष्ट है कि परवर्ती गद्य-साहित्य पर बाण भट्ट का प्रभाव स्पष्ट एवं निर्विवाद है।

कादम्बरी में युगदर्शन

कादम्बरी तत्कालीन युग की भारतीय विचार धारा का पूर्णरूप से प्रतिनिधित्व करती है। इसमें बाण कालीन धारणाओं, मान्यताओं, उद्भावनाओं एवं दर्शन के जिन उदात्त तत्त्वों का दिक्दर्शन कराया गया है तथा मनो-

विज्ञान के आधार पर मानवता का जो जित्र प्रस्तुत किया गया है वह युग की विचारधारा एवं प्रगतिशील भावनाओं को लक्ष्य में रख कर किया गया है।

महा कवि ने मानव-जीवन के गहनतम विचारों का चित्र उपस्थित करते हुए जीवन के शाश्वत सत्यों का उद्घाटन कर भारतीय आदर्श के प्रेय एवं श्रेय दोनों रूपों को प्रतिष्ठित किया है।

बाण की रचनाओं में जीवन-सन्देश

विश्व के सभी वाङ्मय युग-युग की संचित सम्पत्ति के भण्डार होते हैं। उनका निर्माण मानव जीवन के आधार पर होता है तथा उनका उद्देश्य दुर्बल, पतित एवं आपत्तिग्रस्त मानवता को सशक्त, उन्नत एवं आनन्दमय बनाना होता है। यही कारण है कि प्रत्येक काव्य में मानव मात्र के लिए जीवन-सन्देश अन्तर्निहित रहता है और वे काव्य उस सन्देश के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का मार्ग-दर्शन करते हुए मानव जीवन को कल्याण मय बनाने का प्रयत्न करते हैं। अन्य काव्यों के समान बाण की रचना में भी मानव के लिए जीवन सन्देश उपलब्ध होते हैं। उनकी यह धारणा है कि दुःखों से सन्त्रस्त होकर संसार से भागने की आवश्यकता नहीं वह तो ईश्वर का रहस्यमय वरदान है दुःख और सुख का तो निरन्तर आवागमन होता रहता है। अतः दुःखों की चिन्ता न कर अपने पथ पर अग्रसर होते रहना ही जीवन का अमर सन्देश है। ये काव्य मानव मात्र को कर्मण्यता एवं कर्मनिष्ठता का सन्देश देते हैं तथा यह भी प्रतिपादन करते हैं कि निरन्तर कर्मशील रह कर ही मानव जीवन का विकास करता हुआ अखण्ड सुख और समृद्धि का स्वामी बन सकता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

संख्या	लेखक का नाम	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशक
1.	अरस्तू	पोइटिक्स	लन्दन
2.	अप्पय दीक्षित	वृत्ति वार्तिक (काव्यमाला)	निर्णय सागर प्रेस
3.	अप्पय दीक्षित	कुवलयानन्द	चौखम्वा, काशी वि. 2012
4.	अभिनव गुप्त	अभिनव भारती	गायकवाड सीरीज; 1954 ई.
5.	अप्पय दीक्षित	चित्र मीमांसा	निर्णय सागर प्रेस, 1941 ई.
6.	अभिनव गुप्त	लोचन	चौखम्वा, बनारस, 1997 उ.
7.	ए.ए. मैकडोनल	ए हिस्त्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर	लन्दन
8.	ए. शंकरन्	दी सीरीज ऑफ रसाज एण्ड ध्वनि	मद्रास
9.	आनन्द वर्धन	ध्वन्यालोक	गौतम बुक डिपो 1952 ई.
10.	आनन्द प्रकाश दीक्षित	सौन्दर्य तत्त्व	इलाहवाद 2017 वि.
11.	उद्भट	काव्यालंकार सार संग्रह	निर्णय सागर प्रेस 1958
12.	ओम् प्रकाश	हिन्दी अलंकार साहित्य	दिल्ली 1955 ई.
13.	कर्णपूर	अलंकार कौस्तुभ	बंगाल 1934 ई.
14.	कन्हैया लाल पोद्दार	संस्कृत साहित्य का इतिहास	
15.	कालिदास	रघुवंश	
16.	कालिदास	अभिज्ञान शाकुन्तल	निर्णय सागर प्रेस
17.	कालिदास	मेघदूत	
18.	कुन्तक	वक्रोक्ति जीवितम्	आत्माराम एण्ड सन्स 2012 वि.

संख्या	लेखक का नाम	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशक
19.	केशव मिश्र	अलंकार शेखर	निर्णय सागर प्रेस 1926 ई.
20.	गुलाबराय	सिद्धान्त और अध्ययन	
21.	जगन्नाथ	रस गंगाधर	चौ. बनारस 2011 वि.
22.	जय देव	चन्द्रालोक	चौखम्बा बनारस, 1938 ई.
23.	दण्डी	काव्यादर्श	दिल्ली 1958 ई.
24.	दुर्गाचार्य	यास्क निरुक्तम्	भिवानी 1983 वि.
25.	देवशंकर	अलङ्कार मन्जूषा	ओरियेण्टल मेन्यूस्कृप्ट लाईब्रेरी
26.	धनञ्जय	दशरूपक	चौ. बनारस 2011 वि.
27.	नभिसाधु	काव्यालङ्कार टीका	
28.	नगेन्द्र	भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका	दिल्ली
29.	नगेन्द्र	भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा	
30.	नगेन्द्र	रस सिद्धान्त	
31.	नगेन्द्र	वक्रोक्ति जीवितम्	
32.	नन्दिकेश्वर	अभिनव दर्पण	कलकत्ता संस्कृत सीरीज
33.	नृसिंह	अलंकार सार	
34.	पाणिनि	अष्टाध्यायी	
35.	पी. बी. काणे	हिस्त्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स	1951 ई.
36.	बलदेव उपाध्याय	भारतीय साहित्य शास्त्र	काशी, 1950
37.	बलदेव उपाध्याय	संस्कृत साहित्य का इतिहास	काशी, 1948
38.	बाण भट्ट	कादम्बरी	चौखम्बा, बनारस, 1971
39.	बाण भट्ट	कादम्बरी	निर्णय सागर प्रेस 1943 ई.
40.	बाण भट्ट	हर्ष चरित	कलकत्ता 1892
41.	भट्टि	भट्टि काव्य	
42.	भरत	नाट्य शास्त्रम्	निर्णय सागर प्रेस 1943 ई.
43.	भवभूति	उत्तर राम चरितम्	वाराणसी 1955 ई.

संख्या	लेखक का नाम	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशक
44.	भानुदत्त	रस तरङ्गिणी	मुम्बई 1958 ई.
45.	भानुदत्त	रस मञ्जरी	बनारस 1951 ई.
46.	भामह	काव्यालंकार	बनारस 1985 वि.
47.	भोज	शृंगार प्रकाश	सम्पादक–जायसर, 1955 ई.
48.	भोज	सरस्वती कण्ठाभरणम्	कलकत्ता, 1894
49.	भोलाशंकर व्यास	ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त	काशी, 2013 वि.
50.	मम्मट	काव्य प्रकाश	ज्ञान मण्डल 2017 वि.
51.	मम्मट	काव्य प्रकाश	जोधपुर 2016
52.	महिम भट्ट	व्यक्ति विवेक	बनारस 1993 वि.
53.	यास्क	निरुक्त	चौखम्बा, बनारस
54.	राजशेखर	काव्य मीमांसा	बड़ोदा 1934 ई.
55.	रामचन्द्र शुक्ल	रस मीमांसा	काशी 2006 वि.
56.	राकेश गुप्त	साइकोलोजीकल स्टडी इन रसाज	बनारस 1950 ई.
57.	राम गोविन्द त्रिवेदी	वैदिक साहित्य	काशी, 1950 ई.
58.	रुद्रट	काव्यालंकार	निर्णय सागर प्रेस 1928 ई.
59.	रुय्यक	अलंकार सर्वस्व	निर्णय सागर प्रेस 1939 ई.
60.	वाग्भट	वाग्भटालंकार	कलकत्ता, 1917 ई.
61.	वाग्भट	काव्यानुशासनम्	निर्णय सागर प्रेस, 1915 ई.
62.	वामन	काव्यालंकार सूत्र	निर्णय सागर प्रेस 1953 ई.
63.	वाल्मीकि	रामायण	
64.	वात्स्यायन	कामसूत्र	चौखम्बा, बनारस
65.	विद्याधर	एकावली	होशियारपुर
66.	विद्यानाथ	प्रतापरुद्रीय यशोभूषणम्	मद्रास, 1950 ई.
67.	विश्वनाथ	साहित्य दर्पण	दिल्ली, 2013 वि.
68.	विश्वेश्वर	अलंकार प्रदीप	चौखम्बा, बनारस, 1923 ई.
69.	वी. राघवन्	दी नम्बर ऑफ रसाज	मद्रास, 1940 ई.
70.	वी. राघवन्	सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ दी अलंकार शास्त्र	

संख्या	लेखक का नाम	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशक
71.	वैद्यनाथ सूरी	अलंकार चन्द्रिका	होशियारपुर
72.	व्यास	अग्नि पुराण	कलकत्ता, 1957 ई.
73.	व्यास	महाभारत	
74.	शारदातनय	भाव प्रकाशन	बड़ोदा, 1930
75.	शोभाकरमिश्र	अलङ्कार रत्नाकर	पूना, 1942 ई.
76.	एस. एन. दास गुप्त	हिस्त्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर	कलकत्ता, 1947 ई.
77.	सुशील कुमार दे	संस्कृत पोइटिक्स	द्वितीय भाग, कलकत्ता, 1950 ई.
78.	सुबन्धु	वासवदत्ता	
79.	क्षेमेन्द्र	औचित्य विचार चर्चा	निर्णय सागर प्रेस, 1929 ई.
80.	क्षेमेन्द्र	कविकण्ठाभरणम्	निर्णय सागर प्रेस, 1929 ई.

कोश ग्रन्थ

संख्या	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशक
81.	अमर कोश	चौखम्बा, बनारस
82.	वाचस्पत्यम्	चौखम्बा, प्रकाशन
83.	संस्कृत अंगेजी कोश	आप्टे

————
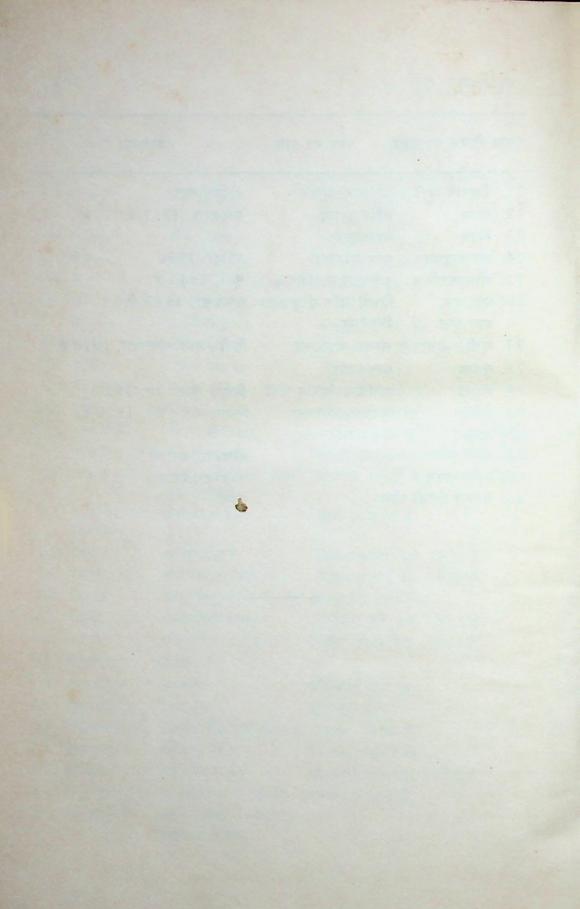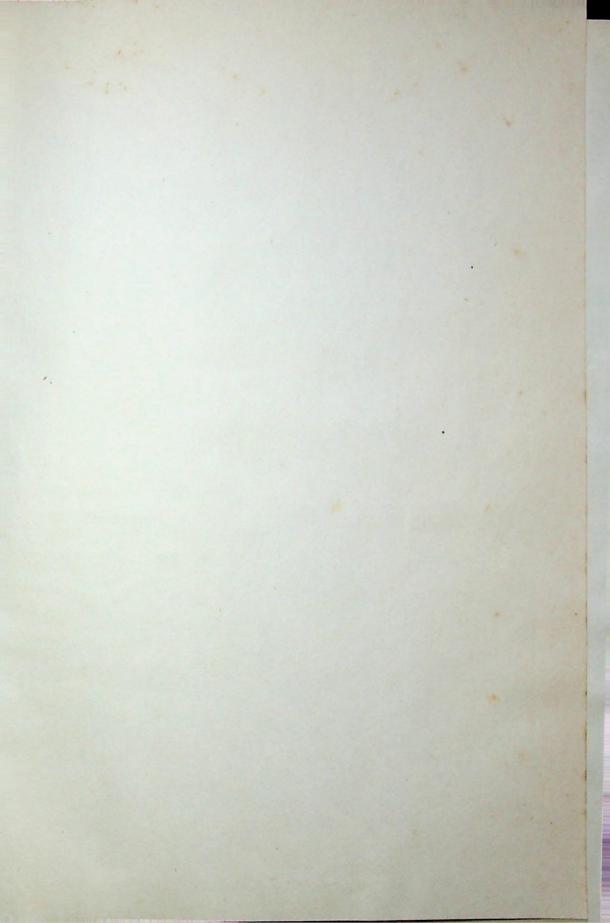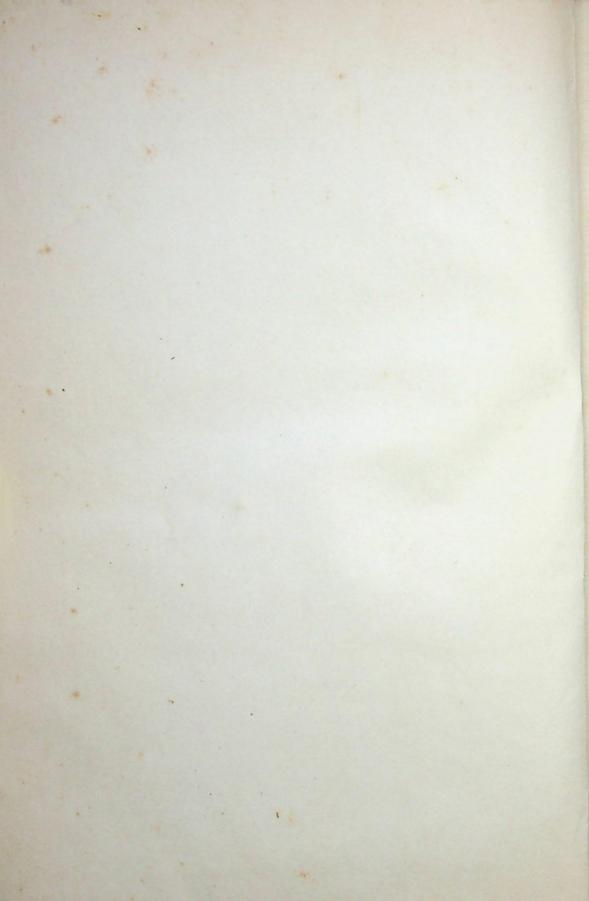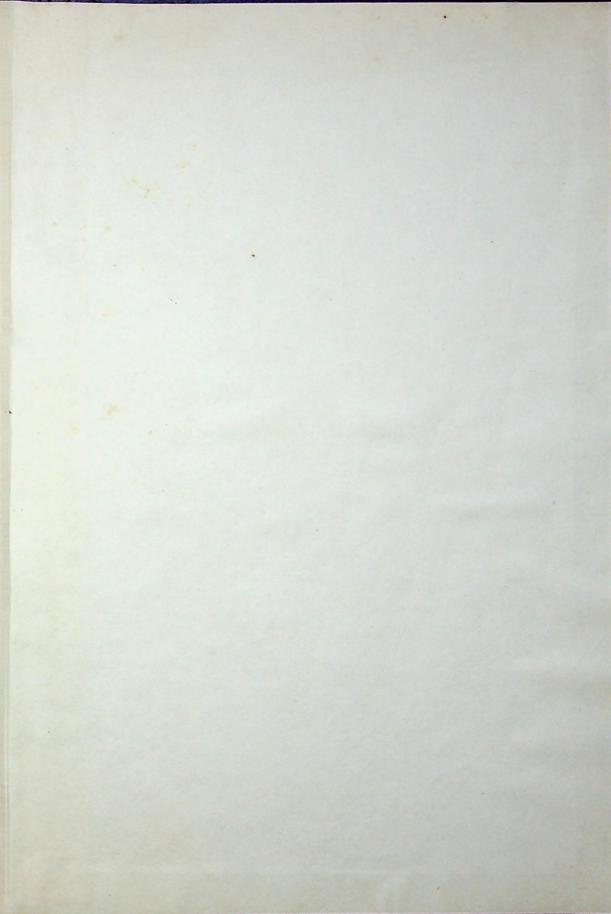
अन्य प्रकाशित ग्रन्थ

जयपुर की संस्कृत साहित्य को देन	डॉ. प्रभाकर शास्त्री	Rs. 375.00
पं हरिप्रसाद कृत काव्यालोक (व्याख्याकार सम्पादक)	डॉ. रमा गुप्ता	Rs. 350.00
राजाभोज का रचना विश्व	डॉ. भगवती लाल राजपुरोहित	Rs. 600.00
Works of Panditraj Jagannath's Poetry	Kalanath Shastri	Rs. 100.00
महाकवि हाल और गाहासत्तसई	डॉ. हरिराम आचार्य	Rs. 120.00
तिलक-मंजरी	डॉ. पुष्पा गुप्ता	Rs. 180.00
अट्ठारहवीं शती के संस्कृत रूपक	डॉ. बी. एल. नागार्च	Rs. 400.00
Shiva Mahimnah Stotram	G. N. Bahura	Rs. 95.00
जीवानन्द विद्यासागरीय टीका वाग्भटालङ्कार (व्याख्या एवं समीक्षा)	डॉ. रेखा जोशी	अतिशीघ्र
कादम्बरी का काव्य शास्त्रीय अध्ययन	डॉ. राजेश्वरी भट्ट	Rs. 350.00

अन्य प्राप्ति-स्थान

शरण बुक डिपो

प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता

गलता रोड़, जयपुर